संस्कृत विद्यापीठ ग्रन्थ माला का 106 वाँ पुष्प

शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य

प्रो. रमेश कुमार पाण्डेय
कुलपति

लेखक
प्रो. रमेश प्रसाद पाठक
एवं
डॉ. अमिता पाण्डेय भारद्वाज

श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ
(मानित विश्वविद्यालय)
नई दिल्ली-110016

संस्कृत विद्यापीठ ग्रन्थमाला का 106वाँ पुष्प

शिक्षा के दार्शनिक

एवं

समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य

लेखक

प्रो. रमेश प्रसाद पाठक

विभागाध्यक्ष एवं संकायप्रमुख शिक्षा संकाय

एवं

डॉ. अमिता पाण्डेय भारद्वाज

सह आचार्या शिक्षा संकाय

श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्

(मानित विश्वविद्यालय)

नई दिल्ली-16

नैवेद्यम्

शिक्षा मानव के विकास का आधार है। सुशिक्षा द्वारा ही विद्यार्थियों का सर्वांगीण विकास सुनिश्चित किया जा सकता है। यह सतत विकास की प्रक्रिया है जो जन्म से मृत्यु तक चलायमान रहती है। **'शिक्षया आप्नोति सर्वम्'** इस सूक्ति के अनुसार शिक्षा ही समस्त वैश्विक विभूतियों की जननी है। यह ऐसी प्रक्रिया है जो आत्मानुसंधान और प्रविधि के निरन्तर संगम से अग्रसारित होती रहती है।

शिक्षा जीवन का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है यह जीवन से अलग नहीं, अपितु संयुक्त है। जीवन के मूलभूत प्रश्नों की उचित व्याख्या दर्शन करता है इसलिए दर्शन और शिक्षा दोनों सहज भाव से एक दूसरे के साथ अनन्य रूप से जुड़े हुए हैं। शिक्षा-दर्शन शिक्षा की समस्याओं पर तर्कपूर्ण चिन्तन करता है और उनका तर्क सम्मत समाधान ढूँढ़ता है। दर्शन स्पष्ट करता कि शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यक्रम और शिक्षण विधियाँ क्या होनी चाहिएँ? आदि अनेक शैक्षिक प्रश्नों का उत्तर तार्किक ढंग से दर्शन प्रस्तुत करता है। शिक्षा का समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य समाज की शैक्षिक पहलुओं से अवगत कराता है। प्राचीन भारतीय शिक्षा में जीवन के लौकिक एवं पारलौकिक दोनों पक्षों का पर्याप्त समन्वय था लेकिन आज शिक्षा का अत्यधिक भौतिकीकरण मानवता के लिए घातक सिद्ध हो रहा है इसलिए इस संक्रमण काल में हमें ऐसी शिक्षा व्यवस्था की आधारशिला निर्मित करनी है जो हमारी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ-साथ हमारी राष्ट्रीय अखण्डता, सांस्कृतिक व सामाजिक समरसता और एकता को अक्षुण्ण रख सके तथा भविष्य की चुनौतियों का सामना करते हुए देश में रचनात्मक नव परिवर्तन ला सकें। इस पुस्तक का लेखन इन्हीं ज्वलन्त प्रश्नों का समाधान खोजने का एक लघु प्रयास है।

प्रस्तुत पुस्तक शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य के आवश्यक, मूलभूत तत्त्वों को दृष्टि में रखकर समाहित किया गया है। नि:सन्देह द्वि वर्षीय शिक्षाशास्त्री पाठ्यक्रम को ध्यान में रखकर यह पुस्तक लिखी गई है जो भावी शिक्षाशास्त्र के शिक्षार्थियों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी। इस पुस्तक के प्रकाशन से न केवल शिक्षा संकाय अपितु समग्र विद्यापीठ तथा समग्र शिक्षा जगत् का मार्गदर्शन होगा। मैं इस पुस्तक के लेखकों को बधाई देता हूँ तथा यह ग्रन्थ पुष्प अर्पित करते हुए अपने को कृत्य-कृत्य मानता हूँ।

प्रो. रमेश कुमार पाण्डेय
कुलपति

पुरोवाक्

शिक्षणं विद्याग्रहणमिति विद्योपादानमित्यपि केचित् वदन्ति। शिक्षा-शब्दस्य तात्पर्यं श्योनाकवृक्षोऽपि भवति। वेदानां षडङ्गानि भवन्ति तेष्वन्यतमा शिक्षा वर्तते। अत एव वेदाङ्गशास्त्रविशेषः शिक्षा। यथोक्तम्–

शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरूक्तं ज्योतिषां गणः।
छन्दो विचितिरित्येतैः षडङ्गो वेद उच्यते।।

शिक्षायामकारादिवर्णानां स्थलकरणप्रयत्नबोधिका अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्या इत्यादिका शिक्षा। केचन वदन्ति त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते भवन्ति शम्भुरेव शिक्षाया प्रवर्तको विद्यते। पाणिनी शिक्षापि प्रसिद्धो विद्यते। दाक्षीपुत्रेण पाणिनिना येनेदं व्यापितं भुवि विद्यते। शिक्षावेदाङ्गविषये उक्तं विद्यते–

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोतमुच्यते।।

शिक्षा घ्राणन्तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।।

सा एव शिक्षा समीचीना विद्यते येन सत्यस्य ज्ञानं प्रियं हितञ्च स्यादिति। अत एवोच्यते–

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितञ्च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनञ्चैव वाङ्मयं तप उच्यते।।

शिक्षायाः प्रयोजनं विद्यते तत्त्वानां ज्ञानं वा आत्मज्ञानमिति। आत्मज्ञानेन ब्रह्मणः आनन्दस्वरूपस्य ज्ञानं भवति। अत एव उपनिषदि उक्तम्–

''यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कदाचनेति''।

''ऋतं वदिष्यामि'' ''सत्यं वदिष्यामि'' इत्यनेन गुरोः वाक्यार्थं सूचितमिति। आचार्यः पूर्वरूपं भवति अन्तेवासी उत्तररूपम्, विद्यासंधिश्च भवति प्रवचनमेव सन्धानमिति तैत्तिरीयोपनिषदिति। यो हि गुर्वादीन् सन्ततम् उपचरति स उपास्ते इत्युच्यते। अत एवोच्यते वेदेत्युपासनं स्याद् विज्ञानाधिकारादिति। शिक्षायाः दार्शनिकं समाजशास्त्रीयपरिप्रेक्ष्यञ्चेति शीर्षकमाश्रित्य आचार्येण रमेशप्रसादपाठकेन डॉ. अमितापाण्डेयया च पुस्तकं प्रकाशितमिति। एतत्पुस्तकं शिक्षाशास्त्रस्य अध्यापकानामन्तेवासिनाञ्च कृते महदुपकारकं भविष्यतीति मन्ये। एतान् एताश्च प्रति कार्तज्ञ्यं वितीर्य विरमामि।

प्रो. हरेराम त्रिपाठी
मानविकी-आधुनिकज्ञानं शोधविभागाध्यक्षश्च

प्राक्कथन

शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है, जो मानव का सर्वाङ्गीण विकास करती है, यह नैतिक चरित्र का भी निर्माण करती है। सर्वोच्च शिक्षा वह है, जो हमें केवल सूचनाएँ ही नहीं देती वरन् हमारे जीवन और सम्पूर्ण सृष्टि में तादात्म्य स्थापित करती है। शिक्षा का विकास बदलते समय के साथ विविध नवाचार और उसकी प्रक्रिया के साथ हो रहा है। परिवर्तन की माँग और परिवर्तन की प्रक्रिया शिक्षा के यन्त्रीकरण के साथ सम्बद्ध होकर निरन्तर गतिशील है। यन्त्रीकरण के तीव्र विकास से आज मानव अपने आप से दूर होता जा रहा है। शिक्षा, दर्शन और समाजशास्त्र मानव को उसके अस्तित्व और समाज से जोड़ने का प्रयास करते हैं। जहाँ दर्शन चिन्तन को आधार प्रदान करता है, वहीं समाज मानव को सामाजिक बनने पर बल देता है।

इस पुस्तक में शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य के महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक तत्त्वों को सम्मिलित करने का प्रयास किया गया है। पुस्तक को चौदह अध्यायों यथा - शिक्षा की प्रकृति, शिक्षा का दार्शनिक परिप्रेक्ष्य, शिक्षा का समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य, पर्यावरण शिक्षा, जनसंख्या शिक्षा, राष्ट्रीय विकास और शिक्षा, राष्ट्रीय एकता और शिक्षा, अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना और शिक्षा, समानता और शिक्षा, मूल्य शिक्षा, नैतिक शिक्षा, मानवीकरण और शिक्षा, चरित्र निर्माण और शिक्षा तथा भविष्योन्मुखी शिक्षा आदि में समेकित किया गया है। पुस्तक के प्रणयन में जिन पुस्तकों, अनुसंधानकर्त्ताओं के लेखों और विद्वज्जनों तथा शिक्षाविदों के विचारों को उपस्थापित किया गया है, उनके प्रति हम अपना आभार व्यक्त करते हैं। पुस्तक की पाण्डुलिपि को पढ़कर उसकी त्रुटियों को दूर करने में डॉ. सुरेन्द्र महतो, आरती शर्मा, डॉ. प्रदीप कुमार झा, डॉ. चेतन वेदिया का विशेष योगदान रहा है उनके प्रति धन्यवाद

व्यक्त करते हैं। पुस्तक के प्रकाशन में कुशलता और तत्परता का परिचय देने के लिए शोध विभाग के डॉ. ज्ञानधर पाठक के विशेष आभारी हैं।

उक्त ग्रन्थ के प्रकाशन में विद्यापीठ के अधिकारियों, कर्मचारियों विशेष रूप से प्रकाशन विभाग का आभार प्रकट करते हैं, जिनके सहयोग से यह पुस्तक प्रकाशित होकर आप तक पहुँच सभी है। इसके सुन्दर टंकण एवं मुद्रण हेतु अमर प्रिंटिग प्रेस के सञ्चालक श्री हीरालाल जी का आभार प्रकट करते हैं, जिनकी तत्परता से इसका मुद्रण समय पर हो सका।

शिक्षा-प्रशिक्षण संस्थानों के अध्ययनरत शिक्षार्थियों, शिक्षकों के लिए यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी। ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है। पुस्तक संशोधन और परिमार्जन के लिए जागरूक पाठकों के उचित एवं बहुमूल्य सुझावों का स्वागत है।

20 जनवरी 2017
नई दिल्ली

प्रो. रमेश प्रसाद पाठक
एवं
डॉ. अमिता पाण्डेय भारद्वाज

अनुक्रम

नैवेद्यम् iii

पुरोवाक् v

प्राक्कथन vii

1. शिक्षा की प्रकृति 1
2. शिक्षा का दार्शनिक परिप्रेक्ष्य 65
3. शिक्षा का समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य 124
4. पर्यावरण शिक्षा 201
5. जनसंख्या शिक्षा 222
6. राष्ट्रीय विकास और शिक्षा 239
7. राष्ट्रीय एकता और शिक्षा 257
8. अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना और शिक्षा 271
9. समानता और शिक्षा 279
10. मूल्य शिक्षा 289
11. नैतिक शिक्षा 298
12. मानवीकरण और शिक्षा 310
13. चरित्र निर्माण और शिक्षा 326
14. भविष्योन्मुखी शिक्षा 339

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची **349**

[1]
शिक्षा की प्रकृति
(Nature of Education)

शिक्षा का अर्थ
(Meaning of Education)

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में सदैव कुछ न कुछ खोजने का प्रयास करता रहता है। क्योंकि मानव की प्रवृत्ति शिक्षा से निर्मित होती है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसका प्रतिफलन मानव प्राणी है, अर्थात् मानवीय प्रवृत्ति शिक्षा प्रदत्त है। मानव मस्तिष्क और आत्मा से समन्वित एक शरीर है जिसकी तीन प्रमुख प्रवृत्तियाँ होती हैं– इच्छा करना, अनुभव करना तथा तर्क करना। वह अपने बौद्धिक और आध्यात्मिक गुणों के कारण अन्य प्राणियों से भिन्न व श्रेष्ठ है। सामाजिक प्राणी होने के नाते वह समाज में रहते हुए जीविका के साधनों का विकास भी करता है तथा जिनके नवीन सिद्धांतों की सतत् खोज में लगा रहता है। शिक्षा प्रक्रिया मानव की शक्ति, बुद्धि, कार्यकुशलता तथा प्राकृतिक क्षमताओं के सम्पूर्ण विकास में सहायक होती है। शिक्षा एक ऐसा व्यवस्थित शास्त्र है जो मानव के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में अनुकूलित वातावरण का निर्माण करता है। प्रगति ही जीवन है जो शिक्षा से ही सम्भव है शिक्षा सांस्कृतिक विकास की भी प्रक्रिया है। यह संस्कृति का विकास, नवीनीकरण और संरक्षण करती है।

शिक्षा की अवधारणा
(Concept of Education)

शिक्षा से तात्पर्य है–ज्ञान और शक्ति, अधिगम और सीख, मानव और समाज का विकास तथा अच्छे विश्व का निर्माण करना। शिक्षा इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु एक सर्वोत्तम उपकरण है। शिक्षा अकादमिक विषय के रूप में बच्चों को शिक्षित करती है तथा प्रौढ़ों को

निर्देश देती है। शिक्षा से सामाजिक तथा व्यक्तिगत जीवन में गुणों का विकास होता है तथा जीवन में प्रगति करने की प्रेरणा मिलती है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है, जो विद्यार्थी के सर्वांगीण विकास तथा आजीवन सुखद परिवेश के निर्माण में सहायता करती है। यह सम्पूर्ण जीवन-जीने की एक प्रक्रिया है, जिससे सीखने और प्रगति करने की सशक्त जिज्ञासा बनी रहती है। शिक्षा व्यक्ति को प्रासंगिक तत्त्वों का ज्ञान भी कराती है। इसके विविध आयाम हैं जिनमें उदार शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा तकनीकी शिक्षा, नैतिक शिक्षा, धार्मिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा, विशेष शिक्षा, औपचारिक, अनौपचारिक व औपचारिकेतर शिक्षा, जीवन शिक्षा, इत्यादि प्रमुख हैं।

शिक्षा और प्रशिक्षण
(Education and Training)

शिक्षा व्यक्ति का सर्वांगीण विकास करती है। प्रशिक्षण से शिक्षार्थी की विशिष्ट कार्यकुशलता की क्षमता में विकास होता है और वह कुशलता की पूर्णता की ओर अग्रसर होता है। प्रशिक्षण में सतत् एवं गहन अभ्यास की आवश्यकता होती है। प्रशिक्षण सतत् अभ्यास की पूर्णता को प्राप्त करने का सर्वश्रेष्ठ माध्यम है। प्रशिक्षण का प्रारम्भिक सम्बन्ध व्यावसायिक क्षमता के विकास से है। अर्थात् प्रशिक्षण मानव के मनोकार्य को सर्वाधिक निपुण और क्रियाशील बनाता है। दूसरी तरफ शिक्षा व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन की सुरक्षा तथा विकास करती है। अतः शिक्षा की संकल्पना व्यापक है, जिसमें प्रशिक्षण अपने सीमित स्वरूप में विद्यमान रहता है। प्रशिक्षण व्यक्ति की कुशलता एवं क्षमता मात्र की ओर केन्द्रित होता है जबकि शिक्षा इससे आगे बढ़कर सिद्धांत एवं व्यवहार से सम्बन्धित ज्ञान की भी विस्तृत रूप से व्याख्या करती है।

शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति और उसके परिवेश को विकसित करना है। प्रशिक्षण का उद्देश्य तकनीकी और शारीरिक कुशलता और क्षमता को व्यावहारिक रूप में प्रतिष्ठित करना है। शिक्षा की उदार प्रकृति होती है। प्रशिक्षण की प्रकृति तकनीकी और व्यावसायिक

कुशलता की व्यावहारिकता की ओर उन्मुख होती है। इससे तकनीकी एवं कार्यकुशलता की क्षमता विकसित होती है जो व्यावहारिक प्रगति के परिणाम-मूलक स्वरूप की ओर संकेत करती है। प्रशिक्षण का सम्बन्ध व्यक्ति के कार्य अनुभव और कुशलता से है तथा शिक्षा का सम्बन्ध व्यक्ति के सम्पूर्ण ज्ञान के विकास से है। शिक्षा प्रारम्भिक रूप में सिद्धांतों का निर्माण करती है। प्रशिक्षण से तकनीशियनों और व्यावसायियों को उनके क्षेत्र में विशेषज्ञता की ओर ले जाने का प्रयास किया जाता है। अत: सैद्धांतिक और व्यावहारिक प्रशिक्षण के समन्वय से ही उच्च व्यावसायिक शिक्षा की प्राप्ति हो सकती है।

शिक्षा और निर्देशन
(Education and Guidance)

निर्देशन प्रक्रिया शिक्षक मूलक होती है जिसमें शिक्षार्थी को प्रत्यक्ष रूप से सम्बोधित किया जाता है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण विद्यालय में 'हरबर्टियन'[1] निर्देशन प्रतिबन्ध या पाठ योजना है। इस पाठ योजना के पाँच स्तर-तैयारी, प्रस्तुति, तुलना, आत्मसात् करना तथा सामान्यीकरण हैं। परीक्षा के लिए शिक्षक द्वारा प्रत्यक्ष शिक्षण से भी निर्देशन का स्वरूप सामने आता है। परीक्षोन्मुख पद्धति होने के कारण शिक्षक के लिए पाठ्यक्रम से इधर-उधर जाने की गुंजाइश नहीं रहती। इससे शिक्षार्थी को स्वतंत्र चिन्तन या अधिगम की स्वतंत्रता नहीं मिलती। इससे अधिगम में यान्त्रिक गहनता तथा निर्देशित तथ्य, नियमों, सिद्धांतों का प्रत्यारोपण होता है तथा स्वविवेक या स्वचिन्तन से सीखने की प्रवृत्ति का विकास सीमित रहता है।

यद्यपि जनतांत्रिक संस्थाओं में भी निर्देशन प्रणाली के कुछ तत्व दृष्टिगोचर होते हैं, फिर भी इनका सीमित उपयोग ही होता है। कोई भी अधिगम, अनुभव या विधि पूर्णत: निर्देशहीन प्रणाली पर आधारित नहीं है। निर्देशन प्रक्रिया अधिगम की दृढ़ता या अधिगम की विवशता पर बल देती है जो कि शिक्षार्थी के सर्वांगीण विकास के प्रतिकूल है। इसे

शिक्षार्थियों की आवश्यकता और प्रासंगिक तत्त्वों के अनुकूल होना चाहिए। अधिकांश विद्यालयों और महाविद्यालयों एवं शिक्षण संस्थाओं में निर्देशन व्यवस्था में शिक्षार्थियों को बताया जाता है कि उन्हें क्या पढ़ना है और वे क्या पढ़ें? उनकी रुचि और जिज्ञासा को समझे बिना प्रासंगिक शिक्षा की अवहेलना की जाती है। निर्देशन से कक्षा में व्यक्त तथ्यों की सीमा बढ़ जाती है जो कालान्तर में जीवन के लिए प्रासंगिक नहीं हो पाते। वस्तुतः शिक्षा व्यक्ति का सर्वांगीण विकास करती है तथा उसकी आवश्यकता, रुचि, जिज्ञासा और बौद्धिक क्षमता को सतत् बढ़ाती है।

शिक्षा और विद्यालयीकरण
(Education and Schooling)

शिक्षा में विद्यालय की संकल्पना महत्त्वपूर्ण है। इसके केन्द्र में यह भावना विद्यमान है कि विद्यालय जीवन में सफलता प्राप्त करने का उपकरण है। यह बच्चों को क्रियाशील बनाती है। यह विश्वास किया जाता है कि बच्चा निर्बोध पैदा होता है। उसमें बोधात्मक क्षमता विकसित करने के लिए निर्देशन, प्रशिक्षण एवं विद्यालयी शिक्षा की आवश्यकता होती है ताकि वह परिपक्व व्यक्ति बनने की ओर अग्रसर हो सके अतः विद्यालय से अर्थवान् जीवन का निर्माण होता है। इसका अभिप्राय है विद्यालय ही जीवन निर्माण का माध्यम है जो विद्यालय और महाविद्यालय की शैक्षिक गतिविधियों पर निर्भर है। वस्तुतः विद्यालयी शिक्षा वह सुव्यवस्थित प्रक्रिया है जो प्रारम्भिक, उच्चतम और तृतीय स्तरीय शिक्षा के रूप में परिपूर्ण होती है। मानव जीवन के विकास का प्रथम चरण है बच्चों के बौद्धिक विकास में विद्यालय परम्परागत रूप से विद्यालय के माध्यम से प्रारम्भिक भाषा और साहित्य तथा विज्ञान की सामान्य जानकारी दी जाती है जो कालान्तर में उनकी बौद्धिक क्षमता को चरमोत्कर्ष तक पहुँचाती है।

सम्पूर्ण जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए ज्ञान आवश्यक है। इससे उच्च अध्ययन के विभिन्न क्षेत्रों की नींव मजबूत होती है। आधुनिक विद्यालय की परिकल्पना व्यापक है जिनमें व्यावसायिक

कुशलता भी प्रारम्भिक शिक्षा में निहित है जहाँ से भावी शैक्षिक योग्यता के लिए प्रयास किया जाता है। अतः विद्यालय शैक्षिक प्रक्रिया का आधार एवं सशक्त माध्यम है जिस पर व्यक्ति का सम्पूर्ण शैक्षिक परिवेश निर्मित होता है। विद्यालय नागरिक शिक्षा का केन्द्र भी है। इसमें शिक्षा और संस्कृति को पारम्परिक प्रयोग के द्वारा परिमार्जित किया जाता है। बच्चों के भौतिक, सामाजिक और नैतिक विकास में विद्यालयी शिक्षा का बहुत बड़ा योगदान है। इससे बच्चों को सामुदायिक जीवन हेतु अनुशासित करने में मदद मिलती है।

शिक्षा और दीक्षा
(Education and Indoctrination)

दीक्षा का तात्पर्य एक आरोपित शैक्षिक प्रक्रिया से है। इसका उद्देश्य निर्धारित सिद्धांतों को नियंत्रित एवं निर्देशात्मक प्रणाली से व्यक्ति के ऊपर आरोपित करना है। इस प्रणाली के अन्तर्गत निर्धारित सिद्धान्तों को व्यक्ति के मानस पटल पर स्थायी रूप में स्थापित करने के लिए किसी भी प्रकार के माध्यमों का सहारा लिया जा सकता है। एकतंत्रीय सत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था होने के कारण इसमें बड़े अनुशासन तथा नियंत्रण की आवश्यकता होती है। इसकी प्रकृति निरंकुशतापूर्ण होती है। यह शिक्षण का सशक्त माध्यम है जो व्यक्ति को एक निर्धारित मनोयोग में पहुँचा देता है।

सत्तात्मक विद्यालयों में दीक्षा को ही शिक्षा की एकमात्र प्रविधि के रूप में स्वीकार किया जाता है। इसमें शिक्षा शिक्षक तथा पाठ्यक्रम पर केन्द्रित होती है। इस प्रकार के विद्यालयों में छात्र सम्पूर्ण रूप से शिक्षक पर निर्भर करते हैं। शिक्षक छात्रों को अपनी अभिरुचि के अनुरूप पढ़ने-लिखने की थोड़ी भी स्वतन्त्रता नहीं देते। इसमें छात्रों की आवश्यकता, आकांक्षा और अभिरुचि की अवहेलना की जाती है। शैक्षिक प्रक्रिया के प्रत्येक तत्त्व वस्तुविषय, पाठ्यक्रम तथा गतिविधियाँ इत्यादि पूर्व निर्धारित होते हैं। शिक्षार्थी अपनी आवश्यकता और आकांक्षा का परित्याग कर निर्धारित पाठ्यक्रम और गतिविधियों को आत्मसात

करने के लिए होता है। इसमें अधिगम तथा अभिरुचि का हनन होता है जिससे व्यक्ति के स्वाभाविक विकास में बाधा पहुँचती है। दीक्षा निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त करने की शैक्षिक प्रणाली है जो एक-देशीय होती है। इसमें निर्धारित सूचना, विचार एवं सिद्धान्तों पर ही बल दिया जाता है जिससे शिक्षा की प्रकृति यांत्रिक हो जाती है और उसमें एकरूपता आने की संभावना बन जाती है। दीक्षा में शिक्षार्थी को एक खाली श्यामपट्ट समझा जाता है जिसको शिक्षक निर्धारित ज्ञान सामग्री से भरता है।

नये विचार तथा विषयवस्तु को सम्मिलित करने से दीक्षा प्रणाली ऐच्छिक प्रकृति की हो सकती है, परन्तु इसकी उपयोगिता अत्यन्त ही सीमित है। इसमें शिक्षार्थी को व्यवस्थित शिक्षा के प्रभाव में ही रहना पड़ता है जिससे मेधावी छात्रों की अपनी रचनात्मकता और प्रतिभा को प्रदर्शन करने का अवसर नहीं मिलता। शिक्षा तो मानव के सर्वांगीण विकास की एक प्रक्रिया है जिसे किसी निर्धारित प्रणाली और मापदण्ड से सीमित करना उचित नहीं।

शिक्षा के प्रकार
(Types of Education)

शिक्षा के तीन प्रकार हैं :-

(i) औपचारिक शिक्षा (Formal Education)

(ii) अनौपचारिक शिक्षा (Informal Education)

(iii) औपचारिकेतर शिक्षा (Non-Formal Education)

शिक्षा की अवधारणा कई प्रकार से की जा सकती है। इसका प्रारूप प्राय: विशेष सामाजिक व्यवस्था पर निर्भर करता है। उदाहरणार्थ, प्रजातंत्र की व्यवस्था में शिक्षा प्रणाली एक राजतांत्रिक व्यवस्था से भिन्न होती है। इसी प्रकार आधुनिक शिक्षा व्यवस्था पारम्परिक व्यवस्था से भिन्न है। इसी प्रकार आधुनिक शिक्षा व्यवस्था का पारम्परिक व्यवस्था से भिन्न होना स्वाभाविक है। फिर भी शिक्षा के किसी प्रारूप को देखा

जाए तो इसके तीन विभिन्न स्वरूप होते हैं—औपचारिक, अनौपचारिक एवं औपचारिकेतर जिनके अपने-अपने विशेष गुण होते हैं।

औपचारिक शिक्षा (Formal Education)

यह एक पारम्परिक शिक्षा प्रणाली है। इसका सबसे बड़ा गुण यह है कि इसमें शिक्षक और छात्र में सीधा सम्पर्क होता है तथा इसकी सारी शक्ति कक्षा-शिक्षण की स्थिति पर निर्भर होती है। जितना संगठित सम्बन्ध शिक्षक और छात्र में होगा, शिक्षा उतनी ही संगठित तथा अच्छी होगी। औपचारिक शिक्षा में शिक्षक की भूमिका अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त इस शिक्षा प्रणाली में कई और भी घटक होते हैं जैसा कि संगठित समय-सारिणी, पूर्व निर्धारित पाठ्यक्रम, संगठित कक्षा प्रणाली तथा परीक्षा प्रणाली जिसके फलस्वरूप सर्टिफिकेट, डिप्लोमा या डिग्री आदि का मिलना भी अनिवार्य होता है। इस शिक्षा में पूर्व निर्धारित शिक्षण विधियाँ तथा शिक्षा को संगठित या निरंतर ढंग से प्रदान करने का प्रावधान होता है। इसका मुख्य उद्देश्य किसी परीक्षा को उत्तीर्ण करना होता है। इस शिक्षा में मुख्य विधियाँ रट्टा लगाना और परीक्षा में दिए जाने वाले प्रश्नों के उत्तर को कण्ठस्थ करना इत्यादि होती है।

वस्तुतः इस शिक्षा में सब कुछ पहले से निर्धारित कर लिया जाता है, जैसे स्कूल की व्यवस्था, छात्रों तथा अध्यापकों की संख्या, निर्धारित पाठ्यक्रम इत्यादि। इस शिक्षा प्रणाली में लचीलापन का अभाव होता तथा इस प्रणाली की आजकल काफी आलोचना की जा रही है। जिसके फलस्वरूप नई-नई अवधारणाएँ जैसे-'डी-स्कूलिंग', 'मुक्त शिक्षा' इत्यादि सामने आ रही है। वस्तुतः प्राचीन काल से औपचारिक शिक्षा की विधि सर्वमान्य है किसी भी विशेष राष्ट्र की रीढ़ की शक्ति का अंदाजा उसकी शिक्षा व्यवस्था से लगाया जा सकता है। औपचारिक शिक्षा किसी राष्ट्र की रीढ़ की हड्डी होती है। संक्षेप में औपचारिक शिक्षा वह प्रणाली है जिसके द्वारा शिक्षा पाठशाला, महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय के प्रांगण में प्रदान की जाती है चाहे वे सामान्य शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा अथवा तकनीक शिक्षा ही क्यों न हों।

अनौपचारिक शिक्षा (Informal Education)

स्कूली शिक्षा के अतिरिक्त अन्य शिक्षाप्रद घटकों से भरपूर होती है। ऐसी शिक्षा जो स्कूल की चारदीवारी से बाहर मिले उसे अनौपचारिक शिक्षा कहा जाता है। यह शिक्षा स्वाभाविक ढंग से प्राप्त होती है। इसके मुख्य माध्यम हैं–जनसम्पर्क और सामाजिक सम्बन्ध। यह शिक्षा सांस्कृतिक घटकों से भी प्राप्त होती है। वस्तुत: अनौपचारिक शिक्षा के कई स्रोत हो सकते हैं। जैसे परिवार, धर्म संस्थान, संचार माध्यम और अन्य प्रकार की सामाजिक संस्थाएँ। जिनसे अप्रत्यक्ष रूप से शिक्षा अर्जित की जाती है। इन संस्थानों तथा स्थितियों का सीधा अर्थ शिक्षा प्रदान करना नहीं होता, अत: इनसे अप्रत्यक्ष रूप से शिक्षा ग्रहण की जाती है। इस प्रकार की शिक्षा अनौपचारिक शिक्षा के नाम से जानी जाती है।

औपचारिकेतर शिक्षा (Non-Formal Education)

औपचारिक तथा औपचारिकेतर शिक्षा में कुछ भिन्नता इस बात को लेकर होती है कि क्या शिक्षा प्रत्यक्ष रूप में या अप्रत्यक्ष ढंग से दी जाती है अथवा क्या वह संगठित ढंग से दी जाती है या स्वाभाविक ढंग से ग्रहण की जाती है। औपचारिकेतर शिक्षा कुछ सीमा तक औपचारिक शिक्षा और कुछ सीमा तक अनौपचारिक शिक्षा है। औपचारिक शिक्षा एक अर्धसंगठित शिक्षा प्रणाली है जो कुछ सीमा तक स्वैच्छिक तथा कुछ सीमा तक आकस्मिक होती है। इसका उद्देश्य स्कूल के बाहर की जनसंख्या को इस प्रकार के विषयों में शिक्षित करना होता है जैसे जन शिक्षा, व्यावहारिक शिक्षा आदि। इसका प्रगतिशील स्वरूप जीवन सामानांतर शिक्षा प्रदान करना होता है, विशेषकर उन लोगों के लिए जो अपनी कार्यकुशलता तथा साधनों को अधिक संगठित तथा प्रगतिशील बनाना चाहते हैं।

औपचारिकेतर शिक्षा आजकल बड़े पैमाने पर फैल रही है तथा इसको शिक्षा प्रणाली का एक विकल्प भी माना जा रहा है। यह ऐसा इसलिए हो रहा है क्योंकि हमारी पारम्परिक शिक्षा का स्वरूप जनसंख्या

के विस्फोट के कारण बढ़ती हुई जनसंख्या को शिक्षित करने में प्राय: असफल रहा है। इसके फलस्वरूप मुक्त शिक्षा आजकल औपचारिकेतर शिक्षा की मुख्य धारा बनकर सामने आ रही है जो औपचारिक शिक्षा के समानांतर अथवा पूरक प्रणाली बनने का प्रयास भी कर रही है। मुक्त विद्यालय, मुक्त विश्वविद्यालय तथा पत्राचार संस्थाओं के विभिन्न प्रारूप सामने आ रहे हैं। वस्तुत: औपचारिकेतर शिक्षा को आज के परिप्रेक्ष्य में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी है। किन्तु यह आभास करना कुछ कठिन तो है कि क्या यह विकल्प शिक्षा के उस उच्च स्तर को प्राप्त करने में सफल होगा जो हमें पारस्परिक औपचारिक प्रणाली प्रदान करती है।

शिक्षा की मीमांसा
(Mimansa of Education)

शिक्षा मानव का नैसर्गिक प्रयास है, उसकी सतत विकासशील प्रवृत्ति है। शिक्षा वस्तुत: हमारा जीवन है। आदिकाल से मानव सीखता आ रहा है और जो कुछ उसने सीखा, उसे शिक्षा स्वरूप दिया है। शिक्षा मानव-जीवन की संचित सीख है। मनुष्य उसे परंपरा और परिस्थिति के अनुसार सीखता तथा धारण करता है। शिक्षा कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो किसी पदार्थ, वस्तु या बीज के रूप में प्रदान की जाए। यह तो एक प्रकार की चेतना है, जिसे मनुष्य स्वयं प्राप्त करता है। यह एक गतिशील प्रक्रिया है, इसका रूप और स्वरूप स्थिर नहीं है। शिक्षा की सरिता में एक स्वाभाविक प्रवाह होता है। यह जड़ नहीं, बल्कि चेतन है। शिक्षा कार्य-जीवनपर्यंत चलता रहता है।

शिक्षा की परिभाषाएँ (Definations of Education)

शिक्षा की परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं–

ब्राउन के अनुसार "शिक्षा चैतन्य रूप में नियंत्रित प्रक्रिया है, जिसके द्वारा व्यक्ति के व्यवहार में परिवर्तन किए जाते हैं और व्यक्ति के द्वारा समूह में।"

रेमण्ट के अनुसार "शिक्षा विकास का वह क्रम है, जिसके द्वारा व्यक्ति विभिन्न प्रकार से अपने भौतिक, सामाजिक और पारलौकिक तथा आध्यात्मिक जीवन से शनैः-शनैः अपना सामंजस्य स्थापित करता है।"[2] स्पष्ट है कि शिक्षा द्वारा व्यक्ति धीरे-धीरे अपने आप पर नियंत्रण करता है, अपने व्यवहारों में परिवर्तन लाता है और तब कालक्रम में उनके पूरे सामाजिक ढाँचे में आमूल परिवर्तन हो जाता है। निर्माण का यह क्रम स्थिर नहीं, अपितु गतिशील हुआ करता है। गति आगे या पीछे दोनों ओर समानरूप से चला करती है।

भारत में शिक्षा का विकास
(Development of Education in India)

शिक्षा प्राप्त करने के कारण ही शिक्षित व्यक्ति का समाज से दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा अधिक मान-सम्मान और आदर होता है। शिक्षित होने के कारण ही वह विद्वान् और अनुभवी महापुरुषों के विचारों को शीघ्रतापूर्वक सरलता से ग्रहण करता है। भारतीयों ने मध्य एशिया (चीनी, तुर्किस्तान, चीन, कोरिया, जावा, सुमात्रा, वर्मा, जापान, तिब्बत तथा लंका आदि देशों में अपनी सभ्यता और संस्कृति का प्रचार एवं प्रसार किया तथा मलाया, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, बाली आदि देशों में अपने उपनिवेश स्थापित किए, इसका मूल कारण उनकी शिक्षा विशेषता ही थी। शिक्षा की उन्नति के कारण ही वाकाटक और गुप्त सम्राटों का युग भारतीय इतिहास का स्वर्ण-युग था।

भारतीय जीवन ज्ञान, सभ्यता, संस्कृति, हर पहलू से-इस युग में पूर्णता को पहुँच गया। कला, साहित्य और विचार की दृष्टि से भारतीय मस्तिष्क की उड़ान इस युग में जहाँ तक पहुँच गई, इसकी परिधि को अगले एक हजार वर्ष तक अन्य देश वाले प्रायः नहीं लाँघ सके। महाकवि कालिदास, ज्योतिषी आर्यभट्ट और वराहमिहिर, दार्शनिक आसंग, वसुबंधु और ईश्वरकृष्ण, बुद्ध, घोष और दिङ्नाग सब इसी युग में हुए। विष्णु शर्मा का पंचतंत्र, जो संस्कृत के कहानी-साहित्य में अपना जोड़ नहीं रखता, इसी युग की अमर रचना है। इसके अतिरिक्त

महाकवि विशाखादत्त और मृच्छकटिकार शूद्रक भी इसी युग में हुए। स्मृति और धर्मग्रंथों की अनेक रचनाएँ भी इसी युग की हैं।

गुप्तों की शासन-व्यवस्था बहुत संगठित और आदर्श थी। भारत ने जैसी सुख-शांति और समृद्धि गुप्त शासनकाल में अनुभव की, वैसी न शायद पहले की थी और न बाद में अभी तक की है। समूचा गुप्त साम्राज्य बहुत से 'देशों' और 'भुक्तियों' में बँटा हुआ था। इन्हीं में से एक तीरभुक्ति आधुनिक तिरहुत है। प्रत्येक का शासन एक 'गोप्ता' या 'उपरिक महाराज' करता था। देश या भुक्ति छोटे-छोटे विषयों अर्थात् जनपदों में बँटी होती थी। शासन के लिए अलग-अलग विभाग थे। गुप्त शासन पद्धति की नकल दूसरे राजाओं ने की और बाद में भी उनकी नकल होती रही। उस युग की बहुत सी मुहरें पायी गई हैं, जिनसे पता चलता है कि ग्रामों और नगरों की पंचायतें स्वतन्त्रतापूर्वक अपना आंतरिक प्रबंध करती थी। जनपदों की संगठित राष्ट्र सभाएँ भी थीं। वैशाली में व्यापारियों के नियमों और कारीगरों की श्रेणियों की मुहरें काफी संख्या में पायी गई हैं। ये सब श्रेणियाँ पहले से अधिक संगठित और समृद्ध थी। दूर-दूर के देशों के साथ वाणिज्य-व्यापार चलता था। 274 ई. में रोम सम्राट् को एक कश्मीरी शाल भेंट की गई थी, जिसकी बनावट से वहाँ के लोग स्तब्ध हो गए थे।

भारतीय उपनिवेश इस युग में और आगे तक फैलाए गए। हिन्दी दीपावली में भारतीय राज्य बोर्नियो द्वीप के पूरबी छोर तक पहुँच गए, जहाँ चौथी सदी के राजा मूलवर्मा के बनवाए खंभे और संस्कृत के लेख अब भी मौजूद हैं! जावा में भी उसी समय का राजा पूर्णवर्मा का संस्कृत का लेख पाया गया है। सुवर्ण द्वीप में चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के समय शैलेंद्रवंश का राज्य स्थापित हो गया, जो शीघ्र बाद में एक साम्राज्य बन गया, जिसमें आस-पड़ोस के सभी द्वीप सम्मिलित हो गए। उन द्वीपों में आज भी ऐसी चीजें मिली हैं, जो उस काल की उन्नत कला और समृद्ध दशा का परिचय देती हैं। उस साम्राज्य की राजधानी श्रीविजय थी। श्रीविजय के जहाज पूरब चीन और पश्चिम मेडागास्कर और मिस्त्र तक जाते थे।

उस समय का वर्णन चीनी यात्री फाह्यिान ने लिखा है। वह चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय में कई वर्षों तक भारत में रहा था उसने लिखा है कि भारतवर्ष दुनिया भर में बढ़कर सभ्य देश है। प्रजा प्रसन्न और सदाचारी है; लोग नशीली वस्तु नहीं खाते, अपराध बहुत कम होते हैं, दंड बहुत हल्के दिए जाते हैं और मृत्युदंड किसी को नहीं दिया जाता। अपनी लम्बी यात्रा में उसको कहीं भी चोर-डाकुओं का मुकाबला नहीं करना पड़ा। वह चंपा (भागलपुर) में ताम्रलिपि (तामलूक) के रास्ते जहाज पर सवार होकर सिंहल होते यवद्वीप पहुँचा। यवद्वीप से एक जहाज में, जिसमें 200 सौ से अधिक भारतीय व्यापारी भी थे, वह चीन वापस गया।

इधर फाह्यिान हिन्दुस्तान में यात्रा कर रहा था, उधर एक भारतीय विद्वान कुमारजीव चीन पहुँचा और वहाँ बस गया। उसने (अश्वघोष) नागार्जुन आदि के ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। समुद्रगुप्त के समय कोरिया में बौद्धधर्म स्थापित हो गया और वहाँ भारत की ब्राह्मी लिपि वर्त्ती जाने लगी। यशोवर्मा के समय (538 ई.) में जापान देश भी बौद्ध हो गया। कश्मीर का एक युवराज गुणवर्मा बौद्ध भिक्षु बन गया था। उसने यवद्वीप में बौद्धधर्म का प्रचार किया। इसी युग में वलभी (काठियावाड़) की एक परिषद् में विद्वानों ने जैन आगमो का संपादन किया।

भारत का प्रभाव एक तरफ चीन, कोरिया तथा जापान तक पहुँचा। अगले युगों में वह उत्तर की तरफ तिब्बत और मंगोलिया में तथा पश्चिम अरब के रास्ते यूरोप तक भी पहुँचा और यद्यपि इस बात की अभी पूरी खोज नहीं हुई है, पर मालूम होता है कि वह पहले हिन्द के द्वीपों के रास्ते दक्षिण अमेरिका तक भी पहुँच गया था।

परन्तु, शिक्षा की कमी के कारण वह समय भी आ गया, जब हमारी अवनति हो गई। हम उन्नति के शिखर से नीचे आ गए। गुप्त-युग तक भारतीय जीवन में एक ओर धर्म तथा मोक्ष दूसरी ओर काम और अर्थ में संतुलन एवं सामंजस्य था। परन्तु मध्यकाल में हमारा सांस्कृतिक

अध:पतन हो गया। मध्यकाल में धर्म का पलड़ा भारी हुआ और हम लोग लौकिक एवं वैज्ञानिक विषयों की उपेक्षा करने लगे। स्वतंत्र चिन्तन तथा अन्वेषण की प्रवृत्ति समाप्त हो गई और हम संकीर्ण मनोवृत्ति के शिकार हो गए।

अलबेरूनी के समय भारतीयों में संकीर्ण मनोवृत्ति तथा मिथ्याभिमान बहुत बढ़ चुके थे। वे समझाते थे कि उन जैसा कोई देश नहीं, उन जैसी कोई जाति नहीं, उनके अतिरिक्त किसी जाति को विज्ञान का कुछ भी ज्ञान नहीं है। अलबेरूनी लिखता है "उनका अभिमान इतना अधिक है कि यदि आप उनसे खुरासान या फारस के किसी विज्ञान या विद्वान का उल्लेख करेंगे, तो वे आपको अज्ञानी और झूठा दोनों समझेंगे।"

भारत के सुप्रसिद्ध शास्त्रवेत्ता स्वामी शंकराचार्य का कहना था कि "सा विद्या या ब्रह्मगति प्रदा" अर्थात् शिक्षा ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति का साधन है। भारत के सुप्रसिद्ध संन्यासी स्वामी विवेकानन्द (1863-1903ई.) के शब्दों में "शिक्षा मनुष्य में निहित पूर्णता का उदय और प्राकट्य है।" बालक-बालिकाओं में अनेक प्रकार की शक्तियाँ वर्तमान रहती हैं। इन शक्तियों का उचित विकास वास्तविक शिक्षा द्वारा ही संभव है। बड़े स्पष्ट शब्दों में स्वामी जी ने बताया है, "मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्त करना ही शिक्षा है। ज्ञान मनुष्य में स्वभाव-सिद्ध है। बाहर से कोई ज्ञान मनुष्य में नहीं आता, सब कुछ भीतर ही है। हम जो कहते हैं कि मनुष्य जानता है, वास्तव में मानसशास्त्र-संगत भाषा में हमें यह कहना चाहिए कि वह आविष्कार करता है, अनावृत्त अथवा प्रकट करता है।"

सुकरात (469 ई. पू. 399 ई.पू.) शिक्षा को व्यक्ति के विकास का आधार मानते थे। सुकरात के अनुसार शिक्षा का यह उद्देश्य होना चाहिए कि मनुष्य में वह इतनी क्षमता उत्पन्न कर सके, जिसमें वह अपने-आपको जान सके अपने-आपको जानना अथवा अपने आपको पहचानना (know thyself) ही सुकराती शिक्षा-दर्शन की

विशेषता है।

कांट की मान्यता है–"शिक्षा व्यक्ति की उस सर्वपूर्णता का विकास है, जिसकी उसमें क्षमता हो।"

रूसो (1712–1778 ई.) ने शिक्षा की परिभाषा करते हुए लिखा है, "शिक्षा कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो बाहर से लादी जा सके, अपितु बालक की स्वाभाविक शक्तियों तथा योग्यताओं के आंतरिक विकास को शिक्षा कहते हैं।"

जॉन डीवी (1859–1952 ई.) शिक्षा के सम्बन्ध में अपना विचार प्रकट करते हुए बतलाते हैं–"शिक्षा उन सभी शक्तियों का विकास है, जो व्यक्ति को इस योग्य बनाती हैं कि वह वातावरण को नियंत्रित कर सके और अपनी संभावनाओं की पूर्ति कर सकें।" बालकों में अनेक प्रकार की शक्तियाँ वर्तमान हैं। इन शक्तियों का विकास शिक्षा द्वारा ही होता है। शिक्षा के अभाव में ये शक्तियाँ निष्प्राण है।

बालक शिक्षा द्वारा ही उत्तरदायित्वपूर्ण नागरिक बनकर सफल जीवन व्यतीत करने की योग्यता प्राप्त करता है। शिक्षा का उद्देश्य प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता बढ़ाकर उत्कर्ष की ओर प्रेरित करना ही है। अगर किसी राष्ट्र की एक पीढ़ी में भी शिक्षा की अवहेलना कर दी जाए, तो वह राष्ट्र बर्बरता की अवस्था में पहुँच जाएगा, भले ही वह एक शक्तिशाली राष्ट्र क्यों न हो। शिक्षा के अभाव में गुप्त युग की श्रेष्ठता से गिरकर किस प्रकार हम लोग अवनति की ओर उन्मुख हो गए। आज भारत की हालत गिरी हुई है, क्यों? मात्र शिक्षा के अभाव में उचित शिक्षा से ही हमारे देश का नैतिक और चारित्रिक उत्थान होगा। अपने कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व की ओर हम उन्मुख होंगे। उन्नति और प्रगति के लिए, शिक्षा से बढ़कर कोई शक्ति नहीं। श्रेष्ठता को प्राप्त करने के लिए शिक्षा से बढ़कर कोई शक्ति नहीं। श्रेष्ठता को प्राप्त करने के लिए शिक्षा महती शक्ति है।

यूनान के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता एवं शिक्षाशास्त्री प्लेटो (427–347 ई.पू.) के मतानुसार किसी सरकार के अस्तित्व का नैतिक आधार शिक्षा

है। अतएव, जो सरकार अपनी जनता की उचित शिक्षा-व्यवस्था नहीं कर पाती, वह अपनी स्थिति के नैतिक आधार को खो देती है। अत्याचार अथवा विदेशी सरकार शिक्षा-कार्य की प्राय: अवहेलना करती हैं।

मुस्लिमकालीन प्राय: सभी बादशाहों द्वारा हिन्दू जनता के प्रति अपनाई गई उनकी शिक्षानीति इसका उदाहरण है। सन् 1835 ई. में मेकॉले (Macaulay) ने भी अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार और तत्कालीन हिन्दू शिक्षा-प्रणाली का बहिष्कार करते हुए अपने पिता के पास इस आशय का पत्र लिखा था-"अंग्रेजी शिक्षा का प्रभाव हिन्दुओं पर बहुत अच्छा पड़ रहा है। जो भी हिन्दू अंग्रेजी पढ़ते हैं, वे अपने धर्म और समाज के भक्त नहीं रह जाते। उनमें कुछ तो दिखावे भर के लिए हिन्दू रह जाते हैं, कुछ धर्माविरोधी बन जाते हैं और कुछ ईसाई बन जाते हैं। मेरा दृढ़ विश्वास है कि यदि हमारी यह योजना चलायी जाती रही, तो तीस वर्षों में बंगाल के उच्च वर्गों में एक मूर्ति-पूजक नहीं बचा रहेगा।"

उपर्युक्त बातों से हम सहज ही अनुमान लगा सकते हैं कि शिक्षा किस प्रकार बालकों के व्यक्तित्व-निर्माण में ही नहीं, अपितु समाज और राष्ट्र के नव-निर्माण का भी आधार-स्तंभ है। जो राष्ट्र शिक्षा में जितना ही पिछड़ा रहता है, वह सभ्यता में भी उतना ही पीछे रहता है। विज्ञान के आविष्कारों से भी वही राष्ट्र विशेष लाभान्वित होता है, जो सुशिक्षित है। जनतंत्र और अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना के विकास के इस वर्तमान युग में विश्व का प्रत्येक राज्य और राष्ट्र अपना प्रमुख कर्त्तव्य समझता है कि उसके नागरिक सुशिक्षित बनें। इंग्लैण्ड का प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री जॉन लॉक (1622-1704) व्यक्ति के व्यक्तित्व के दसवें हिस्से में नवाँ हिस्सा, उसकी शिक्षा का प्रतिफल मानता है।

शिक्षा का महत्त्व
(Importance of Education)

वर्तमान काल में शिक्षा की महत्ता की वृद्धि के कारण हैं-

- स्वतंत्र विचारों की वृद्धि

- सामाजिक भावों का विस्तार
- साम्प्रदायिकता का निराकरण,
- जनतंत्रवाद तथा राष्ट्रीय एकता की भावना का प्रसार,

आधुनिक आविष्कारों से लाभ उठाने की प्रवृत्ति।

जिस देश की जनता में जाति-पांति के प्रश्न, छुआछूत तथा धार्मिक सम्प्रदायों के भेदभाव जितने जटिल होते हैं, उस देश की जनता उसी क्रम में पराधीन, दुःखी और अविकसित हुआ करती है। शिक्षा के प्रसार द्वारा इसका निराकरण किया जा सकता है। शिक्षा-प्रसार से एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को अपने जैसा ही व्यक्ति मानने लगता है। वह दूसरों के व्यक्तित्व का उतना ही आदर करना सीख लेता है, जितना कि दूसरों से वह अपना आदर चाहता है।

शिक्षा मनुष्य को उदारचरित बनाती है, जिससे वह समस्त संसार के प्रति मैत्री-भावना स्थापित करने में समर्थ होता है। संकीर्णता से हटकर उसका हृदय विशाल हो जाता है तथा उसे समस्त राष्ट्र अपने परिवार जैसा ही दिखलाई पड़ने लगता है। आधुनिक जगत के सुप्रसिद्ध विचारक बर्टेण्ड रसेल के मतानुसार "शिक्षा मनुष्य को पूर्ण बनाने का एक माध्यम है।"[4] इसी प्रकार अल्फ्रेड नॉथ व्हाइटहेड शिक्षा को पूर्ण आदर्श समाज के निर्माण का एक साधन मानते हैं।[4]

शिक्षा के उद्देश्य
(Aims of Education)

प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कार्य का एक निश्चित उद्देश्य होता है। परन्तु, शिक्षा के उद्देश्य का प्रश्न आज विवादास्पद है। कुछ शिक्षाशास्त्री शिक्षा का उद्देश्य आवश्यक मानते हैं, जबकि कुछ इसका विरोध करते हैं। रॉस, रस्क तथा डे के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य आवश्यक है, परन्तु डॉ. जॉन डीवी के अनुसार शिक्षा का वस्तुतः कोई लक्ष्य नहीं होता। डॉ. डीवी के अनुसार शिक्षा एक विकासात्मक कार्य है और किसी भी विकासात्मक कार्य का कोई लक्ष्य नहीं होता। अतः शिक्षा का उद्देश्य-निर्धारण

कठिन है। शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य के जीवन के उद्देश्य पर निर्भर करता है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का उद्देश्य भिन्न होता है। जीवन-क्रम में स्थित अन्तर के कारण एक ही व्यक्ति के विभिन्न काल में विभिन्न उद्देश्य होते हैं। अतएव, समाज भर के लिए शिक्षा का एक उद्देश्य मान लेना शिक्षा का विकासात्मक कार्य नहीं माना जाएगा।

जॉन डीवी का विचार सर्वमान्य नहीं। मानव-जाति में एकता कुछ विचारों की समता पर अवलम्बित है। यदि विचारों की समता नहीं होगी, तो समाज में एकता और शान्ति किस आधार पर स्थापित होगी? शिक्षा व्यक्ति के विचारसाम्य को सुदृढ़ करती है। इस मनोवृत्ति से मानव-समाज सभ्य कहलाता है तथा एकता सुदृढ़ होती है। उद्देश्यविहीन शिक्षा का कोई अर्थ नहीं। अत: शिक्षा का एक निश्चित उद्देश्य होना ही चाहिए। एक निश्चित उद्देश्य (लक्ष्य) होने से हमें उस ओर आगे बढ़ने में सुगमता होती है। सुप्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री रिवसिन अपनी पुस्तक 'इनसाइक्लोपीडिया ऑफ मॉडर्न एजुकेशन' में लिखते हैं : "शिक्षा एक सप्रयोजन तथा नैतिक क्रिया है, अतएव इसके निरुद्देश्य होने की कल्पना ही नहीं की जा सकती है।"[6]

समय-समय पर विभिन्न शिक्षामनीषियों और विचारकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से शिक्षा का उद्देश्य निर्धारित किया है। कुछ शिक्षामनीषियों के मतानुसार शिक्षा का उद्देश्य (1) धार्मिक तथा आध्यात्मिक होना चाहिए। कुछ शिक्षामनीषियों ने शिक्षा के (2) शारीरिक, तो कुछ ने (3) व्यावसायिक तथा कुछ ने (4) ज्ञान-सम्बन्धी और (5) संस्कृति-सम्बन्धी उद्देश्य की कल्पना की है। कतिपय शिक्षामनीषियों ने शिक्षा का लक्ष्य (6) सामाजिक और (7) चारित्रिक (नैतिक) होने की बात बतलाई है। हरबर्ट स्पेन्सर-जैसे शिक्षाविशेषज्ञ ने शिक्षा का उद्देश्य (8) पूर्ण जीवन का निर्माण कहा है।

विचारणीय प्रश्न यह है कि वस्तुत: आदर्श स्थिति क्या है? शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य क्या हो सकता है?

कुछ उद्देश्य (1) चरित्रगठन (नैतिक), कुछ (2) सामाजिक

और कुछ (3) पूर्ण जीवन सम्बन्धी उद्देश्य की बात कहते हैं। अभीष्ट-प्रतिपादन के लिए यह आवश्यक है कि हम लोग शिक्षा के इन विभिन्न उद्देश्यों पर एक-एक कर विचार करें, जिससे वास्तविक लक्ष्य पर पहुँचने में हमें सुविधा हो।

धार्मिक तथा आध्यात्मिक उद्देश्य

धर्म शिक्षा का मेरुदण्ड है। धर्मप्रधान तथा आध्यात्मिक रुचि के कारण प्राचीन भारत में शिक्षा का उद्देश्य धार्मिक पवित्रता, आत्मविश्वास तथा आत्मज्ञान (आत्मबोध) माना गया था। मुस्लिमकालीन भारत में भी शिक्षा का उद्देश्य धार्मिक कट्टरता था। मध्यकालीन यूरोप में धर्म-प्रचार के कारण शिक्षा का उद्देश्य पवित्र जीवन-यापन एवं बौद्धिक विकास से था।

शिक्षा का मात्र धार्मिक उद्देश्य आज के अणु और परमाणु युग में सर्वमान्य होना कठिन है। प्राचीन शिक्षा में आध्यात्मिकता, अलौकिकता, आदर्शवाद तथा साधन की पराकाष्ठा थी, जो आज के जीवन में संभव नहीं है। प्रो. आल्तेकर ने स्पष्ट लिखा है। प्राचीन भारत में शिक्षा आवश्यक रूप से धार्मिक व व्यक्तिगत थी। धार्मिक रूढ़िवाद और सामाजिक मान्यताओं में अब निरन्तर परिवर्तन हो रहा है। जनतंत्र और अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का विस्तार हो रहा है। भौतिकवादी प्रवृत्ति प्रबल हो रही है। शिक्षा आज लौकिक और व्यावहारिक दोनों होनी चाहिए।

शारीरिक विकास का उद्देश्य

शारीरिक विकास की महत्ता की परम्परा प्राचीन युग से ही चली आ रही है। "शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्"- यह उपनिषद् का वाक्य है। महाभारत-युद्ध की समाप्ति कुरुराज दुर्योधन और पांडुपुत्र भीमसेन के मल्लयुद्ध द्वारा ही हुई थी। स्पार्टी शिक्षा में व्यायाम को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता था। प्लेटो और अरस्तू ने बालकों तथा किशोरों के लिए शारीरिक शिक्षा की बहुत आवश्यक बतलाया है। सुप्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री जॉन जेकस रूसो ने शारीरिक शिक्षा की महत्ता

प्रतिपादित करते हुए बतलाया है कि "मनुष्य के समस्त दुर्गुण उसकी कमजोरी के परिणाम हैं। एक बच्चा इसलिए बुरा है कि वह कमजोर है। अगर उसे बलवान बना दिया जाए, तो उसमें अच्छाइयों का अवश्य प्रादुर्भाव होगा।" शिक्षा के उद्देश्य की 'पूर्ण जीवन के निर्माण की तैयारी' अथवा 'पूर्ण जीवन की प्राप्ति' (For Complete Living); बतलाने वाले तथा शिक्षा की वैज्ञानिक प्रवृत्ति के प्रमुख प्रतिनिधि हरबर्ट स्पेंसर शारीरिक स्वस्थता को पर्याप्त महत्त्व देते हैं। अपने निबन्ध 'शारीरिक शिक्षा' (Physical Education) में अपने तत्सम्बन्धी विचारों को व्यक्त करते हुए उन्होंने वालकों और किशोरों के सुन्दर स्वास्थ्य, व्यायाम, स्वच्छता तथा पौष्टिक भोजन को बहुत महत्त्वपूर्ण बतलाया है और माता-पिता को भी सावधान किया है कि वे बच्चों के स्वास्थ्य के लिए सचेष्ट बने। उन्होंने शिक्षा-संस्थाओं में उसके विधान की व्यवस्था भी की है।

शरीर का समुचित विकास और उसकी स्वस्थता ही हमारी उन्नति की आधारशिला है। जीवन के किसी भी क्षेत्र में हम प्रगति नहीं कर पायेंगे, अगर हमारा शरीर दुर्बल है। वस्तुतः हमारी शारीरिक स्वस्थता ही हमारी समस्त प्रोन्नतियों की जड़ है। इसके अभाव में हम मृतप्राय हैं।

तथापि मात्र शारीरिक उन्नति ही शिक्षा का उद्देश्य हो, इसे इस वर्तमान वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक युग में कैसे स्वीकार किया जा सकता है? बौद्धिक चमत्कार की भी अब बड़ी जरूरत है। प्लेटो भी, जिसने शारीरिक शिक्षा को बहुत महत्त्वपूर्ण बतलाया है, शिक्षा में अधिक व्यायाम वर्जित करता है। उसके मतानुसार शिक्षा में अधिक व्यायाम मनुष्य को जंगली बना देता है।

शिक्षा में शारीरिक उद्देश्य की एक संक्षिप्त विवेचना के पश्चात् यह तो अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा कि शारीरिक स्वस्थता हमारी उन्नति में अत्यधिक सहायक है, अतः इसकी शिक्षा-व्यवस्था अनिवार्य

है और इसी दृष्टि से यह शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है।

व्यावसायिक उद्देश्य

जनसाधारण का विचार है कि शिक्षा जीविका-निर्वाह में सहायता करने वाली होनी चाहिए अर्थात् शिक्षा का उद्देश्य जीविकोपयोगी हो। अधिकांश जनता इसी उद्देश्य से अपनी सन्तान को पढ़ाना चाहती है। भारतीय शास्त्रों में भी भूख अर्थात् भोजन की समस्या को सर्वप्राथमिकता दी गई थी, जैसे–

"काव्येन हन्तये शास्त्रं, काव्यं गीतेन हन्तये।
गीतञ्च स्त्री-विलासेन, स्त्री-विलासो बुभुक्षया।।"

अर्थात् शास्त्र को काव्य मार डालता है, काव्य को गीत, गीत को स्त्री-विलास और स्त्री-विलास को भूख मार डालती है। यह है भूख की प्रचंड ज्वाला। अत: व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था ही इस समस्या का समाधान कर सकेगी। आज सर्वत्र 'जॉब ओरिएन्टेड एजुकेशन' (Job Oriented Education) अर्थात् व्यवसाय प्रधान शिक्षा की चर्चा है।

व्यावसायिक शिक्षा की परिभाषा करते हुए विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (University Education Commission, 1948-49)[9] ने लिखा है : "व्यावसायिक शिक्षा वह क्रम है, जो मनुष्य को किसी व्यवसाय में व्यावसायिक दृष्टिकोण के उत्तरदायित्व के साथ कार्य करने की क्षमता देती है।" आयोग ने कृषि, वाणिज्य, शिक्षा, इंजीनियरिंग, कानून, चिकित्सा आदि विषयों के लिए अपनी सिफारिशें की हैं। विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग ने अपनी अनुशंसा में "उच्च कोटि के सामान्य तथा व्यावसायिक शिक्षा को जनतन्त्र का प्राण माना है।"[10] माध्यमिक शिक्षा आयोग।[11] (Secondary Education Commission, 1952-53) ने भी अपनी अनुशंसा में व्यावसायिक, औद्योगिक या प्राविधिक शिक्षा की कार्यक्षमता पर पूर्ण ध्यान देना चाहिए। मुख्य बात यह है कि विद्यार्थी श्रम का महत्व समझ सकें। औद्योगिक क्षेत्र में भेजने के लिए विद्यार्थियों को पूर्ण निपुण और योग्य बनाया जाए। पाठ्यक्रम

में विभिन्नता हो, जिससे बड़ी संख्या में विद्यार्थी कृषि, वाणिज्य तथा औद्योगिक शिक्षा ले सकें।"

व्यावसायिक शिक्षा अपने-अपने पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। आज के भौतिकवादी युग के 'अर्थप्रधान दृष्टिकोण' में तो व्यावसायिक शिक्षा की अत्यधिक महत्ता है। भारत के आर्थिक पिछड़ेपन का एक सर्वप्रमुख कारण है कि हम लोगों ने अपने पाठ्यक्रम में व्यावसायिक शिक्षा को महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं दिया।

शिक्षा का व्यावसायिक उद्देश्य आप में स्थान पर बड़ा कल्याणकारी है। निःसन्देह व्यवसाय अथवा जीविकोपार्जन जीवन का एक प्रमुख भाग है, परन्तु सब कुछ नहीं। वस्तुतः वह अनेक भागों में अथवा कहें कि हमारे जीवन के उच्चतम विकासार्थ केवल एक साधन है। आज के सामाजिक जीवन की जटिलता के संदर्भ में यह उद्देश्य बाह्य रूप से बहुत ठीक है, परन्तु आदर्श की दृष्टि से हमारा यह अभीष्ट नहीं। इसमें हमारी बौद्धिक उन्नति और नैतिक विकास अवरुद्ध हो जाएगा। ईसा मसीह का यह वाक्य इस स्थल पर स्मरणीय है : "मनुष्य केवल रोटी की समस्या के समाधान से ही जीवित नहीं रह सकता।"

जीविकोपार्जन के अतिरिक्त जीवन के अन्य भी विभिन्न पहलू हैं। प्रत्येक व्यक्ति को समाज में अपना स्थान जानना चाहिए और एक दूसरे के प्रति अर्थात् पारस्परिक कर्त्तव्यों के प्रति सचेत होना चाहिए। हममें सभ्यता और सांस्कृतिक उन्नयन की भी क्षमता होना आवश्यक है।

ज्ञानात्मक उद्देश्य

ज्ञान-सम्बन्धी उद्देश्य व्यावसायिक उद्देश्य के विपरीत है। शिक्षा का व्यावसायिक उद्देश्य बिल्कुल सांसारिक है। परन्तु, ज्ञान-सम्बन्धी उद्देश्य अथवा बौद्धिक विकास या ज्ञानार्जन का उद्देश्य भी केवल बुद्धि की संपत्ति को ही बढ़ाता है। एक जीवन-संघर्ष के लिए आवश्यक है, तो दूसरा आत्मोत्कर्ष के लिए। ज्ञान-सम्बन्धी उद्देश्य की उपलब्धि के

निमित्त शान्त और एकान्त वातावरण आवश्यक है तथा अवकाश के समय इसकी पूर्णता होगी।

व्यावसायिक उद्देश्य के समान ही ज्ञान-सम्बन्धी उद्देश्य भी एकांगी है। मात्र मानसिक उन्नति से मानव-जीवन के सभी उद्देश्यों की पूर्ति कैसे संभव है? परम्परागत शिक्षा-प्रणाली (Traditional Type of Education) में मात्र बौद्धिक विकास पर बल दिया गया था। अंग्रेजों की शिक्षा-नीति का उद्देश्य ही था, अपने दफ्तरों के काम-काज सम्पादन हेतु 'बाबू' बनाना। आज हम स्वतन्त्र हैं। गणतन्त्र भारत के निवासी हैं। हमारी शिक्षा-नीति में आमूल परिवर्तन होना चाहिए। निष्क्रिय बौद्धिक शिक्षा से सामाजिक आचार एवं न्यायोचित भावों का संचार नहीं होगा।

प्रारंभिक अवस्था में सभी ज्ञान कुछ-न-कुछ लाभ अवश्य पहुँचाते हैं। जैक्स का कहना है कि ज्ञान का प्रत्येक अंश हमसे कहता है कि तुम्हारा रहन-सहन ऐसा हो, ऐसा नहीं, परन्तु, इस कारण को दृष्टि में रखकर यह आशा नहीं की जा सकती कि हम सारे ज्ञान-भंडार को अपना बना लें। वस्तुतः ज्ञान साधन है, साध्य नहीं। इसका महत्त्व इसी में सन्निहित है।

सांस्कृतिक उद्देश्य

शिक्षा के सांस्कृतिक उद्देश्य को शिक्षा के ज्ञानात्मक उद्देश्य का ही एक भाग समझना चाहिए।

शिक्षा के सांस्कृतिक उद्देश्य में विश्वास रखने वाले व्यक्ति शिक्षा को एक विशेष वर्ग के लिए ही मानते हैं, सार्वजनिक रूप में नहीं। सांस्कृतिक शिक्षा में इस बात की कोशिश की जाती है कि शिक्षा में उन विषयों को रखा जाए, जिनके ज्ञान से एक व्यक्ति औरों की अपेक्षा सुसंस्कृत और सभ्य समझा जाए।

शिक्षा का सांस्कृतिक उद्देश्य जीवन की पूर्णता पर आधारित नहीं। इसमें उन परिस्थितियों का अध्ययन नहीं होता, जिनके आधार पर

शिक्षा का उद्देश्य निश्चित किया जाता है। यह जनतन्त्रवादी दृष्टिकोण के बिल्कुल विपरीत पड़ती है।

बालक समाज का प्रमुख अंग है। शिक्षा प्राप्ति के बाद उसे समाज में ही जाना है; क्योंकि वही उसका कार्यक्षेत्र है। उसने जो कुछ भी सीखा है, उसका प्रकटीकरण वह समाज में ही करेगा। अपने अर्जित ज्ञान एवं भावनाओं का वास्तविक चित्रण उसके लिए समाज द्वारा ही संभव है। समाज ही उसका वास्तविक कर्मक्षेत्र है, जहाँ उसके विचार कार्य-रूप में प्रकट होंगे तथा सुदृढ़ एवं परिपक्व बनेंगे। अत: शिक्षा का उद्देश्य सामाजीकरण होना चाहिए। शिक्षा के आधार पर बालकों का समाजीकरण हो। समाज की सुदृढ़ नींव पर ही व्यक्ति और राष्ट्र का कल्याण संभव है। समाज में व्याप्त उच्छृंखलताओं एवं अनुशासनहीनता के लिए एक बड़ी सीमा तक शिक्षा-प्रणाली को उत्तरदायी कहा जाता है।

अत: हमारे लिए यह सर्वथा आवश्यक है कि शिक्षा की रूपरेखा और शिक्षा का आदर्श समाजोपयोगी हो। स्कूल को सामाजिक संस्था की संज्ञा दी जाती है। इसी उद्देश्य से डॉ. डीवी ने शिक्षा को 'सामाजिक प्रक्रिया' के नाम से अभिहित किया है तथा स्कूल को समाज का प्रतिरूप कहा है। अरस्तू, हरबर्ट स्पेंसर आदि विद्वानों का विचार है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज से पृथक् उसका विकास नहीं हो सकेगा। व्यक्तित्व के विकास के लिए सभी आवश्यकताओं की पूर्ति समाज में रहकर ही होती है। समाज से पृथक् उसके अस्तित्व का कोई मूल्य नहीं है। शिक्षाशास्त्री रेमॉन्ट का कहना है कि "निस्समाज व्यक्ति कोरी कल्पना है।" इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध शिक्षाविचारक नन (Nunn) लिखते हैं–"व्यक्तित्व का विकास सामाजिक रुचियों एवं सामाजिक क्रियाओं से भोजन प्राप्त करना है।[12] समाज की घटनाओं एवं समस्याओं की प्रबल छाप शिक्षा संस्थाओं में उपस्थित होती है।

अत: शिक्षा और समाज के सम्बन्ध को सुदृढ़ करना आवश्यक है। हमारा यह उद्देश्य, हमारी यह चेष्टा मात्र शिक्षा के माध्यम द्वारा ही

संभव है। यथार्थवादी बेकन का वस्तुतः यही उद्देश्य था। वह यही चाहता था कि शिक्षा और समाज में गहरा सम्बन्ध स्थापित किया जाए। उसकी धारणा थी कि शिक्षा द्वारा व्यक्ति में सामाजिकता का प्रादुर्भूतीकरण हो, जिससे समाज का उत्थान एवं कल्याण हो। उसने अपनी प्रदत्त शिक्षा-प्रणाली में इस धारणा को आकार देने का सफल प्रयास किया।

बेकन ने शिक्षा का रूप धार्मिक नहीं, अपितु सामाजिक दिया। वह यथार्थवाद का समर्थक था, जिसकी आधारशिला वैज्ञानिक दृष्टिकोण, तर्क-विचार तथा परिणाम पर अवस्थित थी। मध्य युग में चर्च की शक्ति बहुत प्रबल हो गई थी। चर्च शक्तिशाली साम्राज्य से भी टक्कर ले सकता था और अपने प्रारम्भिक काल में तो बहुत लोकोपयोगी था। यह केवल पूजा-पाठ का ही स्थान नहीं, अपितु एक उपयुक्त शिक्षालय भी था। वहाँ शिक्षित एवं विद्वान रहते थे तथा लैटिन द्वारा शिक्षा दी जाती थी। पादरी राज्य के बड़े-बड़े पदों पर आसीन होते थे। टामस बेकट, बूल्जे आदि राजनीतिक पादरी ही थे। प्रत्येक नगर में कई चर्च थे। चर्च धार्मिक केन्द्र के अतिरिक्त शिक्षा तथा सामाजिक केन्द्र भी थे। जन्म-मरण, विवाह, सभी उत्सवों से चर्च का सम्बन्ध था। डॉ. अमिता के शब्दों में– "मठ विद्यालय, पुस्तकालय, चिकित्सालय, छापाखाना, साहित्यिक केन्द्र तथा मध्यकाल के कार्य-घर थे।

परन्तु, कालान्तर में गिरजाघरों तथा मतों में कई बुराइयाँ उत्पन्न हो गई। वे सांसारिकता तथा भ्रष्टाचार के केन्द्र बन गए। पादरी तथा महंत भोग-विलास और कुत्सित जीवन व्यतीत करने लगे। उनके जीवनादर्श परिवर्तित हो गए। समाज में गिरजे तथा मठों के प्रति श्रद्धा कम हो गई। परन्तु, कालक्रम में विद्वान् समाज सुधारकों और धार्मिक विचारकों का प्रादुर्भाव हुआ और उन्होंने धर्म की धाँधली की आलोचना प्रारम्भ की। अंग्रेज पादरी जॉन विकलिफ, लूथर, कालबिन आदि ऐसे ही महापुरुष थे। इधर वैज्ञानिक जगत् के विभिन्न वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप नई चेतना एवं नई विचारधाराओं का सृजन हुआ। विचारों में क्रान्ति हुई। तर्क की कसौटी पर जो वस्तु खड़ी साबित हुई, वही ठीक

समझी गई।

अब शिक्षा का रूप भी केवल धार्मिक नहीं रह गया। समाजहितकारी शिक्षा ही शिक्षा मानी गई। विभिन्न शिक्षाशास्त्रियों ने शिक्षा के धार्मिक रूप की आलोचना-प्रत्यालोचना की। शिक्षा का वास्तविक रूप माना गया कि वह समाज में रहने वाले सामाजिक व्यक्तियों के सामाजिक हितों की रक्षा करे। वस्तुतः शिक्षा समाज का सर्वप्रकारेण कल्याण करे। विद्वान् बेकन इसी विचारधारा का अनुमोदक था।

फ्रांस का सुप्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री लॉर्ड मॉन्टेन भी सच्चे अर्थ में बालक को एक मनुष्य बनाना चाहता था। अतः वह बालक की शिक्षा-व्यवस्था इस प्रकार निर्धारित करना चाहता था कि इस उद्देश्य की सहज पूर्ति हो सके। उसका विचार था कि बालक एक सफल मनुष्य बनें, समाज की आर्थिक, नैतिक तथा धार्मिक उन्नति में सहयोग दें तथा स्वतः उनका व्यक्तिगत जीवन ऐसा हो कि समाज में वे अपना सफल अस्तित्व बना सकें। सोफिस्ट की भाँति बालकों को वह न केवल एक सफल अस्तित्व बना सकें। सोफिस्ट की भाँति बालकों को वह न केवल एक सफल वक्ता बनाना चाहता था और न 'एपीक्यूरिन दर्शन' की विशेषताओं के अनुसार "खाओ, पीयो, मौज करो" के सिद्धान्त का पोषक था, अपितु बालक की वह आदर्श समाज का एक आदर्श व्यक्ति बनाना चाहता था। अपनी पुस्तक, 'एथिक्स' में अरस्तू ने एक आदर्श व्यक्ति का वर्णन इस प्रकार किया है–

"एक आदर्श व्यक्ति बिना प्रयोजन अपने को संकट में नहीं डालना चाहता, क्योंकि ऐसी वस्तुएँ बहुत कम हैं जिनके लिए उसे चिन्ता करनी पड़ती है; लेकिन अवसर आने पर वह अपनी जान भी देने को तैयार रहता है; क्योंकि वह जानता है कि किन्हीं परिस्थितियों में मृत्यु जीवन से भी श्रेयस्कर है। वह दूसरों की सेवा के लिए भी तत्पर रहता है तथा दूसरों से अपनी सेवा कराने में लज्जित होता है। किसी पर दया करना श्रेष्ठता है तथा किसी की दया का पात्र बनना लघुता। वह क्या पसन्द करता है तथा वह क्या चाहता है, यह स्पष्ट होता है! यह

बिना हिचक के वर्षों कहता है तथा कार्य की सम्पन्नता की ओर उन्मुख बना होता है। वह अपने मन में नीच विचारों को नहीं रखता तथा दूसरों द्वारा की गई हानियों को भूल जाता है। उसे बातचीत करने का शौक नहीं है। वह यह नहीं चाहता कि उसकी प्रशंसा हो और दूसरों की निन्दा। वह दूसरों की, यहाँ तक कि अपने शत्रुओं की भी निन्दा नहीं करता, उनकी बुराई की कामना नहीं करता। उसकी वाणी में गंभीरता होती है तथा वह नपे-तुले शब्दों का प्रयोग करता है। वह कभी जल्दी नहीं करता; क्योंकि वह किसी वस्तु के सम्बन्ध में चिन्तित नहीं होता। वह किसी बात को बहुत जोर देकर भी नहीं कहता; क्योंकि वह किसी भी बात को बहुत महत्त्व नहीं देता।

वह जीवन के संघर्षों का सामना गौरव और गरिमा से करता है तथा परिस्थितियों से यथासंभव लाभ उठाकर अपनी शक्ति का उसी प्रकार प्रयोग करता है, जैसे युद्ध में एक सेनानायक। वह अपना सबसे बड़ा मित्र होता है तथा एकान्त में बड़े आनन्द के साथ रहता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति गुणहीन एवं अयोग्य है, वह अपना सबसे बड़ा शत्रु है तथा एकान्त से घबराता है।[13] अरस्तू की आदर्श व्यक्ति की यह कल्पना मॉन्टेन के आदर्श समाज के विवेकशील व्यक्ति से सर्वथा समतुल्यता स्थापित करती है।

लॉर्ड मॉन्टेन ने बालकों के लिए उन्हीं विषयों की शिक्षा आवश्यक बतलाया है, जिनसे उनके दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति हो। दैनिक जीवन की समस्याओं के समाधान के पश्चात् मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन एक बड़ी सीमा तक सरल हो जाता है। अतः, यथार्थवादी मॉन्टेन शिक्षण संस्थाओं में उन विषयों का प्रचलन आवश्यक मानता था, जिनसे इस उद्देश्य की पूर्ति हो। वह परम्परागत अच्छे विषयों की शिक्षा आवश्यक मानता था, परन्तु उन विषयों का बहिष्कार भी वांछित समझता था, जिनसे बालकों को उनके भावी दैनिक एवं सामाजिक जीवन में कोई सहायता नहीं मिलती। अतः, प्राचीन तथा नवीन विषयों का समन्वय कर मॉन्टेन ने भावी युग का बहुत बड़ा हित

किया। इतिहास, भूगोल, कानून, गणित, शास्त्रचलन, घुड़सवारी, नृत्य, व्यायाम, बहादुरी के काम, प्रदर्शन, अनुभव, पर्यटन आदि को मॉन्टेन ने आवश्यक बतलाया है। पर्यटन से विशेष व्यावहारिक अनुभव होता है। यात्रा के क्रम में देश-विदेश के विभिन्न रस्मरिवाज, सभ्यता, संस्कृति को देखने का अवसर मिलता और भावों का आदान-प्रदान सहज संभव होता है।

परन्तु, यह भी ध्यातव्य है कि समाज का रूप स्थिर नहीं होता। परिवर्तन अवश्यम्भावी है। अत:, समाज में परिवर्तन होता रहता है। इसलिए शिक्षा का सामाजिक रूप भी शाश्वत नहीं बना रह सकता। इसके अतिरिक्त जीवन में अकेला सामाजिक क्षेत्र ही तो नहीं है। मनुष्य जड़-चेतना दोनों के सम्पर्क में आता है। इनको समझाने के लिए ज्ञान, विज्ञान, साहित्य, धर्मशास्त्र आदि विषयों का ज्ञान भी परम आवश्यक है।

चारित्रिक उद्देश्य

वैदिककालीन शिक्षा का सर्वोच्च लक्ष्य विद्यार्थियों का चरित्र-निर्माण था। अत: सरल जीवन, न्यून आवश्यकताओं का अभ्यास, सदाचार, सत्याचरण, अहिंसात्मक व्यवहार और ब्रह्मचर्य आदि उनके दैनिक जीवन के स्वाभाविक अंग थे। क्विटीलियन ने नैतिकता और चरित्र-निर्माण पर बहुत बल दिया था; क्योंकि वह जानता था कि रोम साम्राज्य का पतन नैतिकता के अभाव में होगा। बूल्जे ने बतलाया है : "संसार में न तो धर्म का प्रभुत्व है और न बुद्धि का प्रभुत्व होता है, चरित्र और बुद्धि के साथ उच्च पवित्रता का।"

बाल्डेयर का कथन है-"सभी धर्म परस्पर भिन्न हैं; क्योंकि उनका निर्माता मनुष्य है। किन्तु, चरित्र की महत्ता सर्वत्र एक समान है; क्योंकि उसका निर्माणकर्त्ता ईश्वर है।"

हरबर्ट शिक्षा का उद्देश्य हमारा चारित्रिक विकास बतलाते हैं। चरित्र का विकास नैतिकता की आधारशिला पर अवस्थित है। हरबर्ट के विचारानुसार शिक्षा की संपूर्ण चेष्टा का फल एक शब्द में 'नैतिकता' है। नैतिकता ही जीवन का सबसे बड़ा मूल्य है तथा आंतरिक स्वतंत्रता का

द्योतक है। अतः, हमारी शिक्षा का लक्ष्य नैतिकता और चारित्रिक विकास है। शिक्षा का लक्ष्य स्पष्ट करते हुए उन्होंने निम्नांकित भाव व्यक्त किया है–"शिक्षा के एकमात्र एवं संपूर्ण कार्य का सार नैतिकता में निहित है।"[14]

हरबर्ट विद्यार्थियों में महान् कार्य करने की क्षमता उत्पन्न करना चाहते हैं और यह तभी होगा, जब उनके विचार उच्च हों।[15] उच्च विचारों की जननी नैतिकता है। अतः हमें ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है, जिससे बालकों और किशोरों में नैतिकता एवं सदाचार (Morality and Virtues) का आविर्भाव हो। हरबर्ट ने शिक्षा के उद्देश्य को नीतिशास्त्र से तथा उसकी पद्धति को मनोविज्ञान से ग्रहण किया। शिक्षा के उद्देश्य में सामंजस्य लाने के लिए वे सौंदर्यानुभूति तथा नीतिशास्त्र का सम्बन्ध स्थापित करते हैं। शिक्षाशास्त्री रस्क लिखता है–"कांट के समान हरबर्ट की नैतिकता अनियमित आज्ञा (Categorical Imperative) नहीं। उन्होंने नीतिशास्त्र को सौंदर्य विज्ञान के अंतर्गत रखा है। इनसाइक्लो-पीडिया ब्रिटानिका में हरबर्ट द्वारा नीतिशास्त्र और सौंदर्यशास्त्र के समन्वय हेतु पाँच सद्‌गुणों का उल्लेख मिलता है, जो निम्नलिखित हैं–

(1) आंतरिक स्वतंत्रता,

(2) सिद्धि,

(3) परोपकारिता,

(4) अधिकार तथा

(5) प्रतिकार या समानता।[16]

उपर्युक्त तत्त्व एक आचारवान मानव के प्रमुख और उचित गुण है। इनके अभाव में मनुष्य दानव का रूप ले सकता है। चरित्र और नैतिकता (आत्मसंयम) के नियमों से अपने को आबद्ध करने वाला पुरुष ही 'आंतरिक स्वतंत्रता' की दृष्टि से समाज का अवलोकन करेगा। उसके जीवनोद्देश्य परोपकारिता की भावना से युक्त, न्यायपूर्ण और निष्पक्ष होंगे। प्लेटो भी एथेंसवासियों के नैतिक उत्थान और सोफिस्टों

की शिक्षा से उत्पन्न अहितकर प्रभावों के विनाशार्थ आदर्श समाज (यूटोपिया) के लिए ऐसे व्यक्ति उत्पन्न करना चाहते थे, जो चारित्रिक गुणों से संपन्न हों तथा अपने कार्य को विवेक और सहृदयता से कर सके। अतः, शिक्षा का उद्देश्य निर्धारित करते हुए वे बतलाते हैं कि इसके माध्यम से व्यक्ति में 'गुण' का विकास किया जाए। गुणी व्यक्ति ही नैतिक जीवन व्यतीत कर सकता है।

'गुणी व्यक्ति' के जीवन में विवेक, साहस, धैर्य, सहनशीलता, विचार-कौशल जैसे तत्त्व विद्यमान होते हैं। जब शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक आदि गुणों का विकास हो जाता है, तो व्यक्ति नैतिक जीवन के अनुकूल हो जाता है। रोमन शिक्षा के जनक क्विंटीलियन (35 ई. सन् 118 ई. के आसपास), जिसके विचारों का प्रभाव यूरोपीय शिक्षा के इतिहास में पंद्रहवीं से अट्ठारहवीं शताब्दी तक अत्यधिक बना रहा, चारित्रिक निर्माण और व्यक्तित्व का विकास ही शिक्षा का प्रमुख लक्ष्य निर्धारित करते हैं। भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन् ने इस प्रसंग में कहा है-"भारत सहित सारे संसार के कष्टों का कारण यह है कि शिक्षा का सम्बन्ध नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति से नहीं रहकर, केवल मस्तिष्क के विकास से रह गया है।"[17]

संसार और भारत के कष्टों को दूर करने का मात्र यही उपाय है कि शिक्षा द्वारा बालकों में नैतिक और आध्यात्मिक भावनाओं का विकास करके उनका चरित्र-निर्माण किया जाए। इस प्रसंग में शिक्षाविशारद रेमण्ट बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा था-"चरित्र-निर्माण।" हरबर्ट चरित्र-निर्माण और नैतिकता के विकास के लिए शिक्षा पर अत्यधिक बल देते हैं। वे इस आशय के शब्द लिखते हैं-"नैतिकता मानव जाति का सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य है, जो शिक्षा द्वारा उपलब्ध हो सकेगी।"

अरस्तू (386-322 ई.पू.) ने मनुष्य में दो प्रवृत्तियाँ देखीं। प्रथम है तीक्ष्ण अथवा पाशविक तथा दूसरी है बौद्धिक और मानसिक। हरबर्ट का विचार है कि शिक्षा बुद्धि के द्वारा बुरी प्रवृत्तियों को जीत लेती है अर्थात् शिक्षा मानवीय कुप्रवृत्तियों पर विजय पाती है। इसका

कर्त्तव्य उच्च विचार उत्पन्न करना है।

हरबर्ट की शिक्षा-प्रणाली से सचमुच जर्मनी राष्ट्र का कायापलट हो गया। उसकी शिक्षा ने जर्मनी के विद्वानों पर गहरा प्रभाव डाला। स्टाइन, फ्रान, इन्बेल्ट तथा दूसरे राजनीतिज्ञों ने इसका अनुसरण किया और अपने देश के लोगों में चमत्कारिक परिवर्तन कर डाला। शीघ्र ही वह समय आया, जब जर्मनी सभी प्रकार की विद्याओं में संसार का नेता बन गया। अठारहवीं शताब्दी में जर्मनी जहाँ तृतीय श्रेणी का राष्ट्र था, वहाँ उन्नीसवीं शताब्दी में इस शिक्षामहारथी की योजना से प्रथम श्रेणी का राष्ट्र माना जाने लगा।

परन्तु शिक्षा द्वारा मात्र हमारा चारित्रिक विकास ही हो, ऐसा विचार है। चरित्र के विकास के साथ-साथ मानव के अन्य गुणों का भी उसमें प्रादुर्भूतीकरण होना चाहिए। हरबर्ट तथा उनके समर्थकों ने जो पाठ्यक्रम निर्धारित किया है, उसमें विज्ञान और गणित का स्थान नहीं। अतः, यह स्थिति आदर्श नहीं। केवल चरित्र-निर्माण एकांगी और अव्यावहारिक है।

पूर्ण जीवन के निर्माण का उद्देश्य

इंग्लैंड के प्रसिद्ध हरबर्ट स्पेंसर (1820-1903 ई.) ने शिक्षा का उद्देश्य पूर्ण जीवन का निर्माण (Complete Living Aim) बतलाया है। स्पेन्सर के मतानुसार शिक्षा हमें जीवन के लिए केवल भौतिक अर्थ में तैयार नहीं करे, अपितु विस्तृत रूप में हमको यह भी सिखावे कि शरीर और मस्तिष्क का हम किस प्रकार व्यवहार करें। अपने जीवन के कार्यों को सम्यक् रूप से कैसे सम्पादित करें तथा आदर्श नागरिक जीवन कैसे व्यतीत करें। कुटुम्ब का पालन कैसे करें तथा जीवन का आनन्द कैसे उठायें।

हरबर्ट स्पेंसर के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य है—"पूर्ण और सफल जीवन की तैयारी।"[18] वे तत्कालीन समाज की शिक्षा-प्रणाली का विरोध करते हैं। उनके जीवन-परिचय से ही हमें यह सहज ज्ञान हो जाता है कि उनका परिवार स्वतंत्र चिंतन का पक्षपाती था। वहाँ

समस्याओं पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार किया जाता था। स्पेंसर पर भी इस मनोवैज्ञानिक तथा वैज्ञानिक सत्य का प्रभाव पड़ा। शिक्षा-क्षेत्र में उन्होंने लिखा है कि हमारी शिक्षा-पद्धति इतनी दूषित है कि यह फूल पाने की शीघ्रता में पौधे की कुछ भी फिक्र नहीं करती। वह शोभा और श्रृंगार के पीछे मूल वस्तु की उपेक्षा करती है। आज की शिक्षा-प्रणाली इतनी त्रुटिपूर्ण है कि आत्मरक्षार्थ जिस शिक्षा की आवश्यकता है, उसकी वह व्यवस्था नहीं करती। वे शिक्षा को एक वैसा साधन मानते थे, जिससे बालक अपने भावी जीवन के जीवन-निर्वाह करने में सक्षम हो। इसलिए वे शिक्षा द्वारा पूर्ण और सफल जीवन की तैयारी की कामना करते हैं।

स्पेंसर ने शिक्षा के उद्देश्य का निर्धारण अपने निबन्ध 'सबसे अधिक उपयोगी ज्ञान कौन है' में किया है। उनके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य पूर्ण जीवन की तैयारी है। इसका तात्पर्य है कि हम लोग अच्छी तरह यह जान सकें कि जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में तदनुकूल आचरण किस प्रकार किया जाए। उनके अनुसार शिक्षा ऐसी होनी चाहिए, जिससे हमारे जीवन के सभी अंगों का विकास तथा हमारी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके इससे व्यक्ति का जीवन पूर्णता की ओर बढ़ेगा।

दूसरे शब्दों में हम कहेंगे कि व्यक्ति का सर्वांगीण विकास होना चाहिए। ऐसा विकास उसे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र और परिस्थिति के लिए तैयार करता है। उसे अपने समाज और देश के प्रति उत्तरदायित्व का ज्ञान होता है। स्पेंसर का विचार है–"हमारे लिए सबसे आवश्यक प्रश्न यह जानना है कि हम किस प्रकार रह सकें। इसे केवल भौतिक अर्थ में ही नहीं, अपितु व्यापक अर्थ में हमें इस प्रक्रिया से अवगत होना है। एक सामान्य समस्या, जिसके अंतर्गत प्रत्येक विशेष समस्या आती है, वह यह है कि हम सभी परिस्थितियों तथा दिशाओं में किस प्रकार उचित नियंत्रण करें। पूर्ण जीवन के लिए हमें तैयार करना ही ऐसा कार्य है, जिसे शिक्षा को संपन्न करना है।" वे इस आशय के शब्द लिखते हैं–"शिक्षा को हमें पूर्ण जीवन के नियमों और ढंगों से परिचित कराना चाहिए। शिक्षा का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य हमें जीवन के लिए इस प्रकार

तैयार करता है कि हम उचित प्रकार का व्यवहार कर सकें तथा शरीर, मस्तिष्क एवं आत्मा का सदुपयोग कर सकें।"

मानव-जीवन के कार्यों के प्रकार

सफल जीवन व्यतीत करने के लिए हरबर्ट स्पेंसर चाहते हैं कि बालकों को आत्मरक्षा, जीविकोपार्जन, संततिपोषण, नागरिकता और अवकाश-काल- सदुपयोग जैसे पाँच प्रकार के गुणों से सक्षम और समर्थ बनाया जाए, ताकि भविष्य में वे पूर्ण जीवन व्यतीत कर सकें। वस्तुतः वे मानव-जीवन के कार्यों के पाँच भागों में विभक्त करते हुए तदनुरूप ही शिक्षा की व्यवस्था करते हैं। शिक्षा के उद्देश्यों का प्रतिपादन भी वे मानव-जीवन के इन्हीं पाँच भागों के आधार पर करते हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित शिक्षा के ये पाँच उद्देश्य निम्नांकित हैं :

* आत्मरक्षा सम्बन्धी उद्देश्य,
* जीविकोपार्जन-सम्बन्धी उद्देश्य,
* संतति-पालन-सम्बन्धी उद्देश्य,
* नागरिकता या सामाजिक सामंजस्य-सम्बन्धी उद्देश्य,
* अवकाश-काल-सदुपयोग सम्बन्धी उद्देश्य।

परन्तु, शिक्षा में पूर्ण जीवन की कल्पना संकीर्ण है। हरबर्ट स्पेंसर की शिक्षा-योजना में आध्यात्मिक शिक्षा कोई स्थान नहीं है। स्पेंसर जड़वादी थे। उन्होंने विज्ञान को अत्यधिक महत्त्व दिया है। उनकी शिक्षा-प्रणाली में आध्यात्मिक उन्नति का विधान नहीं है।

शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य

वस्तुतः शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य मानव-जीवन का सर्वतोमुखी विकास करना है। महात्मा गांधी (1869-1948 ई.) ने शिक्षा का उद्देश्य निर्धारित करते हुए लिखा है, "शिक्षा से मेरा तात्पर्य है, शिशु एवं मानव के शरीर, मन और आत्मा में निहित सर्वश्रेष्ठ तत्त्वों का विकास।"[19] बालक शरीर, मन और आत्म-विद्या से विकसित एवं परिपुष्ट हों, यही वास्तविक शिक्षा है। बालकों और किशोरों के शारीरिक, बौद्धिक, नैतिक,

आत्मिक, आध्यात्मिक, शास्त्रीय और सामाजिक सभी गुणों का विकास होना चाहिए। हमारे विद्यार्थी नागरिकता के गुणों से युक्त संतुलित व्यक्तित्व के ऐसे चरित्रवान और सफल व्यक्ति बनें, जिन्हें अपनी संस्कृति से श्रद्धा हो। उनमें अपने अवकाश-काल को निर्माणात्मक कार्यों (Creative Work) में लगाने की क्षमता हो।

यहूदी जनजाति के प्राण महात्मा मोसेस और प्राचीन एथेन्स के भाग्य-विधाता महात्मा सोलन ने व्यक्ति के सर्वांगीण विकास की कल्पना करते हुए अपनी शिक्षा-नीति का निर्धारण किया था। कॉमेनियम ने अपने शिक्षा-दर्शन में बतलाया है–"शिक्षा मनुष्य का सम्पूर्ण विकास है।" शिक्षाशास्त्री रेमॉन्ट के अनुसार शिक्षा के वास्तविक आदर्श निम्नांकित हैं–

– शिक्षा द्वारा हमारा चरित्र-चित्रण तथा बौद्धिक और हार्दिक अनुभूतियों का विकास होता है।

– शिक्षा द्वारा हमें व्यावहारिक ज्ञानोपलब्धि हो।

– शिक्षा हमारे व्यक्तित्व के उत्कर्ष तथा सामाजिक गुणों के विकास में सर्वथा सक्षम हो।

प्लेटो का यह कथन कि "शिक्षा का मुख्य उद्देश्य व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास है–"बहुत ही समीचीन है। शिक्षा का कार्य व्यक्ति को न केवल किताबी ज्ञान (Bookish Knowledge) देना है, अपितु उनकी शारीरिक, बौद्धिक, नैतिक, भावात्मक, आध्यात्मिक और सामाजिक उन्नति करना भी है। आज हमें व्यक्ति के समग्र, सर्वांगीण और संतुलित गुणों का विकास करने वाली शिक्षा की आवश्यकता है। व्यक्तित्व का एकांगी विकास हमारा आदर्श नहीं।

भारतीय नागरिक दार्शनिक हों, वैज्ञानिक हों, शिल्पकार तथा चित्रकार हों, नीतिवान तथा सच्चरित्रवान् हों, देशभक्त तथा विश्वबन्धुत्व की भावना से वे पूर्ण हों। भारत का कल्याण तभी होगा।

राष्ट्रीय शिक्षा आयोग[20] (कोठारी कमीशन, 1964-66) ने 'शिक्षा और राष्ट्रीय आदर्श' (Education and National Objectives)

की नीति निर्धारित करते हुए अपनी अनुशंसा प्रकट की है, आयोग ने अपने विचार निम्नांकित शब्दों में प्रकट किए हैं[21] –

अर्थात् शिक्षा में बहुत महत्त्वपूर्ण सुधार यह है कि इसे जीवन और व्यक्ति की आवश्यकताओं तथा आकांक्षाओं के साथ जोड़ दिया जाए, ताकि सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तन हो सके तथा हम राष्ट्रीय आदर्शों की उपलब्धि करने में समर्थ हों।

नेशनल एजुकेशन कमीशन ने अपनी शिक्षा-नीति की उपलब्धि हेतु पंचसूत्री कार्यक्रमों का विधान किया है। पंचसूत्री कार्यक्रम इस प्रकार है–

– शिक्षा को उत्पादन के साथ जोड़ना (Education relating to Productivity) शिक्षा के माध्यम से प्रजातंत्र का संगठन करना।

– सामाजिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों का विकास करना।

– जिज्ञासा, मनोवृत्ति, मूल्यों एवं कौशल का विकास तथा समाज का आधुनिकीकरण (Modernisation) करना।

अपनी शिक्षा-नीति के निर्धारण में आज अपने ही प्राचीन भारतीय शिक्षा-प्रणाली में शिक्षा के वे सभी उद्देश्य सन्निहित थे, जिनके द्वारा हमारे पूर्वपुरुषों ने विश्व में अपनी उत्कृष्ट सभ्यता एवं संस्कृति का प्रसार एवं प्रचार किया। अपनी शिक्षा-नीति के कारण ही उन दिनों हम महान् वैभवशाली थे। उस शिक्षा-प्रणाली पर हमें सदैव गर्व है; क्योंकि वहाँ से प्रकाश की महिमामयी आभा प्रस्फुटित होती है। वह शिक्षा-प्रणाली वस्तुतः हमारी पथप्रदर्शिका है। अपनी प्राचीन शिक्षा प्रणाली से प्रेरणा प्राप्त कर हम पुनः समृद्धशाली बनेंगे।

अगले अध्याय में प्राचीन भारतीय शिक्षा-प्रणाली (वैदिक, ब्राह्मण और बौद्ध) की विशेषताओं का उल्लेख किया गया है।

शिक्षा के मुख्य उद्देश्य
(Main Objectives of Education)

शिक्षा के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं–

ज्ञान प्राप्ति के लिए शिक्षा (Education for Acquiring Knowledge)

शिक्षा को प्राय: ज्ञान के समानांतर समझा जाता है। यद्यपि ज्ञान शिक्षा नहीं है अपितु यह शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। आधुनिक सभ्यता शिक्षा के माध्यम द्वारा ज्ञान प्राप्त करके ही बनी है। सुकरात के अनुसार ज्ञान-शक्ति है। ज्ञानी पुरुष सद्‌गुणी होता है। अत: बहुत से शिक्षाशास्त्री ज्ञान प्राप्ति को शिक्षा का प्राथमिक उद्देश्य मानते हैं। ज्ञान-प्राप्ति जीवन में भौतिक एवम् मानसिक पक्ष दोनों के लिए लाभदायक है। केवल ज्ञान द्वारा ही मानवता ने प्रगति की है, मानव विकास का मापदण्ड ज्ञान की शक्ति ही है। ज्ञान द्वारा बौद्धिक प्रशिक्षण प्राप्त होता है। इससे न केवल कौशल बल्कि आत्मविश्वास और दिशा प्राप्त होती है। ज्ञान प्राप्ति से मस्तिष्क में विचारों का जन्म होता है। यह मस्तिष्क को रचनात्मक बनाता है और जीवन के सभी क्षेत्रों में सफलता का साधन है। ज्ञान के बिना व्यक्ति अंधकार में रहता है। उपनिषद् में प्रार्थना के रूप में कहा गया है कि परमात्मा हमें अंधकार से प्रकाश की ओर ले चलो। ज्ञान द्वारा हम भूमण्डल के नियमों को भली-भाँति समझ सकते हैं और अपनी व्यक्तिगत समस्याओं और आवश्यकताओं की संतुष्टि कर सकते हैं।

जीवन में शायद ही कोई ऐसा पक्ष हो ज्ञान से अछूता हो। ज्ञान द्वारा मानव ने बीमारी, भूख, अंधविश्वास और भय पर विजय प्राप्त की है। ज्ञान मानव का सामाजीकरण करके प्रसन्नता प्रदान करता है। मस्तिष्क का विकास एवम् तीव्रता, समय का वर्धन, मानसिक शक्ति का अनुशासन, ज्ञान द्वारा संभव है। अत: कोई भी शिक्षा ज्ञान के उद्देश्य के बिना अधूरी है। परन्तु ज्ञान अपने आपमें तब तक लाभदायक नहीं जब तक कि उसका प्रयोग न किया जाए। विचारों को क्रियान्वित किया जाना चाहिए जिससे चिन्तन प्रक्रिया एवम् मानव व्यवहार में परिवर्तन आए। ज्ञान और सूचना समानार्थक नहीं। एडम्स के शब्दों में विद्यालय ज्ञान बाँटने की दुकानें नहीं होनी चाहिए बल्कि ज्ञान द्वारा मस्तिष्क प्रशिक्षण उनका उद्देश्य होना चाहिए, क्योंकि ज्ञान मस्तिष्क का भोजन है जैसे

शरीर के लिए खाना जिस प्रकार से भोजन शरीर में समा जाता है इसी प्रकार ज्ञान मस्तिष्क में विचारों के रूप में समाना चाहिए ताकि मस्तिष्क का विकास हो।

वास्तव में मानव में संचित अनुभवों का संगठन ही ज्ञान है। मानव का प्रत्येक व्यवहार ज्ञान एवम् बुद्धि पर आधारित है। अत: ज्ञान प्राप्ति शिक्षा का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है। ज्ञान अपने आपमें समस्त शिक्षा नहीं है परन्तु इसका एक भाग है। इसलिए केवल इसी एक पक्ष पर बल देना बुद्धिमत्ता नहीं है। शिक्षा के अन्य उद्देश्य भी महत्त्वपूर्ण हैं। ज्ञान आवश्यक है परन्तु मस्तिष्क एवं हृदय भी विकसित होने चाहिए। वास्तविक शिक्षा ज्ञान को लाभदायक कार्यों में लगाने में निहित है। ज्ञान द्वारा हानिकारक क्रियाएँ नहीं होनी चाहिए। अत: ज्ञान शिक्षा का अन्तिम उद्देश्य नहीं, केवल एक साधन है।

संस्कृति के लिए शिक्षा (Education for Culture)

मानव संस्कृति का निर्माण करता है, उसे ग्रहण करता है। संस्कृति मानव जीवन को धनाढ्य बनाती है एवम् व्यवहार में सुधार लाती है। मानव अपने पूर्वजों के अनुभवों से सीखकर संस्कृति विरासत में परिवर्तन लाता है जिसके द्वारा संस्कृति का वर्धन होता है। जीवन का स्तर ऊँचा होता है, अत: शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए कि आने वाली पीढ़ी तक संस्कृति पहुँचाई जाए। संस्कृति द्वारा ही हमें पता चलता है कि हमारा व्यवहार सभ्य है या असभ्य है। क्या ऐच्छिक और क्या अनैच्छिक है। बुराई और भलाई में क्या अन्तर है। अत: संस्कृति को मूल्यों के संदर्भ में समझना चाहिए। संस्कृति व्यवहार के लिए मार्ग-दर्शन करती है एवं मस्तिष्क और हृदय को गुणवान् बनाती है। अत: सांस्कृतिक पक्ष ज्ञान से अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह जीवन के गुणों से सम्बन्धित है।

संस्कृति हमारे व्यवहार के प्रत्येक पक्ष में चित्रित होनी चाहिए। हमारे बचन में भी आन्तरिक संस्कृति का प्रदर्शन होना चाहिए। कोई व्यक्ति कैसे बैठता है, चलता है, बोलता है या कपड़े पहनता है,

अतिथियों के प्रति व्यवहार करता है इन सभी बातों द्वारा संस्कृति का परिचय मिलता है। संस्कृति के अन्तर्गत बहुत-सी विशेषताएँ, गुण एवं सद्‌गुण निहित हैं। एक सभ्य व्यक्ति विचारों की प्रशंसा करता है, उसकी रुचियाँ विस्तृत होती हैं, उसमें सामाजिक कुशलता होती है, वह सामाजिक रूप में स्वीकृत व्यवहार करता है। उसकी रुचियाँ, कला, हस्तकला, मृत्य, संगीत, भाषा सभी आदर्शों में विद्यमान रहती है। अत: शिक्षा को इन सभी के विकास का प्रयत्न करना चाहिए। सांस्कृतिक शिक्षा द्वारा व्यक्तित्व का विकास होता है और मानव समाज द्वारा स्वीकृत ऐच्छिक व्यवहार करता है। एक सभ्य व्यक्ति समाज के लिए मूल्यवान् होता है। सभ्य व्यक्ति दूसरों की भावनाओं को ठेस नहीं पहुँचाता, उसको अपने संवेगों पर नियन्त्रण होता है। उसकी भाषा सभ्य होती है। **व्हाइट हैड** के अनुसार शिक्षा संस्कृति एवं ज्ञान प्रदान करने वाली होनी चाहिए।

चरित्र निर्माण के लिए शिक्षा (Education for Character Formation)

प्राचीन काल से चरित्र के विकास को शिक्षा का सर्वोत्तम उद्देश्य माना गया है। गाँधी जी के अनुसार-चरित्र निर्माण, साहस का विकास, सद्‌गुणी व्यवहार का निर्माण शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए। यदि एक व्यक्ति चरित्रवान् है तो समाज चरित्रवान् है। चरित्र न केवल व्यक्ति बल्कि समस्त समाज का गुण है। अत: अध्यापक का अन्तिम उद्देश्य न केवल ज्ञान देना या शारीरिक विकास करना बल्कि चारित्रिक शक्ति का विकास करना है। रेमण्ट नैतिक उद्देश्यों को शिक्षा के उद्देश्यों में प्राथमिकता देता है। चारित्रिक विकास में ही शिक्षा का वास्तविक अर्थ निहित है। यदि शिक्षा बालकों में चरित्र का विकास करने में असफल रहती है तो उसका उद्देश्य पूरा नहीं होता। स्वामी विवेकानन्द का कथन है कि हमें वह शिक्षा चाहिए जिससे चरित्र का निर्माण हो, मस्तिष्क का विकास हो और जिसके द्वारा व्यक्ति अपने पैरों पर स्वयं खड़ा हो सके चरित्र ज्ञान को कार्यान्वित करने में सहायक होता है। जीवन के उच्च

मूल्यों की प्राप्ति ही चरित्र है। इच्छा शक्ति का प्रशिक्षण, मस्तिष्क पर नियन्त्रण, नैतिकता की शक्ति चरित्र के गुण हैं। मानव केवल शरीर नहीं, केवल बुद्धि नहीं बल्कि दोनों का मिश्रण है। मस्तिष्क का उचित विकास नैतिकता एवं चरित्र द्वारा ही संभव है। चरित्र में प्रत्येक सद्गुण सम्मिलित है। अत: शिक्षा का उद्देश्य सांवेगिक एवं नैतिक विकास होना चाहिए। एक अच्छा इंजीनियर या डाक्टर बेकार है यदि उसमें नैतिकता एवं हृदय के गुण नहीं हैं। वास्तविक शिक्षा मानव निहित सद्गुण एवं पूर्णता का विकास करती है।

हरबर्ट के अनुसार केवल शिक्षा ही नहीं परन्तु चरित्र मानव की रक्षा करता है, उच्च चरित्र एक धन है। अत: चरित्र का विकास शिक्षा का अंतिम उद्देश्य होना चाहिए। चरित्र के अभाव में ही समाज अपनी प्रगति के रास्ते भटक जाता है। **पंडित नेहरू** के अनुसार सहनशीलता एवं नैतिकता के बिना भौतिक धन बेकार है। कहावत है कि, "धन गया तो कुछ नहीं गया, स्वास्थ्य गया तो कुछ गया परन्तु यदि चरित्र गया तो सब कुछ गया।" इंग्लैण्ड की कहावत है कि, "वाटरलू का युद्ध एटन स्कूल के खेल के मैदानों में जीता गया था।" परन्तु नैतिक जीवन का सामाजिक संदर्भ होता है। अत: प्रत्येक शैक्षिक संस्थाओं को ऐसा वातावरण बनाना चाहिए जिसके द्वारा छात्रों में चरित्र का निर्माण हो। अध्यापक स्वयं चरित्रवान् हों ताकि बालकों के लिए उदाहरण बन सकें।

व्यवसाय के लिए शिक्षा (Education for Profession)

वह शिक्षा व्यर्थ है जो रोटी न दे सके। शिक्षा का व्यावसायिक पक्ष महत्त्वपूर्ण है। रोटी, कपड़ा और मकान मानव की मूल भूत आवश्यकताएँ हैं, शिक्षा को जीवन के इस तथ्य की अनदेखी नहीं करनी चाहिए। आर्थिक स्वतंत्रता प्रत्येक छात्र के लिए इस तथ्य की अनदेखी नहीं करनी चाहिए। आर्थिक स्वतंत्रता प्रत्येक छात्र चाहता है। शिक्षा को चाहिए कि प्रत्येक बालक को इस योग्य बनाए कि वह अपनी जीविका स्वयं बना सके। तीव्र गति से तकनीकी एवम् औद्योगिक

विकास व्यावसायिक उद्देश्य पर आधारित है। यदि भारत विकसित देशों के साथ चलना चाहता है और अपने आर्थिक पिछड़ेपन को दूर करना चाहता है और उद्योगों का आधुनिकीकरण करना चाहता है तो प्रत्येक व्यक्ति को व्यावसायिक रूप से कुशल होना चाहिए। देश को हर प्रकार से कुशल नागरिक चाहिए। शिक्षा तभी सार्थक बनती है जब वह प्रत्येक विद्यार्थी को किसी कार्य के योग्य बनाती है। अतः शिक्षा का व्यावसायीकरण प्रगति के लिए न केवल ऐच्छिक है बल्कि एक अनिवार्य शर्त है। प्रत्येक क्षेत्र में व्यावसायीकरण होना चाहिए। भारत एक कृषि प्रधान देश है, अतः कृषि के आधुनिकीकरण में ही देश की सामाजिक, आर्थिक प्रगति आधारित है। इसी पर देश के लोगों के रहन-सहन का स्तर निर्भर करता है। अभी तक हमारी शिक्षा प्रणाली में व्यवसाय की ओर ध्यान नहीं दिया गया और यही कारण है कि देश पिछड़ा हुआ है। शिक्षा में औपचारिकता एवं मौखिकता को दूर करने के लिए व्यावसायीकरण और कार्यानुभव आवश्यक है।

शारीरिक कार्य पुस्तकीय शिक्षा से छुटकारा दिलाता है और शिक्षा को सार्थक एवं जीवन आधारित बनाता है। अविकसित देश आर्थिक विसंगतियों में पड़े हैं। वहाँ धनी और निर्धन में बहुत बड़ी दरार है। यदि प्रत्येक नागरिक को समाज को अच्छा सदस्य होने के साथ अच्छा जीवन व्यतीत करने का अवसर देना है तो उन्हें किसी व्यवसाय में डालकर राष्ट्रीय विकास की प्रक्रिया में सहभागी बनना चाहिए। छात्र-छात्राओं को समाज पर बोझ बनकर नहीं रहना चाहिए। प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति से आशा की जाती है कि वह अपनी जीविका स्वयं कमाएगा। गांधी जी ने भी शिक्षा की बेसिक प्रणाली द्वारा हस्तकला या कार्याधारित शिक्षा प्रणाली पर बल दिया। उन्होंने आत्मनिर्भरता को शिक्षा का महत्त्वपूर्ण आधार माना। शिक्षित व्यक्ति को आर्थिक रूप से असहाय नहीं होना चाहिए। ऐसा व्यक्ति जो कार्य नहीं करता चिंतित रहता है, उसे चिंतन की स्वतंत्रता नहीं मिलती और वह जीवन में सदा दास बना रहता है।

आज के औद्योगिक युग में शिक्षा का व्यावसायीकरण महत्त्वपूर्ण है। यह एक मनोवैज्ञानिक एवम् सामाजिक आवश्यकता है। प्रत्येक व्यक्ति में कुछ-न-कुछ करने की प्राकृतिक लगन होती है और शिक्षा को चाहिए कि उसकी इस इच्छा की संतुष्टि करे ताकि वह अपनी योग्यताओं एवम् क्षमताओं को पूर्णतया दर्शा सके। गांधी जी के शब्दों में सच्ची शिक्षा बेरोजगारी के विरुद्ध बीमे के रूप में होनी चाहिए। यदि हम बालकों को राष्ट्र विरोधी एवम् अनैतिक कार्यों से बचाना चाहते हैं तो उन्हें शिक्षा काल में किसी न किसी कार्य के लिए प्रशिक्षण अवश्य देना चाहिए ताकि वे सामाजिक रूप से लाभदायक उत्पादन कार्य में लग सकें। कोठारी आयोग ने भी एस.यू.पी.डब्ल्यू. (S.U.P.W.) पर बल दिया है। उन्होंने शिक्षा को कार्याधारित बनाने पर बल दिया है और यू.जी.सी. के निर्देशन में इस कार्य के लिए आर्थिक सहायता भी जुटाई ताकि देश के बहुत से महाविद्यालयों में व्यावसायिक पाठ्यक्रम चलाया जा सकें। कार्य-अनुभव को शिक्षा का अभिन्न अंग बनाया जाना चाहिए ताकि पुस्तकीयता पर बल कम हो, परन्तु केवल व्यावसायिक उद्देश्य ही काफी नहीं है। यह उद्देश्य संकुचित है। जीविका कमाना जीवन का एक भाग है। केवल खाना, पीना और सो जाना जीवन नहीं। मानव केवल शरीर नहीं बल्कि बुद्धि, आत्मा, मस्तिष्क और संवेग भी रखता है। उसके बौद्धिक और नैतिक पक्ष का भी विकास होना चाहिए। मानव का सम्पूर्ण विकास आवश्यक है। वे राष्ट्र जो केवल शिक्षा के एक पक्ष पर बल देते हैं। उनकी शिक्षा प्रणाली अधूरी रह जाती है। व्यावसायिक पक्ष व्यक्तित्व का एक भाग है, परन्तु जीवन को और सम्पूर्ण बनाने के लिए दूसरे पक्षों का विकास भी आवश्यक है।

सम्पूर्ण जीवन के लिए शिक्षा (Education for Complete Life)

शिक्षा के सभी उद्देश्य अपने आपमें सम्पूर्ण नहीं हैं। वे केवल भाग हैं जो जीवन के किसी एक पक्ष पर बल देते हैं, जैसे—व्यक्तिगत विकास, नैतिक विकास, आर्थिक विकास, आध्यात्मिक विकास आदि। परन्तु जीवन को इस प्रकार नहीं बाँटा जा सकता है। वास्तव में शिक्षा

का कोई अन्तिम उद्देश्य अपने आपमें सम्पूर्ण नहीं। इन सभी उद्देश्यों में कुछ-न-कुछ है, परन्तु किसी एक में सब कुछ नहीं। इसलिए स्पैन्सर शिक्षा में एक व्यापक उद्देश्य अर्थात् सम्पूर्ण जीवन के सभी पक्षों में सम्पूर्ण विकास का समर्थन करता है। शिक्षा को चाहिए कि वह बालक को जीवन की सभी समस्याओं का सामना करने के योग्य बनाए। शिक्षा को चाहिए कि वह ज्ञान, कौशल, साहस आदि प्रदान करें और यह बताए कि किस प्रकार हम व्यवहार करें और अपना जीवन व्यतीत करें। जींवन को सुखदायी बनाएँ और अपनी योग्यताओं का अपने और दूसरों के लिए लाभदायक प्रयोग करें। अतः हमें देखना चाहिए कि शिक्षा किस हद तक हमें सम्पूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए तैयार करती है। स्पैन्सर ने शिक्षा में पुस्तकीयता का खण्डन किया है और इन क्रियाओं का समर्थन किया है। जैसे—आत्म सुरक्षा को बढ़ावा देने वाली क्रियाएँ, अपने परिवार को चलाने वाली क्रियाएँ, अपने सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक संबंधों को चलाने वाली क्रियाएँ और भावनात्मक विकास करने वाली क्रियाएँ। इन सभी क्रियाओं के लिए विभिन्न विषय होने चाहिए। इन सभी क्रियाओं के लिए विभिन्न विषय होने चाहिए। इन क्रियाओं में सफलता के पश्चात् व्यक्ति आगामी जीवन के लिए तैयार हो जाता है।

एन्डरसन के अनुसार शिक्षा का समस्त उद्देश्य वैज्ञानिक, यथार्थवादी, सामाजिक, आर्थिक, नैतिक, बौद्धिक एवम् संवेगात्मक सभी पक्षों पर बल देता है जो कि जीवन की आवश्यकताओं के लिए आवश्यक हैं। जीवन एक जटिल प्रक्रिया है और जीवन को जीने की कला सिखाना शिक्षा का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य होना चाहिए। कितनी सफलता से कोई व्यक्ति जीवन में अपनी भूमिका निभाता है वह उसकी शिक्षा पर निर्भर करता है। अतः शिक्षा को शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक प्रशिक्षण पर बल देना चाहिए। शक्तिवान् शरीर, तीव्र बुद्धि, कुशलता और अच्छी आदतें व्यक्ति को संतुलित बनाती हैं। इनसे चरित्र का निर्माण भी होता है। व्यक्ति को एक अच्छा चिन्तक, एक अच्छा कार्यकर्त्ता, एक अच्छा दार्शनिक होना चाहिए। इसी प्रकार के व्यक्ति

एक अच्छे समाज का निर्माण करते हैं। अपने चिन्तन को अपने कार्य में ढालना आवश्यक है। समस्त शिक्षा कार्य से आरंभ होनी चाहिए और वहीं समाप्त होनी चाहिए। कार्य ही पूजा है और व्यक्ति को कार्य द्वारा इस पूजा के लिए तैयार होना चाहिए। जीवन एक कला है जो शिक्षा सिखाती है। जीवन की कला सद्व्यवहार में है। शिक्षा को चाहिए कि वह प्रत्येक एवं समाज की अन्तिम भलाई करे। शिक्षा किसी एक पक्ष के विकास पर अधिक बल देकर दूसरे पक्ष की अवहेलना नहीं कर सकती।

आधुनिक भारत में शिक्षा का उद्देश्य (Aims of Education in Modern India)

कोठरी आयोग का कथन है कि, "भारत का भविष्य स्कूल की कक्षा के रूप में ले रहा है। यह असत्य नहीं। विज्ञान एवम् तकनीकी युग में शिक्षा ही जीवन स्तर का निर्णय करती है। विद्यालय से निकले हुए छात्रों के व्यक्तित्व के गुणों पर ही राष्ट्रीय पुनर्निर्माण आधारित है, जिसका मुख्य उद्देश्य लोगों का जीवन-स्तर ऊँचा करना है।"

देश की जनसंख्या बढ़ रही है। लगभग 50 प्रतिशत लोग गरीबी की रेखा से नीचे हैं। अधिकांश अशिक्षित हैं और बेरोजगार हैं। बीमारी, भूख, अज्ञान अंधविश्वास से लोग दबे हुए हैं। देश में जातिवाद, क्षेत्रीयवाद, भाषावाद बढ़ते जा रहे हैं। प्राचीन मूल्य जो समाज को एकजुट रखते थे, छिन्न-भिन्न होते जा रहे हैं। नवीन मूल्यों का निर्माण नहीं हो सकता है। सामाजिक जिम्मेदारी की भावना दिखायी नहीं देती। सामाजिक असंगठन बढ़ता दिखायी देता है। कुछ समस्याएँ निरन्तर बढ़ती जा रही हैं:-आर्थिक समस्या, सामाजिक समस्या, राष्ट्रीय एकता की समस्या, राजनैतिक स्थिरता की समस्या, मूल्यों में गिरावट, नैतिक शक्ति की कमी आदि। इन सभी समस्याओं का समाधान मानव संसाधनों के विकास पर निर्भर करता है। देश की आकांक्षाओं की प्राप्ति के लिए ज्ञान, कौशल, रुचि एवम् मूल्यों में परिवर्तन करने की आवश्यकता है। शिक्षा और राष्ट्रीय विकास एक दूसरे पर निर्भर करते हैं। यह संबंध

तभी स्थिर रह सकता है जब राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली भली-भाँति संगठित हो। यह विचार कि सभी प्रकार की शिक्षा अच्छी है और व्यक्ति और समाज को प्रगति की ओर ले जाएगी, गलत है।

सामाजिक न्याय के उत्थान के लिए शिक्षा आवश्यक है। इतिहास साक्षी है कि बहुत से देश अशिक्षित होने के कारण पिछड़े रह गए और दूसरी ओर शिक्षा द्वारा जिन देशों में सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक क्रांति आई है उससे देश के लोगों का जीवन स्तर ऊँचा हुआ है। अत: प्रत्येक नागरिक को शिक्षा के अवसर की समानता होनी चाहिए और शिक्षा को प्रत्येक बालक में निहित शक्तियों को विकसित करना चाहिए ताकि राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान हो सके शिक्षा का स्तर भी ऊँचा होना चाहिए। विश्वविद्यालय शिक्षा, जो उच्च प्रकार की मानवशक्ति को विकसित करती है, देश के उत्पादन और आर्थिक विकास में सहायक होती है। इसके विपरीत ऐसी शिक्षा प्रणाली जो बेरोजगार नवयुवक पैदा करती है, बेकार है और आर्थिक विकास में बाधा है। केवल सही रूप में और सही दिशा में दी गयी शिक्षा राष्ट्रीय विकास की ओर ले जा सकती है।

इस दृष्टिकोण से तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली जो परम्परागत मूल्य के संकुचित दायरे में बंधी हुई है, देश के उद्देश्य को पूरा नहीं कर सकती, उसमें मूल परिवर्तन लाने के उद्देश्य को पूरा नहीं कर सकती, उसमें मूल परिवर्तन लाने की आवश्यकता है ताकि एक आधुनिक लोकतांत्रिक समाजवादी समाज की स्थापना की जा सके। इस दिशा में न केवल शिक्षा के उद्देश्यों बल्कि शिक्षा के समस्त कार्यक्रम एवं अध्यापकों के दृष्टिकोण और शैक्षिक संगठन में परिवर्तन लाना होगा। वास्तव में शिक्षा में क्रांति की आवश्यकता है। ताकि वह सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विकास ला सके, लोगों के जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। जीवन स्तर ऊँचा कर सके, प्रत्येक को शिक्षा की सुविधा प्राप्त हो। कोठारी आयोग के शब्दों में शिक्षा के जीवन के साथ, लोगों की आकांक्षाओं के साथ जोड़ने की आवश्यकता

है ताकि वह सामाजिक परिवर्तन के लिए एक शक्तिशाली साधन बन सके। शिक्षा उत्पादन से जुड़ी होनी चाहिए, उसे राष्ट्रीय और सामाजिक संगठन सुदृढ़ करना चाहिए, लोकतंत्र की जड़ें गहरी करनी चाहिए, आधुनिकीकरण की प्रक्रिया तीव्र करनी चाहिए और चारित्रिक विकास करके नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की सुरक्षा करनी चाहिए। यह सभी पक्ष अन्तः निर्भर हैं और देश के सामाजिक परिवर्तन एवं विकास में इन सभी उद्देश्यों की प्राप्ति आवश्यक है।

शिक्षा के प्रकार (Type of Education)

बालक की शिक्षा के दो प्रमुख प्रकार है : (1) औपचारिक (Formal) और अनौपचारिक (Informal) शिक्षा के औपचारिक प्रकार में परिवार, मित्रवर्ग, समाज, धार्मिक संस्थाएँ, पुस्तकालय, वाचनालय, सिनेमा तथा रेडियो आदि के नाम है। वैधानिक साधनों के अन्तर्गत स्कूल, कॉलेज, प्रशिक्षण-केन्द्र, सामाजिक शिक्षा-केन्द्र, रात्रि-पाठशाला आदि नाम उल्लेखनीय हैं।

औपचारिक (Formal)

परिवार (घर) : बालक के व्यक्तित्व-निर्धारण में परिवार (घर) का बहुत बड़ा हाथ है। परिवार एक ऐसा स्थान है, जहाँ प्रथमतः बालक का भावनात्मक विकास होता है। उनमें सामाजिकता का उदय सर्वप्रथम परिवार में ही होता है। प्रेम, उदारता, श्रद्धा, आत्मीयजनों के प्रति सद्व्यवहार, अभिवादन (Greeting) तथा शिष्टता-प्रदर्शन के अन्य ढंग, वी-फीलिंग (we-feeling) की भावना आदि विभिन्न सद्गुण तथा स्थार्थपरता, चोरी, हठ, असत्य बोलना अथवा इस प्रकार के अन्य दुर्गुण भी बालक सर्वप्रथम घर में ही सीखता है। बालक की रुचियों, मानसिक झुकावों, धार्मिक आस्था, रहने, खाने-पीने, उठने-बैठने की आदत आदि का निर्माण भी सर्वप्रथम घर में ही होता है।

इंग्लैण्ड के सुप्रसिद्ध दार्शनिक बर्ट्रेंड रसेल अपनी पुस्तक 'ऑन एजुकेशन' में बालक की शिक्षा का प्रारंभ काल उसकी एक वर्ष

की अवस्था से मानते हैं। उनका विचार यह है कि बालक एक वर्ष की अवस्था में ही उन गुणों-अवगुणों को धारण कर लेते हैं, जिनसे उनका भावी जीवन प्रभावित होता है। अनेक जटिल आदतें इसी अवस्था में पड़ जाती हैं। अतः बालकों में आत्मसंयम, वीरता की आदत उनकी एक-दो वर्ष की अवस्था में ही डाली जा सकती है।

परिवार में आत्म-प्रकाशन के कार्य का प्रलोभन मिलने पर बालक वीर पुरुष बनते हैं और जहाँ छोटी-छोटी बातों के लिए माता-पिता द्वारा झिड़की और डांट मिलती है, अच्छे काम या अच्छी बातों के लिए भी कोई प्रोत्साहन नहीं मिलता, माता-पिता या अन्य अभिभावक बालकों के प्रति उदासीनता का भाव प्रदर्शित करते हैं, उस परिवार के बच्चे कायर, दब्बू और बुद्धू बन जाते हैं। उनका भावी व्यक्तित्व कुसंयोजित (Maladjusted) हो जाता है।

घर के वातावरण में बालक की मूल-प्रवृत्तियों को संतुष्ट होने का अवसर मिलता है। परिस्थिति क अनुसार ही ये मूल-प्रवृत्तियाँ सामाजिकता प्राप्त करती है। घर का वातावरण बालक की इच्छाओं तथा भावनाओं को शिक्षित करता है। घर का आदर्श जीवन ही उसके पथ-प्रदर्शन का कार्य करता है। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर अपनी बाल्यावस्था में अपने पिता को ध्यानावस्थित मुद्रा में देखा करते थे। इस दृश्य ने उनके भावी जीवन को बहुत प्रभावित किया था। इन पंक्तियों का लेखकद्वय अपने दादा स्व. हरिप्रसाद और श्रद्धेय के.पी. पाण्डेय के धार्मिक और सरल जीवन से बहुत प्रभावित हुआ है। ईश्वर में उनकी अटूट आस्था थी। उनका चरित्र अत्यन्त उच्चकोटि का था। उनके इन गुणों ने बाल्यावस्था से ही प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में हमारे मस्तिष्क पर छाप छोड़ी है।

घर की अच्छी-बुरी परिस्थितियाँ बालक के मस्तिष्क को आन्दोलित करती हैं और उनके वर्तमान और भावी जीवन के निर्माण में सहायक होती हैं। अतः यह बहुत आवश्यक है कि बालक के घर का वातावरण आदर्श और अनुकरणीय हो। बुरी परिस्थितियों में बालक

स्वतः उनके समान बन जाएगा। जिस परिवार में माता-पिता अथवा सगे-सम्बन्धियों का पारस्परिक सम्बन्ध दूषित होता है, वहाँ के बालकों का मस्तिष्क भी तदनुरूप ही निर्मित होता है। ऐसी ही विषम परिस्थितियों में जीवनयापन करने वाले बालक पीछे 'जटिल बालक' (Problem Child) की संज्ञा से विभूषित किए जाते हैं।

शैशवकाल के ही संस्कार बालक के अवचेतन मन में स्थान ग्रहण कर लेते हैं। ये संस्कार विचारों की वृद्धि होने पर भी मन से बाहर नहीं निकलते। जिन बातों को कोई व्यक्ति सोच-विचार कर ग्रहण करता है, उनको वह इच्छानुकूल छोड़ भी सकता है। परन्तु जिन बातों को वह सोचने की शक्ति के उदय के पूर्व ग्रहण करता है, उन्हें यत्न करने पर भी नहीं छोड़ पाता। बालक के शैशवकाल के एकत्रित संस्कार उसके भावी जीवन में बहुत शक्तिशाली होते हैं। अतः, माता-पिता का आवश्यक कर्त्तव्य है कि बालकों को उस वातावरण से अलग रखें, जिसमें ऐसे संस्कार मस्तिष्क और हृदय पर असर डालते हैं। छत्रपति शिवाजी को इतिहासप्रसिद्ध बनाने में उनकी सुशिक्षिता माता जीजाबाई को ही बहुत बड़ा श्रेय उपलब्ध है। बालकों के शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक आदि अंगों के पूर्ण विकास के लिए घर में अनुकूल परिस्थितियों की योजना करना अत्यन्त आवश्यक है।

परिवार में बालक का स्थान महत्त्वपूर्ण होना चाहिए। वह परिवार का प्रमुख अंग है। वहाँ उसे आत्मीयता, सौहार्द्रपूर्ण स्नेह और सहानुभूति की उपलब्धि होनी चाहिए। उनके प्रति वयस्कों का व्यवहार स्नेह और सहानुभूतिपूर्ण हो, साथ-ही-साथ यह परम्परागत नियम और सांस्कृतिक अनुकूलता के विरुद्ध भी नहीं जाए। अत्यन्त प्रेम-प्रदर्शन से भी बालकों के लिए उचित नहीं है, जितना इसके सर्वथा अभाव में। अतः, मध्यम मार्ग का अनुसरण किया जाए।

इसके साथ ही हमें सर्वदा स्मरण रखना होगा कि बालक सर्वदा बालक है, वयस्क और बालक के व्यवहार में अवश्य अन्तर होगा। बच्चों से उन व्यवहारों की आशा करना अथवा वैसे गुणों की अपेक्षा

करना, जैसा हम स्वत: करते हैं, संगत नहीं मालूम पड़ता। अत:, तदनुरूप ही उनके साथ बर्ताव किया जाए। बहुत परिवारों में भाई और बहन में अन्तर किया जाता है, इससे लड़कियों पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। माता-पिता अथवा किसी भी अभिभावक के लिए ऐसा व्यवहार अशोभनीय तो है ही, सामाजिक पाप भी है। घर के प्रत्येक बच्चे के प्रति वयस्कों का व्यवहार समान हो, ताकि वे अपने अन्दर किसी प्रकार की कोई कमी नहीं अनुभव करें।

व्यवहार एक बहुत सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक तत्त्व है; इसका प्रभाव बड़ा भी सूक्ष्म और स्थायी होता है। किसी के प्रति किया हुआ हमारा सद्व्यवहार और दुर्व्यवहार उसे सर्वदा स्मरण रहता है। परिवार के सभी बालक यद्यपि समान स्नेह, सहानुभूति के अधिकारी हैं, तथापि उनके व्यक्तित्व में विभिन्नता होती है। उनकी रुचि और अरुचि समान नहीं होती। अत:, उनके वैयक्तिक विकास के लिए वैयक्तिक विभिन्नता के अनुरूप शिक्षा की व्यवस्था करना परिवार का आवश्यक कर्त्तव्य है। इसके अतिरिक्त परिवारिक परम्पराओं एवं मूल आदर्शों को बालकों में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करना भी परिवार का ही कर्त्तव्य है।

सद्गुणों एवं अच्छी आदतों के निर्माण के लिए कई मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों और प्रयोगों की सहायता भी आवश्यक है। कुछ सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :-

बालक अनुकरण के आधार पर बहुत ज्ञान ग्रहण करते हैं, अत: परिवार के वयस्कों का आवश्यक कर्त्तव्य है कि अपने उन दुर्गुणों को अवश्य छोड़ दें, जिनसे बालकों को रहित देखने की उनकी तीव्र इच्छा है। अगर वे चाहते हैं कि उनके बालक उषाकाल में शय्या-त्याग करें और नित्य कर्मों ये निवृत्त होकर ईश-प्रार्थना के पश्चात् अपने दैनिक कर्मों में लगे, अपने सामयिक कार्यों को सुचारू रूप से सम्पन्न करें, शिष्टता और शालीनता बरतें, तो सर्वप्रथम उन्हीं का यह आवश्यक कर्त्तव्य है कि इस प्रकार के व्यवहार द्वारा बालकों के समक्ष उदाहरण प्रस्तुत करें। बालकों को उत्साहित करके, उनकी प्रशंसा द्वारा अथवा

अन्य इसी प्रकार के उपकरणों के आधार पर उन कष्टपूर्ण आदतों को भी धारण कराया जा सकता है, जिनसे उनका भावी जीवन सुखद और आनन्दपूर्ण होगा।

जो कार्य पुनः किया जाए, असफल होने पर भी सफलता की प्राप्ति की चेष्टा की जाए, तो उसमें प्रायः सफलता मिल जाती है। आदतों के निर्माण में भी यही मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त लागू है। बालकों में अच्छी आदतें डालने के लिए उनसे आवश्यक कार्य बार-बार कराया जाए; क्योंकि अभ्यास आदत डालने का सामान्य नियम है।

अच्छी आदत डालने का दृढ़ निश्चय भी सफलता प्राप्ति में सहायता करता है। किसी काम को दृढ़निश्चयी होकर प्रारंभ करने में सहायता मिलती है। कहावत है "Well begun is half done" जो कार्य सुचारू रूप से प्रारम्भ किया जाता है, उसमें आधी सफलता तो तत्काल ही मिल जाती है। छोटा बालक तो स्वयं अपने मन में इस प्रकार का निश्चय करने में असमर्थ होता है, परन्तु अभिभावकों द्वारा उसे ऐसा करने को प्रोत्साहित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त कुछ बड़े बालकों को अच्छी आदतों के लिए निश्चयपूर्वक अभ्यास करने के लिए प्रेरित करने से भी इस उद्देश्य में सफलता होगी। एक बार एकाग्र मन होकर किसी आदर्श के अनुसार कार्य करने की आदत लग जाने पर वह चरित्र का अंग बन जाती है।

मित्रवर्ग (Friend Circle)

बालकों और किशोरों के जीवन-निर्माण में उनके मित्रों का बहुत बड़ा हाथ होता है। उनके मित्रवर्ग का चरित्र, व्यवहार, दैनिक कार्यों की रूपरेखा आदि बड़े ही सूक्ष्म ढंग से उनके मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव छोड़ते हैं। बालक और किशोर उनके बहुत अच्छे-बुरे गुणों का अनुकरण करते हैं और अपने भावी जीवन का कार्यक्रम भी तदनुरूप ही बनाने की चेष्टा करते हैं। कतिपय अवसरों पर ऐसा देखा गया है कि मित्रवर्ग के प्रभाव के फलस्वरूप बालक का सम्पूर्ण व्यक्तित्व प्रभावित हुआ।

माता-पिता अथवा अन्य अभिभावकों और शिक्षकों का यह आवश्यक कर्त्तव्य है कि इस बात का सर्वदा सावधान रहें कि उनके बालक किस प्रकार की संगति में अपने अवकाश का समय व्यतीत करते हैं; क्योंकि संभव है, निर्माण की अवस्था में मित्रवर्ग के ही कारण उनका समस्त जीवन उन दुर्गुणों का शिकार हो जाए, जो समाज में अशोभनीय है और जिनके प्रतिकार स्वरूप बहुत बड़ा मूल्य चुकाना पड़ता है।

बालक अपने साथियों की सहायता से चरित्र और व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं, जीवन आदर्श निर्धारित करते हैं और सद्विचारों की वृद्धि करते हैं। इसके अतिरिक्त कार्यक्षमता, शिष्टता, रहन-सहन के अन्य आवश्यक गुण भी वे अपने मित्रवर्ग से सीखते और सिखलाते हैं। भाषा के विकास में भी संगी-साथियों की छाप पड़ती है। अतः बालकों के मानसिक स्वास्थ्य एवं समाजिकरण की उपलब्धि तथा वृद्धि के लिए उनका मित्र समाज में रहना आवश्यक है। इनसे उनको अलग रखना भी हानिकारक है।

बालक अपने बाल समाज में रहकर अनेक प्रकार के रचनात्मक कार्य करते हैं। इन रचनात्मक कार्यों से उनकी कार्यक्षमता तो बढ़ती ही है, अनेक प्रकार की मानसिक शक्तियों को विकसित होकर पुष्ट होने का भी अवसर मिलता है। जो कार्य बालक अथवा किशोर अपनी मित्रमंडली में प्रसन्नतापूर्वक करेंगे, उसी को अलग रहकर अथवा दूसरों के कहने के भार स्वरूप मानेंगे। 'प्रोजेक्ट विधि' में इसी भावना की लहर व्याप्त है।

मित्रवर्ग में रहने के कारण बालकों में अनेक मानसिक रोग प्रादुर्भूत नहीं हो पाते। वहाँ सामाजिकता की अभिवृद्धि के फलस्वरूप चरित्र और मन इस प्रकार गठित हो जाते हैं कि मानसिक ग्रन्थियों की अनायास ही समाप्ति हो जाती है। बालकों के दृष्टिकोण में जनजीवन के प्रति ही नहीं, अपने-आपके प्रति भी परिवर्तन हो जाता है। उनमें स्वच्छन्द भावना का प्रस्फुटन होता है और वे क्रमशः मानव-समाज के

गुण-अवगुण को परखने की क्षमता प्राप्त करते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान ने यह सिद्ध किया है कि मनुष्य में अनेक मानसिक रोगों के कारण उनके उस जीवन से वंचित होना है, जिसमें वे अपने समवयस्क सहपाठियों के साथ जीवन व्यतीत कर सकते थे, अपने अवकाश के समय को स्वच्छन्दतापूर्ण वार्तालापों या कार्यकलापों के आधार पर विशेष सुरुचिपूर्ण बना सकते थे।

समाज (Society)

समाज शिक्षा का एक प्रबल और शक्तिशाली साधन है। घर या परिवार के बाद बालक के विकास पर समाज का ही व्यापक प्रभाव पड़ता है। वस्तुत: परिवार भी समाज का ही एक अंग है। शिशु के लिए तो परिवार भी उसका समाज है, परन्तु कुछ बड़ा होने पर बालक घर के अतिरिक्त पड़ोस और मुहल्ले के लोगों के साथ सम्पर्क स्थापित करता है, उनके साथ भावनाओं का आदान-प्रदान करता है तथा अपनी उम्र के बच्चों के साथ खेलता और मनोविनोद करता है। उस समय वह अपने घर से ही प्रभावित नहीं होता; अपितु जितने बालक उसके साथ खेलकूद में भाग लेते हैं, उनके परिवारों का प्रभाव भी उसके मन पर पड़ता है।

अन्य परिवार के बालकों से सम्पर्क होने के कारण वह उन परिवारों की मान्यताओं, कल्पनाओं तथा रहन-सहन की क्रियाओं से परिचित होता है और इसी स्थल से सामाजिक जीवन को समझने की उसकी क्रिया प्रारंभ होती है। उम्र के विकास के क्रम में बालक टोले-मुहल्ले और पड़ोस के अतिरिक्त पूरे गाँव या नगर के मुहल्ले के बालकों और वयस्कों के सम्पर्क में आता है और किसी-न-किसी रूप में उनसे उसका जीवन प्रभावित होता है।

समाज के व्यापक प्रभाव से शनैः-शनैः बालक की जीवनधारा में इस प्रकार के मोड़ आते हैं, जिनका आभास भी नहीं हो पाता। रहन-सहन की विधि, विश्वास, धार्मिक मान्यताएँ, रीति-रिवाज आदि सभी बातें समाज के माध्यम से ही हमारे जीवन में स्थान पाती हैं। हमारे

व्यवहार, आचरण तथा नैतिकता आदि में समाज की छाप स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित होती है। हम अपने आसपास-की चीजों को उन्हीं नामों से जानते हैं, जो समाज में प्रचलित हैं। हमारी भाषा वही होती है, जो हमारे समाज की भाषा है। भाषा की शिक्षा के लिए समाज के माध्यम से श्रेयस्कर दूसरा कोई साधन नहीं है। हमारी आदतों तथा चरित्र का स्वरूप भी बहुत सीमा तक सामाजिक वातावरण के प्रभाव से ही निर्धारित होता है। वस्तुत: व्यक्ति की शिक्षा में समाज को बहुत बड़ा श्रेय उपलब्ध है।

धार्मिक संस्थाएँ (Religious Institutions)

धार्मिक संस्थाएँ बालकों के जीवन पर व्यापक प्रभाव डालती हैं। इनके द्वारा बालकों के नैतिक, धार्मिक, सामाजिक आदि गुणों का विकास होता है। बालक अपने माता-पिता के साथ मन्दिरों, धार्मिक सभा-सम्मेलनों, धार्मिक स्थानों आदि में जाते हैं अथवा अन्य धार्मिक कृत्यों, पूजा-पाठ, ईश-प्रार्थना आदि में भाग लेते हैं, जिससे उनका मस्तिष्क प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होता है। इन कृत्यों के फलस्वरूप उन्हें अहिंसा, सरलता, उदारता आदि गुण सीखने को मिलते हैं।

ईश-प्रार्थना के पदों द्वारा उनमें सुन्दर भावों का प्रादुर्भाव तो होता ही है, अन्य कई दुर्गुणों का परिष्कार भी होता है। एक साथ बैठकर पूजा-भजन-कीर्तन में भाग लेने से बालक में अनुशासन तथा सामाजिकता के गुणों का उदय होता है। इस दृष्टि से धार्मिक संस्थाएँ समाज का बहुत उपकार करती है। वस्तुत: इनको सामाजिक शिक्षा का मौलिक साधन समझना चाहिए। धार्मिक संस्थाओं से बालक वयस्क, प्रौढ़ और वृद्ध होने पर भी शिक्षा ग्रहण करता है।

आज के युग पर वैज्ञानिक प्रभाव छाया हुआ है, फलस्वरूप शिथिलता आ गई है। शिक्षा के इस महान् और पवित्र साधन के उन्नयन के लिए प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति को उन्मुख होने की आवश्यकता है। प्राचीन भारत में शिक्षा प्रदान करने के लिए धार्मिक संस्थाओं को प्रमुख स्थान दिया जाता था।

पुस्तकालय तथा वाचनालय (Library and Reading Rooms)

शिक्षा के सहज साधनों में पुस्तकालयों तथा वाचनालयों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। बालक पुस्तकालयों एवं वाचनालयों में जाते हैं, जहाँ उन्हें विभिन्न प्रकार की स्वरुचि अनुकूल पत्र-पत्रिकाओं को देखने और पढ़ने का अवसर प्राप्त होता है। आज का युग 'वैज्ञानिक युग' कहा जाता है। अतः, बालकों के लिए यह आवश्यक है कि वे वैज्ञानिक आविष्कारों, वैज्ञानिक यंत्रों, वैज्ञानिक करामातों और चमत्कारों से परिचित हों। जगत की नित्य नई और विभिन्न समस्याओं तथा घटनाओं से परिचित हों। रुचि, राय तथा मनोवृत्तियों के निर्माण में समाचार प्रधान पत्र-पत्रिकाओं को बहुत श्रेय उपलब्ध है, इनका बहुत बड़ा चमत्कारिक प्रभाव देखने को मिलता है। समाचार हमारी भावनाओं को स्पर्श करते हैं, इनसे हमारी जानकारी बढ़ती है। अतएव, ज्ञानार्जन और बौद्धिक विकास में सहायक शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार के प्रमुख साधन पुस्तकालयों और वाचनालयों का आदर्श संगठन हमारा आवश्यक कर्त्तव्य है।

सिनेमा (Cinema)

चरित्र तथा मनोवृत्तियों के निर्माण में सिनेमा का विशेष स्थान है। भारत में किशोर विद्यार्थियों पर सिनेमा का बहुत अधिक प्रभाव देखा गया है। सिनेमा के आधार पर हम विद्यार्थियों को ज्ञान-दान देने में सहज समर्थ हो सकते हैं। उन दृश्यों अथवा उन स्थानों का वर्णन, जिनका मात्र मौखिक आधार के माध्यम से सुगमतापूर्वक वर्णन नहीं किया जा सकता अथवा जिनका वर्णन कठिन है, चलचित्रों के आधार पर सरलतापूर्वक बड़े स्पष्ट रूप में किया जा सकता है। भाषा के प्रचार एवं उसे व्यापक बनाने में चलचित्रों का अत्यधिक महत्त्व है। सिनेमा के माध्यम से विदेशों में शिक्षा का खूब प्रचलन है।

देश की सरकार, अभिभावकों एवं शिक्षकों का यह आवश्यक कर्त्तव्य है कि आदर्श चलचित्रों का निर्माण किया जाए, जिससे बालकों के चरित्र और व्यक्तित्व-गठन में पूरी-पूरी सहायता प्राप्त हो। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उपयुक्त होने के कारण चलचित्रों का शिक्षात्मक मूल्य अन्य

अनौपचारिक साधनों की अपेक्षा अधिक है। देश में बालोपयोगी चलचित्रों का निर्माण विशेष रूप से किया जाना चाहिए। दुःख का विषय है कि वर्तमान अवस्था में प्रायः सस्ते और साधारण मूल्य के चलचित्रों का निर्माण किया जाता है, जो छिछली भावनाओं पर आधारित हैं तथा जिनके अश्लील गीत एवं कामुक दृश्य किशोरों और नौजवानों के अपरिपक्व मस्तिष्क पर उल्टा प्रभाव डालते हैं, उनके हृदय को विषम दिशा में चलायमान करते हैं।

रेडियो (Radio)

चलचित्र की एक विशेषता यह है कि उसमें ध्वनि और दृश्य दोनों साथ-साथ चलते हैं, अतः घटनाएँ प्रत्यक्ष रूप से आँखों के सामने घटती हुई नजर आती हैं। परन्तु, रेडियो केवल ध्वनि उत्पन्न करता है। रेडियो चलचित्रों की अपेक्षा अधिक सुगमतापूर्वक सुलभ है।

समय-समय पर रेडियो द्वारा शिक्षात्मक कार्यक्रम प्रसारित किए जाते हैं। रेडियो पर ज्ञानवृद्धि की वार्ताएँ आयोजित की जाती हैं, विशिष्ट विद्वान व्यक्तियों के भाषण होते हैं अथवा अन्य कार्यक्रमों का संचालन किया जाता है, जिससे विद्यार्थी वर्ग लाभ उठाता है। सेकेण्डरी एजुकेशन कमीशन ने भी अपनी रिपोर्ट में रेडियो की विशेषताओं की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है तथा स्कूल-ब्रॉडकॉस्ट का योग्य व्यक्तियों के द्वारा छात्रोपयोगी कार्यक्रम संपादित कराने पर बल दिया है, जिससे विषय को सीखने की ओर विद्यार्थियों की रुचि में उत्तरोत्तर विकास हो। कमीशन का मंतव्य उसी के शब्दों में इस प्रकार है।[22]

अन्य साधन (Other Sources)

बालक विभिन्न सभा-सोसाइटी; सरकारी संस्थाओं, पोस्ट ऑफिस, रेल, बस, नगरपालिका और बाजार आदि स्थानों पर आते-जाते रहते हैं, जहाँ अनायास ज्ञान की बहुत बातें उन्हें सीखने का अवसर मिलता है। वस्तुतः सामाजिक क्षेत्र का ऐसा कोई स्थल नहीं, जहाँ बालकों के संस्कार पर कोई-न-कोई प्रभाव नहीं पड़ता हो। सड़क पर चलने, गाँव

में नाटक, रामलीला देखने, सभा-सोसाइटी में उपस्थित होने अथवा होटलों में चाय-कॉफी पीते समय अदृश्य रूप से बालक का मस्तिष्क प्रभावित होता है और उसे शिक्षा मिलती है। जिस गाँव या नगर में समय-समय पर सांस्कृतिक पर्व, जयन्तियाँ, त्यौसहार आदि का आयोजन होता है, वहाँ के बालकों को उन जीवनोपयोगी अनेक व्यावहारिक बातों का पता लग जाता है, जिनको मात्र पुस्तकीय ज्ञान के घेरे में उपलब्ध नहीं किया जा सकता और न ही वैसा संभव है।

वैधानिक साधन (Legal Sources)

वैधानिक (औपचारिक या नियमित) शिक्षा सरकार और अभिभावकों द्वारा एक निश्चित निर्धारित आदर्श के आधार पर प्रदान की जाती है, अनायास नहीं। विद्यार्थी सचेष्ट रहते हुए पूर्ण आस्था से इसे ग्रहग करते हैं। यह वह स्थल है, जहाँ पर प्रत्यक्ष रूप से शिक्षात्मक क्रियाओं की व्यवस्था की जाती है। इस शिक्षा को निश्चित समय पर निश्चित रूप से देने का विधान है। वैधानिक शिक्षा के लिए विशेष प्रकार की संस्थाओं का निर्माण किया जाता है। वैधानिक शिक्षण संस्थाओं में विद्यालय, विश्वविद्यालय, सामाजिक शिक्षा-केन्द्र; रात्रि पाठशालाएँ, प्रशिक्षण-केन्द्र आदि के नाम उल्लेखनीय है।

विद्यालय और विश्वविद्यालय (School and University)

शिक्षाशास्त्री ओटावे ने विद्यालय की परिभाषा करते हुए लिखा है—"विद्यालय समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए एक सामाजिक आविष्कार समझा जाता है। विद्यालय समाज के बालकों को विशेष प्रकार की शिक्षा देने के लिए समाज द्वारा प्रदत्त एक सुव्यवस्थित साधन है।"

श्री ओटावे की इस परिभाषा से स्पष्ट है कि विद्यालय की व्यवस्था समाज द्वारा सामाजिक आवंश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही की जाती है। विद्यालयों में बालकों और किशोरों को भेजा जाता है, जहाँ उन्हें एक विशेष प्रकार की शिक्षा, जो प्रायः तत्कालीन समाज के कर्णधारों एवं शिक्षाविदों द्वारा ही निर्धारित और उपस्थित की जाती है, जिससे

भविष्य में वे समाज के आदर्श नागरिक बनकर उसकी आवश्यकताओं की सुगमतापूर्वक पूर्ति कर सकने में समर्थ बनें। विद्यालय को हम एक ऐसा स्थान कह सकते हैं, जहाँ पर व्यवस्थित रूप से बालकों की शिक्षा-दीक्षा का प्रबंध रहता है। यह बाह्य समाज से पृथक् नहीं हुआ करता है। जिस समाज में वह स्थित है, उसका अंग बनकर वह क्रियाशील होता है। अतः समाज की प्रतिच्छाया विद्यालय पर अनिवार्य रूप से पड़ती है।

जॉन डीवी ने भी कहा है "विद्यालय में समाज प्रतिबिम्बित होता है।" प्रायः जैसा समाज होगा, उसकी शिक्षण संस्थाएँ भी वैसी ही होगी। आधुनिक शिक्षाशास्त्रियों के विचार में "विद्यालय ऐसी प्रयोगशाला है, जहाँ सामाजिक जीवन का आदर्श रूप रचित और अभिनीत होता है।" विद्यालय सामाजिक संस्था है। अन्तर्राष्ट्रीय समिति ने भी अपनी रिपोर्ट में लिखा है, 'वर्तमान समय में विद्यालय समाज के साथ चलें और सामाजिक जीवन का प्रारम्भ विद्यालय में हो।' चाहे किसी भी स्तर का शिक्षा-केन्द्र हो अथवा किसी भी प्रयोजन से उसकी व्यवस्था की गई हो, उसका मुख्य कार्य है कि बालकों की प्रतिभा के सर्वतोमुखी विकास के लिए अपने उपकरणों एवं साधनों के आधार पर उनके चरित्र, मस्तिष्क, शरीर, कार्य कुशलता, रुचि एवं मनोवृत्ति आदि गुणों को इस प्रकार प्रोन्नत करें कि उनका व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन आदर्श एवं अनुकरणीय हो। दूसरे शब्दों में विद्यालय का कर्त्तव्य समाज की इकाइयों अर्थात् व्यक्तिगत सदस्यों का पूर्ण विकास है। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी का भी यही विचार था।

प्राचीन काल में शिक्षा के लिए इस प्रकार के विद्यालयों की आवश्यकता नहीं समझी जाती थी। उस समय जीवन अधिक सरल और आसान था तथा आज की अपेक्षा सामाजिक अवस्था भिन्न थी। बालक अपने पिता के निर्देशन में अपने जीवनयापन के लिए व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त कर लेते थे अथवा गुरुगृह, ब्रह्मचर्य आश्रम, धार्मिक संस्थाओं आदि में ज्ञान अर्जित करते थे। कालान्तर में सामाजिक जटिलताएँ बढ़ती गईं

और जीवनयापन के साधन दुरूह हो गए। शिक्षा की प्राप्ति के लिए आज के युग में विद्यालयों और विश्वविद्यालयों की स्थापना की गई है, जो हमारे समाज और राष्ट्र के प्रमुख अंग हैं। इनकी सुव्यवस्था के लिए प्रगतिशील समाज सतत सचेष्ट हैं तथा राष्ट्र अपनी आय का एक बहुत बड़ा भाग इन पर खर्च करता है।

वर्तमान युग के प्रारभिक स्तर के (6-14 वर्ष के) प्रत्येक बालक को अनिवार्य रूप से नि:शुल्क शिक्षा देना राष्ट्र का आवश्यक कर्त्तव्य माना जाता है। समाज के विभिन्न कार्यों को संभालने के लिए विभिन्न गुणों से सम्पन्न व्यक्तियों की आवश्यकता है। देश के सर्वतोमुखी विकास के निमित्त विभिन्न योग्यतानुरूप नागरिक तैयार करने के लिए इन विद्यालयों का स्वरूप भी भिन्न होता है।

विद्यालयों का वर्गीकरण

विद्यालय अनेक प्रकार की श्रेणियों में वर्गीकृत किए जा सकते हैं।

स्तर की दृष्टि से

पूर्व-विद्यालय या बाल विद्यालय अथवा शिशु-शिक्षा (Pre-primary)

- प्राथमिक बुनियादी विद्यालय (Primary)
- माध्यमिक बुनियादी विद्यालय (Secondary)
- महाविद्यालय (College) तथा
- विश्वविद्यालय (University)।

व्यवस्था की दृष्टि से

- निजी विद्यालय (Private Schools),
- मान्यताप्राप्त विद्यालय (Recognised Schools),
- सहायताप्राप्त विद्यालय (Aided Schools) और
- राजकीय विद्यालय (Government School)।

प्रयोजन की दृष्टि से

- साहित्यिक या साधारण विद्यालय,
- प्राविधिक (Technical) विद्यालय,
- बहुप्रयोजनीय (Multipurposes) विद्यालय,
- सैनिक (Military) विद्यालय,
- छात्रावास (Residential) विद्यालय,
- सार्वजनिक (Public) विद्यालय,
- प्राच्य विद्या (Oriental Learning) विद्यालय और विशेष विद्यालय।

(अ) मानसिक विकारग्रस्त लोगों के लिए तथा

(ब) शारीरिक विकारग्रस्त लोगों के लिए।

पूर्व-बुनियादी विद्यालय या बाल विद्यालय अथवा शिशु-शिक्षा

शिशु-शिक्षा साधारणतया उस शिक्षा को कहते हैं, जो अनिवार्य शिक्षा की आयु के पूर्व बच्चों के लिए अर्थात् शिशु-अवस्था (3-6 वर्ष) के बालकों के लिए व्यवस्थित होती है। शिशु-शिक्षा हमारे भावी जीवन की शिक्षा का आधार होती है। अंग्रेजी में इसे प्री-प्राइमरी एजुकेशन कहते हैं। इस स्तर की शिक्षा का एक मनोवैज्ञानिक महत्त्व होता है। तीन से छह वर्ष की अवस्था एक प्रकार से निर्माणावस्था होती है। इस अवस्था में बालक का मस्तिष्क इतना नम्य और कोमल होता है कि उस पर जिस तरह की छाप पड़ेगी, उसका भावी जीवन उसी प्रकार का होगा।

स्वाभाविक ढंग से बच्चों का विकास करने में शिशु-शिक्षा का अत्यधिक महत्व है। बच्चों की रुचि खेल और क्रिया में होती है, जो शिशु-शिक्षा का प्रधान माध्यम है। बच्चे यहाँ अपनी रुचि के अनुसार खेलते हैं और उस खेल के द्वारा स्वतंत्र और बाधारहित वातावरण में अपना शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक विकास करते हैं। प्रसिद्ध

शिक्षाशास्त्री दार्शनिक फ्रोबेल (1782-1852) द्वारा स्थापित 'किंडर गार्टन सिस्टम' तथा उच्च प्राथमिक विद्यालय इसी श्रेणी में आते हैं।

माध्यमिक बुनियादी विद्यालय (Secondary Basic School)

ग्यारह वर्ष की अवस्था के बाद पाँचवीं श्रेणी पास करके बालक माध्यमिक बुनियादी विद्यालय में प्रवेश करते हैं। यहाँ उनको 14 वर्ष की अवस्था तक आठवीं श्रेणी स्तर की शिक्षा प्रदान की जाती है। ये विद्यालय सीनियर बुनियादी स्कूल कहलाते हैं। पुरानी या परम्परागत शिक्षा-प्रणाली के स्कूल मिडिल स्कूल (Senior Basic School) या जूनियर हाई स्कूल कहलाते हैं।

माध्यमिक उच्चतर विद्यालय (Higher Secondary School)

माध्यमिक उच्चतर विद्यालयों में नवीं श्रेणी तक की शिक्षा दी जाती है। जहाँ अभी यह व्यवस्था नहीं हो पायी है, वहाँ ग्यारहवीं श्रेणी तक की पढ़ाई के लिए हाई स्कूल खोले जाते हैं। हाई स्कूल उत्तीर्ण होकर विद्यार्थी इण्टर कॉलेज में प्रवेश करते हैं या डिग्री कॉलेज की प्री-विश्वविद्यालय (Pre-University) कक्षा में प्रवेश करते हैं। उच्चतर माध्यमिक विद्यालय के विद्यार्थी सीधे ही त्रिवर्षीय कोर्स में प्रवेश पा जाते हैं।

महाविद्यालय (Degree College)

उपाधि (Degree) की शिक्षा के लिए महाविद्यालय की व्यवस्था की जाती है। यहाँ विद्यार्थियों को तीन वर्ष की शिक्षा सफलतापूर्वक पूरी कर लेने पर उपाधि मिल जाती है। पुराने इण्टर कॉलेज शनैः-शनैः त्रिवर्षीय डिग्री कॉलेज बनते जा रहे हैं।

विश्वविद्यालय (University)

विश्वविद्यालय की शिक्षा महाविद्यालयों द्वारा प्रदान की जाती है। विश्वविद्यालय मुख्य रूप से उपाधि (Degree or U.G. & P.G.) कक्षाओं की परीक्षा लेने की व्यवस्था करते हैं। परन्तु, विश्वविद्यालयों में बहुत ऐसे भी हैं, जहाँ शिक्षा देने की भी व्यवस्था की जाती है।

शिक्षा-व्यवस्था की दृष्टि से विश्वविद्यालय तीन प्रकार के होते हैं :

(1) वैसे विश्वविद्यालय जो प्रबंधित महाविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों की परीक्षा लेकर उपाधि वितरित करते हैं।

(2) वैसे विश्वविद्यालय जो परीक्षा लेने और उपाधि वितरित करने के अतिरिक्त पढ़ाई का भी प्रबन्ध करते हैं। (Teaching University)

(3) वैसे विश्वविद्यालय जहाँ उपर्युक्त दोनों कार्यों (परीक्षा तथा अध्ययन-अध्यापन) के अतिरिक्त विद्यार्थियों के निवास का प्रबन्ध भी विश्वविद्यालय-परिधि में ही होता है।

निजी विद्यालय (Private School)

धनी व्यक्तियों अथवा संगठनों के द्वारा संचालित विद्यालय निजी विद्यालय (Private Schools) कहलाते हैं। इनके अन्तर्गत वे विद्यालय भी आ जाते हैं, जहाँ पर्याप्त शुल्क लेकर शिक्षा की व्यवस्था है। इस प्रकार के विद्यालय लाभ अथवा विद्यादान की दृष्टि से गठित किए जाते हैं। कतिपय अवसरों पर ऐसा देखने में आया है कि निजी विद्यालयों की गतिविधियाँ अवांछनीय भी हो जाती है। अतः, सरकार इनके नियंत्रण में सचेष्ट रहती हैं, जिससे इन विद्यालयों में सुयोग्य और उत्तरदायित्वपूर्ण अध्यापकों तथा शैक्षणिक उपकरणों की कमी नहीं हो। कभी-कभी स्वार्थसिद्ध की उत्प्रेरणा द्वारा भी ऐसे विद्यालयों की स्थापना की जाती है। वास्तविक लक्ष्य कुछ दूसरा होता है, परन्तु आवरण पवित्र शिक्षा प्रदान करने का।

मान्यता प्राप्त विद्यालय (Recognised School)

ये भी निजी विद्यालय (Private Schools) ही होते हैं। किन्तु सुप्रबन्ध और उपयोगिता के आधार पर इनको सरकार तथा शिक्षा मण्डल (Educational Board) द्वारा स्वीकृति प्रदान की जाती है। इनका समय-समय पर निरीक्षण भी होता है। सरकार को ऐसे विद्यालयों के खर्च के लिए कुछ नहीं करना पड़ता।

सहायता प्राप्त विद्यालय (Aided School)

ये भी उपयुक्त सरकारी विभाग द्वारा मान्यता प्राप्त विद्यालय होते हैं। समय-समय पर एक विशेष राशि के रूप में अथवा मासिक-त्रैमासिक अवधि पर इनको विभागीय सहायता मिलती है। ऐसे विद्यालयों के शिक्षकों की नियुक्ति अथवा अन्य कार्यों की देखभाल विद्यालय की अपनी प्रबन्ध समिति करती है।

राजकीय विद्यालय (Govt. School)

ऐसे विद्यालयों का पूरा-पूरा प्रबन्ध सरकारी शिक्षा विभाग की देख-रेख में होता है।

साहित्यिक या साधारण विद्यालय

इन विद्यालयों में शास्त्रीय ज्ञान की शिक्षा का प्रबन्ध होता है।

प्राविधिक विद्यालय (Technical School)

इन विद्यालयों में जीवनोपयोगी क्रियाओं के शास्त्रीय ज्ञान के अतिरिक्त व्यावहारिक ज्ञान को भी श्रेय दिया जाता है। चिकित्सा, निर्माण, यंत्र-विद्या आदि के नाम से पुकारे जाते हैं।

बहुप्रयोजनीय विद्यालय (Multipurpose School)

इन विद्यालयों में साहित्यिक, कलात्मक तथा प्राविधिक शिक्षा का साथ-साथ प्रबन्ध होता है। देश की वर्तमान स्थिति एवं आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु बहुप्रयोजनीय विद्यालयों का व्यापक संगठन हो रहा है।

सैनिक विद्यालय (Army School)

प्राचीन काल में तो युद्ध विद्या शिक्षा का प्रधान अंग थी। मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र और उनके अन्य भाइयों को विधिवत् युद्ध विद्या की शिक्षा दी गई थी। पाण्डव और कौरव-पुत्रों को अर्थशास्त्र में पूर्णतः निष्णात बनाने के लिए ही द्रोणाचार्य और कृपाचार्य-जैसे अद्वितीय आचार्यों को सादर निमंत्रण देकर राजकुल में मर्यादा और सम्मान के साथ रखा गया था। कालान्तर में सैनिक शिक्षा अनावश्यक समझी जाने

लगी। भारत की प्राचीनता ही इसका मुख्य कारण कही जाएगी। परन्तु, समय के वेग में पुनः इसकी महत्ता आँकी गई है और गणतंत्र भारत की रक्षा के लिए, शांति के लिए, शान्ति एवं सुव्यवस्था के लिए इनको पुनः शिक्षा का अंग माना जाने लगा है। आजकल विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में सैनिक शिक्षा (AC.C and N.C.C.) की व्यवस्था है।

आवासीय विद्यालय (Residential School)

छात्रावास विद्यालय के मूलतः तीन कारण होते हैं :

(1) जब आसपास कोई विद्यालय नहीं होता, तब दूर के विद्यार्थियों के रहने के लिए छात्रावास स्थापित किए जाते हैं।

(2) घर के दूषित वातावरण के प्रभाव से छात्रों को बचाने के लिए यह आवश्यक समझा जाता है कि छात्रों को छात्रावास में रखा जाए।

(3) छात्रों के जीवन को विशेष साँचे में ढालने के लिए उनका छात्रावास में रहना आवश्यक समझा जाता है।

सार्वजनिक विद्यालय (Public School)

इस प्रकार के विद्यालयों में पढ़ाई-लिखाई और रहने आदि की विशेष व्यवस्था होती है। यहाँ का विद्यालय-संगठन परम्परागत विद्यालयों की अपेक्षा सर्वथा भिन्न होता है। यहाँ पढ़ाई में व्यय भी अधिक होता है। अतः धनी-वर्ग के विद्यार्थी ही इन विद्यालयों में शिक्षा ग्रहण करते हैं। कहीं-कहीं योग्यता के अनुरूप भी नाम दर्ज किया जाता है और सरकार सारा खर्च वहन करती है।

सार्वजनिक विद्यालयों में एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति के विद्यार्थी उत्पन्न होते हैं। यहाँ पर शिष्टाचार तथा शारीरिक विकास की शिक्षा पर बहुत जोर दिया जाता है।

प्राच्य विद्यालय (Oriental School)

देश में बहुत से स्थानों पर संस्कृत, आयुर्वेद, नृत्य, संगीत आदि प्राच्य विद्याओं की शिक्षा दी जाती है।

विशेष विद्यालय (Special School)

इन विद्यालयों की स्थापना असामान्य मानसिक अथवा शारीरिक स्थिति के दुर्भाग्यग्रस्त बालकों को शिक्षित बनाकर जीविकोपार्जन के साधन प्राप्त करने के निमित्त की जाती है। यहाँ अन्धे, बहरे और अपाहिज लोगों को उचित प्रकार की शिक्षा देकर उनके जीवन को सुधारने का यत्न किया जाता है।

प्रशिक्षण केन्द्र (संस्थाएँ) (Training Centres)

शिक्षा-कार्य के लिए नियमित विद्यालयों के अतिरिक्त प्रशिक्षण संस्थाओं की स्थापना की जाती है। विभिन्न विषयों के लिए अलग-अलग प्रशिक्षण संस्थाओं की व्यवस्था की जाती है। शिक्षण-प्रशिक्षण विद्यालय (Teacher's Training School) और शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालय (Teacher's Training College) इसी के उदाहरण है।

सामाजिक शिक्षा केन्द्र (Social Education Centre)

गणतंत्र की आधारशिला को सुरक्षित और व्यवस्थित बनाने के लिए ही सामाजिक शिक्षा-केन्द्रों की स्थापना की गई है। यहाँ प्रौढ़ व्यक्तियों के मानसिक और चारित्रिक विकास का सत्प्रयत्न किया जाता है। उन्हें अपने समाज के सुसंगठन, व्यवस्था और रक्षा के उपाय, प्रकृति के नियमों का ज्ञान अवकाश का उचित उपयोग, क्षमता और योग्यतानुसार वृत्ति की प्राप्ति के ढंग आदि की विधिवत् शिक्षा दी जाती है।

सायंकालीन पाठशाला (Evening School)

हमारे देश में बहुत सारे ऐसे किसान-मजदूर हैं; जिन्हें अपनी आजीविका जुटाने की खातिर दिन भर खेतों या कल-कारखानों में कार्य करना पड़ता है। उन्हें नियमित रूप से शिक्षा ग्रहण करने का अवसर नहीं मिलता। कुछ लोग शहरों में रहते हैं, दफ्तरों में काम करते हैं, उच्च शिक्षा प्राप्त करने की आकांक्षा रखते हैं, ताकि भविष्य में ऊँचा पद प्राप्त कर सकें। ऐसे ही लोगों को शिक्षित करने या उनकी अर्जित शिक्षा में आगे की कड़ी जोड़ने के लिए रात्रि पाठशालाओं की व्यवस्था की जाती

है। हमारे देश के अनेकों गाँवों में रात्रि पाठशालाएँ चलती हैं। शहरों मे अनेक रात्रि विद्यालय और महाविद्यालय स्थापित हैं। इन पाठशालाओं और महाविद्यालयों में प्रवेश प्राप्त कर बहुत लोग अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति करते हैं। शिक्षा के विकास में ऐसे विद्यालयों-महाविद्यालयों को महत्त्वपूर्ण कदम कहा जा सकता है।

संदर्भ

1. "Education is the conciously controlled process whereby changes in behaviour are produced in the problem and the person within the group." - Brown
2. "Education is defined as a process of the development by which a human being adopt himself gradually in various ways to his physical, social and spiritual environment." - Rayment
3. "The development of all those capacities of the individual which will enable him to control his enviroment and fulfil his possibilieties." - John Dewey
4. "Education is the process of perfection of the human beings." - Berteand Russell, 'Education and Social Order'.
5. "Education is the acquisition of the art of the application and utilization of knowledge with modification of behaviour for the purpose of creating a more perfect society" - Alfred North Whitehead, 'Aims of Education.'
6. "Education is a purposeful and ethical activity; hence it is unthinkable with arms." - Rivlin, Encyclopedia of Modern Education.
7. "Early Indian Education was essentially religious and personal."
8. "All wickedness comes out of weakness. A child is bad because he is weak, make him strong and he will be good." - Roussean. Emile, page 33.
9. विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग ने 25, अगस्त, 1949 को दो खंडों में भारत सरकार को अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया था। पहले खंड में 747 पृष्ठ हैं और यह 18 अध्यायों में विभक्त है। द्वितीय खंड में 664 पृष्ठ हैं। इसमें अधिकांश सामग्री प्रश्नावली से सम्बन्धित है।
10. Democracy depends for its very life on the highest standard of general, vocational and professional education." -U.E.C.
11. माध्यमिक शिक्षा आयोग ने 29 अगस्त को अपना प्रतिवेदन भारत सरकार को प्रस्तुत किया था। माध्यमिक शिक्षा आयोग के प्रतिवेदन में प्राय: 318 पृष्ठ हैं

और यह 15 अध्यायों में विभक्त है।

12. Individuality developes only in a social atmosphere where it can feed on common interest and common activities.
13. Ethics, x 7.
14. (The one task and the whole task of education may be summe up in the concept of morality.)
15. Boyd: History of Western Education; Page 362.
16. Boyd: History of Western Education; Page 362. (Inner Freedom, Perfection, Benevolence, Right, Retribution or Equality.)
17. The trouble of the whole world including India are due to the fact education has become a moral intellectual excercise and not the acquisition of moral and spiritual values.
18. "According to Spencer the aim of education is to enable to lead a complete successful life." Some Great Western Educationists, Page, 135.
19. "By education means an all round drawing out of the best in child and man's body, mind and spirit."-M.K. Gandhi.
20. राष्ट्रीय शिक्षा आयोग (National Education Commission) की नियुक्ति 14 जुलाई, 1964 को हुई थी। इस आयोग ने 2 अक्टूबर, 1964 से देश में सभी राज्यों एवं केन्द्र शासित प्रदेशों का भ्रमण किया। जून, 1966 ई. में कमीशन ने अपनी रिपोर्ट भारत सरकार को प्रस्तुत की। इस कमीशन के अध्यक्ष प्रोफेसर दौलत सिंह कोठारी थे। उनके नाम पर इस कमीशन को 'कोठारी कमीशन' भी कहते हैं।
21. "The most important and urgent reform needed in Education is to transform it, to endeavour it to the life, needs and aspirations of the people and thereby make it a powerful instrument of social, economic and cultural transformation necessary for the realisation of national goals."
22. "It is hardly necessary for us to emphasis that such broadcasts should be by well qualified persons and should create an interest in the subject so that the boy's curiosity can be roused to learn more about the subject." -S.E.C.R., Page 124.

[2]

शिक्षा का दार्शनिक परिप्रेक्ष्य
(Philosophical Perspectives of Education)

दर्शन का अर्थ
(Meaning of Philosophy)

दर्शन का शाब्दिक अर्थ है 'विवेक से अनुराग'। पुराने दार्शनिकों में से अधिकांश विवेक अथवा बुद्धिमता तथा सत्य के जिज्ञासु रहे हैं। उनका विश्वास था कि आचार्य के रूप में उनकी भूमिका विवेक की खोज के लिए दूसरों की सहायता करना है। उस समय यूनानी आचार्यों का एक वर्ग और होता था जिनको 'सोफिस्ट' की संज्ञा दी जाती है। सोफिस्ट का अर्थ है : बुद्धिमान व्यक्ति। अधिकतर सोफिस्ट आचार्यों का मत था कि शिक्षण विवेक खोजने में शिष्य की सहायता करना नहीं है अपितु शुल्क (फीस) के बदले शिष्यों को कुछ लाभदायक सूचनाएँ, कौशल इत्यादि का ज्ञान देना ही शिक्षण है। शिक्षण द्वारा दिया गया ज्ञान ही बुद्धिमान व्यक्ति की शिक्षा की विषय-वस्तु होनी चाहिए। एक दृष्टि से हमारे आज के विद्यालयों में वास्तव में 'सोफिस्ट' दृष्टिकोण की ही प्रधानता है। सोफिस्ट महत्त्वपूर्ण विषयों, जैसे—साहित्यशास्त्र, जनभाषण (Public Speaking) इत्यादि का अध्यापन करते थे।

दर्शन के विषय में प्राच्यविदों का और विशेषकर भारतीयों का विचार भिन्न रहा है। 'दर्शन' शब्द का अर्थ 'फिलासफी' के अर्थ की तुलना में अधिक गहरा तथा समृद्ध है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'दर्शन' संस्कृत की 'दृश्' धातु से बना है। अत: दर्शन का अर्थ है : वह जो हमें वास्तविकता की अनुभूति करा सके, अर्थात् वास्तविकता से आत्मसाक्षात् करा सकें। पाश्चात्य तथा प्राच्य दोनों विचारधाराओं में

दार्शनिकों द्वारा अध्ययन की जाने वाली समस्याएँ एक-सी ही हैं। अत: अध्ययनगत समस्याओं की दृष्टि से पाश्चात्य तथा प्राच्य दर्शन एक से हैं। परम्परागत रूप में दार्शनिक चिंतन का सम्बन्ध तीन प्रमुख समस्याओं से रहा है। ये समस्याएँ इस प्रकार से हैं-

- सत्ता सम्बन्धी (तत्व मीमांसा)
- ज्ञान सम्बन्धी (ज्ञान मीमांसा)
- मूल्य सम्बन्धी (मूल्य मीमांसा)

सत्ता की समस्या यह है कि जिस विश्व में हम रहते हैं उसकी प्रकृति क्या है अथवा सत्ता क्या है? दर्शन की इस शाखा को तत्त्व मीमांसा कहते हैं। तत्त्व मीमांसक चिंतन का सम्बन्ध जिन समस्याओं से है और जिनके विश्लेषण के फलस्वरूप सत्ता की प्रकृति जानने का प्रयास किया जाता है उनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं।

ब्रह्मांडिकी (Cosmology)

ब्रह्मांडिकी का सम्बन्ध ब्रह्माण्ड की प्रकृति, इसकी उत्पत्ति तथा विकास के स्पष्टीकरण से है। ब्रह्मांडिकी कारणत्व अर्थात् कारण-कार्य (Cause and Effect) सम्बन्ध की विवेचना करती है। इसके अन्तर्गत दिक्काल (Space and Time) की प्रकृति का विवेचन भी किया जाता है।

सत्ता के आवश्यक अंग के रूप में मानव की प्रकृति

इस प्रकार अध्ययन से 'स्वत्व' (Self) मूल प्रकृति की समस्या, शरीर एवं मन के सम्बन्ध की समस्या तथा स्वतंत्रता की समस्या की विवेचना की जाती है। स्वतन्त्रता की समस्या के अन्तर्गत यह जानने का प्रयत्न किया जाता है कि व्यक्ति पहल करने और विकल्पों में से विकल्प-विशेष चुनने में स्वतन्त्र है अथवा उसका व्यवहार उससे अधिक शक्तिशाली बाह्य शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है।

ब्रह्माण्ड की अवधारणा
(Concept of Consmology)

सौदेश्यवाद (Teleogy)

जिसमें इस बात का विश्लेषण किया जाता है कि ब्रह्माण्ड सप्रयोजन है अथवा निष्प्रयोजन।

मात्रा से सम्बन्धित समस्या

जिसके द्वारा यह निर्धारित किया जाता है कि अन्तिम सत्ता अद्वैतवादात्मक (Monistic) अथवा द्वैतवादात्मक (Dualistic) अथवा बहुलवादात्मक (Pluralistic) है।

तत्त्वमीमांसा

इसके अन्तर्गत मूल रूप में अस्तित्व का अर्थ होता है। जब हम कहते हैं कि अमुक वस्तु का अस्तित्व है तो इसका क्या अर्थ है? उदाहरणार्थ, प्रकृतिवाद तथा वास्तविकतावाद के अनुसार अस्तित्व से अभिप्राय है 'दिक्काल में होना' (To exist to occupy time and space), द्रव्य अथवा भौतिक ऊर्जा रूप में होना; जबकि आदर्शवाद के अनुसार अस्तित्व का अर्थ है 'मन एवं आत्मा पर निर्भर होना।'

ज्ञान मीमांसा

मनुष्य किस प्रकार जान सकता है कि किसी चीज की सत्ता है? अर्थात् हम कैसे जानते हैं अथवा हमें कैसे विश्वास होता है कि जो कुछ हम जानते हैं वह सत्य है, असत्य अथवा भ्रम नहीं? दर्शन का वह क्षेत्र जो इस प्रकार की समस्या का समाधान ढूँढने का प्रयत्न करता है ज्ञान मीमांसा कहलाती है।

मूल्य मीमांसा

जीवन में वांछित अथवा अपेक्षित महत्त्वपूर्ण मूल्य कौन से हैं? इसका सम्बन्ध नैतिक अच्छाई की प्रकृति के विश्लेषण से है और दार्शनिक इस विश्लेषण के आधार पर कुछ नैतिक आदेश अर्थात् सूत्र प्रस्तुत करता है ताकि लोग उनका अनुसरण कर सकें। दूसरा प्रश्न है

कि क्या मूल्यों का उद्‌गम सत्ता से है अथवा नहीं? तथा वे वास्तव में किस प्रकार प्राप्त किए जा सकते हैं? दर्शन की वह शाखा जो इस प्रकार के प्रश्नों से सम्बन्धित है मूल्य मीमांसा कहलाती है। इसमें से अधिकांश के लिए मूल्य सम्बन्धी प्रश्न चिन्तनशील अनुभूति को जन्म देता हैं। नैतिक प्रश्न हमें प्रेरणा देते हैं कि हम जीवन को अचेतन रूप में स्वीकार न करें। नैतिक मुद्दे, धार्मिक तथा सौन्दर्यात्मक अनुभव व्यक्ति विकास का आधार बनते हैं।

समस्या कोई भी हो परन्तु दार्शनिक उसके समाधान के लिए चिन्तन तथा तर्क का मार्ग अपनाता है। यदि हम दार्शनिकों की आधुनिककाल की क्रियाओं का अध्ययन करें तो हमें आभास होता है कि दर्शन की प्रकृति को लगभग पुनः परिभाषित किया जा चुका है। आजकल दर्शन का मुख्य उद्देश्य भाषा का विश्लेषण है। इस भाषाई विश्लेषण विधि के आधार पर दार्शनिक किसी प्रतिज्ञप्ति के अर्थ को सुस्पष्ट करते हैं, अर्थात् दर्शन द्वारा 'अर्थ का अर्थ' स्पष्ट किया जाता है। पारम्परिक दार्शनिक ऐसे कथनों का निर्माण करते थे जो अस्पष्ट अथवा अर्थहीन थे क्योंकि वे ऐसे रूप में व्यक्त होते थे कि उन्हें सत्य अथवा असत्य सिद्ध करना असम्भव था। ऐसी प्रतिज्ञप्तियों को प्रमाणित करना असम्भव था। अर्थ विश्लेषण द्वारा दर्शन का कार्य यह निर्धारण करना है कि कोई कथन अथवा प्रतिज्ञप्ति सार्थक है अथवा नहीं।

आज के दार्शनिक प्रतिज्ञप्तियों की सत्यता सिद्ध करने के लिए प्रमाणीयता (Varifiability) को मापदण्ड के रूप में प्रयुक्त करते हैं। इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि कोई प्रतिज्ञप्ति सिद्धांत रूप में भी सत्यापित नहीं की जा सकती है। उसे अर्थहीन कथन मान लेना चाहिए। उदाहरणार्थ तत्त्व मीमांसा का यह कथन कि, "स्व ही विश्व की अन्तिम सत्ता है," उपरोक्त मानदण्ड के आधार पर अर्थहीन है, क्योंकि हमें नहीं पता कि अन्तिम सत्ता से क्या अभिप्राय है और 'स्व' को किस अर्थ में लिया गया है। इस कथन को प्रमाणित नहीं किया जा सकता है; अतः यह अर्थहीन है।

दर्शन की विशेषताएँ (Characteristics of Philosophy)

इसकी मुख्य विशेषताएँ निम्न लिखित हैं–

- व्यापकता (Comprehensiveness)
- वेधन (Penetration)
- लचीलापन (Flexibility)

दार्शनिक व्यक्ति जीवन को सम्पूर्ण रूप में देखता है। कहावत है कि यदि हम वृक्षों को देखते हैं तो वन को नहीं देख पाते परन्तु दार्शनिक वृक्षों को देखते समय वन को भी ध्यान में रखता है तथा दोनों के मध्य सम्बन्ध के प्रति सजग रहता है। दूसरे, ऐसा व्यक्ति प्रश्नों के सहज बुद्धि (Common Sense) वाले अथवा स्पष्ट उत्तरों से संतुष्ट नहीं होता। वह प्रत्येक समस्या का मूल आधार ज्ञात करने का प्रयास करता है। तीसरे, ऐसा व्यक्ति किसी मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति अथवा अनम्यता से अवरोधित नहीं होता, अपितु वह सर्जनशील रहता है तथा अपनी कल्पनाशक्ति का प्रयोग करता है। दर्शन का क्षेत्र इतना व्यापक होता है कि इसके द्वारा लगभग प्रत्येक प्रश्न को मीमांसात्मक अथवा सैद्धांतिक स्तर पर देखा जा सकता है। इन चिन्तनों के आधार पर दार्शनिकों ने सत्ता के विषय में अपने कुछ निश्चित दृष्टिकोण बना लिए हैं।

दर्शन के मूल मुद्दों पर जिस प्रकार विचार किया गया, उसको ध्यान में रखते हुए दर्शन को कुछ सुस्पष्ट वर्गों में विभाजित किया गया है जिन्हें दर्शन के चार 'वाद' कहते हैं। ये हैं :– प्रकृतिवाद, आदर्शवाद, यथार्थवाद तथा प्रयोजनवाद। प्रत्येक वाद, शैक्षिक दर्शन का विवेचन करने से पूर्व हमें यह समझना चाहिए कि शिक्षा क्या है? यह एक प्रक्रिया है अथवा परिणाम।

शिक्षा की अवधारणा
(Concept of Education)

शिक्षा के अनेक अर्थ हैं। प्राय: इससे हमारा अभिप्राय सोद्देश्य, औपचारिक व संकल्पित शिक्षण से है। लेकिन कई बार हम शिक्षा को

केवल औपचारिक प्रशिक्षण तक ही सीमित नहीं रखते बल्कि ऐसा कहते हैं कि शिक्षा तो विद्यालय व विद्यालय के बाहर सब जगह होती रहती है। ऐसा इसलिए है कि बालक विद्यालय जाने से पहले भी सीखते हैं और वे कक्षाओं के बाहर अपनी मित्र-मण्डली में अथवा अन्य स्थानों पर विभिन्न साधनों द्वारा कुछ-न-कुछ सीखते ही रहते हैं। इसके अतिरिक्त वे अपनी औपचारिक शिक्षा की समाप्ति के बहुत समय बाद तक भी बहुत कुछ सीखते रहते हैं। विद्यालय के अतिरिक्त हमारे सीखने के अन्य कई स्रोत हैं; जैसे-घर, मन्दिर, राजनैतिक सभाएँ, पत्रिकाएँ, समाचार-पत्र, रेडियो, दूरदर्शन इत्यादि।

अत: शिक्षा के बहुविध अभिप्राय हैं। शिक्षा सम्बन्धी ये सभी विचार दर्शन की दृष्टि से कुछ प्रमुख केन्द्रीय बिन्दुओं के रूप में वर्गीकृत किए जा सकते हैं।

शिक्षा के वैयक्तिक विकास के स्वरूप के आधार पर प्लेटो ने कहा था कि विद्यार्थी के अन्त:करण में छुपे सत्यों को उसे चेतन मन तक लाना अथवा उन्हें विकसित करना ही शिक्षा है। इसके दो हजार वर्ष बाद रूसो ने कहा कि बच्चे के मनोवेगों के स्वाभाविक विकास द्वारा सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् प्राप्त करना ही शिक्षा है। फ्रोबेल का विश्वास है कि बच्चे का व्यक्तित्व सुसुप्त बीज की भाँति है जो सम्पूर्ण रूप में तभी खिलता है यदि माली (अध्यापक) अत्यधिक उपयुक्त मृदा और वातावरण (भौतिक व रासायनिक वातावरण) प्रदान कर सकें। इसी प्रकार महान् अमरीकी शिक्षाविद् ड्यूवी के लिए शिक्षा से अभिप्राय उन अवस्थाओं के जुटाने से है जो जीवन की वृद्धि अथवा विकास के लिए आवश्यक है।

सामाजिक या राजनैतिक (राजकीय) संस्था के रूप में शिक्षा की प्रकृति क्या हो सकती है? प्रत्येक समाज से यह आशा की जा है कि वह ऐसा वातावरण प्रदान करे जिससे बच्चा अपनी सांस्कृतिक धरोहर को प्राप्त कर सके तथा इस प्रक्रिया में समाज के अधिक परिपक्व वयस्क परिपक्व सदस्यों को प्रभावित कर सके। इस अर्थ में

शिक्षा एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक-राजनैतिक उद्यम (Socio-political Enterprise) है।

अध्यापक के दृष्टिकोण से शिक्षा एक व्यवसाय, एक व्यवहार, एक कला तथा एक दैनिक कार्य है। इसके द्वारा हम यह जानना चाहते हैं कि शिक्षा के मौलिक ज्ञान क्षेत्र (Disciplines) कौन से हैं? तथा इनका शिक्षा के 'प्रयोग' (Practice) से क्या सम्बन्ध हैं? इस अर्थ में शिक्षा एक प्रायोगिक व्यवहार विज्ञान है।

शिक्षा को हम किसी भी दृष्टि से देखें, इससे सम्बन्धित साध्य और साधन का प्रश्न सदैव उठता है। वस्तुतः चाहे हम इसे वैयक्तिक विकास की प्रक्रिया के रूप में लें अथवा सामाजिक-राजनैतिक संस्था के रूप में प्रायोगिक व्यावहारिक विज्ञान के रूप में लें, उद्देश्यों की भिन्नता के कारण इसकी प्रकृति प्रभावी रूप से परिवर्तित हो जाती है। अतः इस दृष्टि से शिक्षा का अनिवार्य सम्बन्ध लक्ष्यों से है। ऐसी अवस्था में हमारी समस्या यह ज्ञात करना है कि शिक्षा के उद्देश्य क्या हो सकते हैं तथा उन्हें किस प्रकार निर्धारित किया जाता है।

इन सभी मुद्दों के समाधान के लिए हमें शिक्षा दर्शन की आवश्यकता पड़ती है।

शिक्षा की सभी परिभाषाओं में शिक्षा प्रक्रिया में कम-से-कम दो कारण अनिवार्य रूप से निहित हैं। ये हैं विद्यार्थी और अधिगम अनुभव। जब शिक्षा को एक संस्थागत क्रिया के रूप में लिया जाता है तो अध्यापक भी एक आवश्यक घटक बन जाता है। जिस को निम्नाङ्कित चित्र द्वारा प्रदर्शित किया गया है।
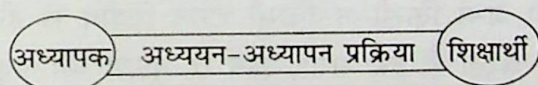
चित्र 2.1 : शिक्षा की प्रकृति

एडम के अनुसार शिक्षा दो ध्रुवीय प्रक्रिया है जिसमें अध्यापक एक अधिक परिपक्व व्यक्ति कम परिपक्व व्यक्ति (शिक्षार्थी) में वांछित परिवर्तन लाने के लिए कार्य करता है। इसका अर्थ है कि

अध्यापक ने स्पष्ट रूप से पहले ही उन दिशाओं का निर्धारण कर लिया है जिनमें बच्चे की वृद्धि एवं विकास होना है। ये परिवर्तन दो तरीकों से हो सकते हैं–अध्यापक के व्यक्ति के प्रत्यक्ष प्रभाव द्वारा ज्ञान के विभिन्न रूपों की अन्त:क्रिया द्वारा।

उपरोक्त चित्र में अध्यापक और शिक्षार्थी के बीच की क्रिया एक दिशीय (Unidirectional) है। ऐसा प्रतीत है कि मानो अध्यापक ने ही शिक्षार्थी में परिवर्तन लाने हैं और अध्यापक किसी प्रकार से इस प्रक्रिया से प्रभावित नहीं होगा। परन्तु कठोपनिषद् के अनुसार अध्यापक जब बच्चे में परिवर्तन लाने का प्रयास करता है तो वह स्वयं भी उनसे प्रभावित होता है। अर्थात् शिक्षा प्रक्रिया में अध्यापक तथा छात्र दोनों ही प्रभावित होते हैं, यद्यपि ये प्रभाव दोनों के लिए भिन्न प्रकार के तथा भिन्न मात्रा में होते हैं।

जिस प्रकार दर्शन सम्बन्धी विभिन्न संकल्पनाएँ हैं। उसी प्रकार शिक्षा के विषय में भी विभिन्न अवस्थाएँ हैं, अत: स्पष्ट है कि शिक्षा दर्शन भी कई प्रकार के हैं। यदि हम दर्शन के विभिन्न अध्ययन क्षेत्रों यथा सत्ता की प्रकृति तथा शान की प्रकृति को ध्यान में रखें तो हमें दर्शन तथा शिक्षा के मध्य सन्तुष्ट सम्बन्धों का बोध होता है। उदाहरणार्थ, क्या जाना जा सकता है? क्या जानने योग्य है? और जानने के क्या-क्या तरीके हैं? आदि प्रश्न शिक्षा के उद्देश्यों व शिक्षण अधिगम प्रक्रिया के साथ गहन रूप में जुड़े हुए हैं। इसी प्रकार जब हम दर्शन को एक उत्तम जीवन का अर्थ समझने का प्रयास मानें तो इसका सम्बन्ध शिक्षा के साथ स्वत: हो जाता है। अन्त में हम यह कह सकते हैं कि प्रत्येक शिक्षा दर्शन का जन्म किसी-न-किसी दर्शन विशेष से होता है तथ इस बात पर निर्भर करता है कि सत्ता, ज्ञान व मूल्यों की प्रकृति के विषय में हमारे विचार क्या हैं?

शिक्षा-दर्शन के कार्य
(Function of Education-Philosophy)

जॉन ब्रुबेकर के अनुसार दर्शन के तीन कार्य हैं–प्रथम रूप में

शिक्षा दर्शन चिन्तनात्मक है। इस रूप में यह सत्ता का एक विहंगम दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। जिसे शिक्षा में प्रयोग करने से ऐसी दशा और विद्यार्थी प्राप्त होती हैं जिनका सम्भवतः अभाव होगा। बटलर (1968) ने इस कार्य की निम्न प्रकार से व्याख्या की है– अधिकांश दर्शन समस्याओं का सम्बन्ध 'स्व' के स्वरूप से है। विभिन्न दर्शनों में 'स्व' को भौतिक, सामाजिक अथवा आत्मिक (Spiritual) इकाई के रूप में समझा गया है। किसी भी अध्यापक द्वारा 'स्व' के स्वीकृति अर्थ विशेष से उस अध्यापक की शिष्य के प्रति अभिवृत्ति निश्चित होती है। यदि 'स्व' को एक भौतिक इकाई समझें तो शिष्यों को जैविक अभावों के रूप में माना जाएगा। यदि इसे एक सामाजिक इकाई के रूप में स्वीकार किया जाए तो शिष्य को समाज का एक छोटा अंग समझा जाएगा और यदि यह एक आत्मिक इकाई है तो शिष्य वे आत्माएँ हैं जिनकी जैविक व सामाजिक प्रक्रियाओं से परे अपनी-अपनी नियतियाँ हैं।

हम यह भी जानते हैं कि दर्शन का सम्बन्ध मूल्यों से है। मूल्य सम्बन्धी चिन्तन विभिन्न प्रकार से शिक्षा से जुड़ा हुआ है। इस संदर्भ में एक प्रकार का चिन्तन यह है कि यदि शिक्षा को प्रभावी बनाना है तो इसके कुछ लक्ष्य अवश्य होने चाहिए। अन्यथा यह एक उद्देश्यहीन क्रिया रह जायेगी जो शैक्षिक अनुभूति के विरुद्ध होगा। परन्तु जब तक शिक्षा के उद्देश्य शुद्ध चिंतन पर आधारित न हो वे उचित कैसे हो सकते हैं?

शिक्षा दर्शन का दूसरा कार्य आदर्शों अथवा मानवीयता को माना गया है। शिक्षा दर्शन लक्ष्यों को निर्धारित करने तथा मानक स्थापित करने का प्रयत्न करता है। जिससे शैक्षिक प्रक्रिया का सही संचालन हो सके। अपने इस कार्य में शैक्षिक दर्शन शिक्षा को समुचित दिशा प्रदान करता है। कुछ अन्य विचारकों के अनुसार शिक्षा दर्शन अच्छी शिक्षा व्यवस्था के लिए एंक सैद्धान्तिक आधार अथवा तर्कसंगत व्याख्या प्रदान करता है जिसका हम अनुसरण करते हैं। दार्शनिक यह कार्य तर्क और कल्पना के आधार पर करता है। शिक्षा दर्शन अपने आदर्श कार्यों के संचालन

के लिए अन्य क्षेत्रों, जैसे–संस्कृति, साहित्य तथा नैतिकता इत्यादि से बहुत कुछ ले सकता है।

शिक्षा दर्शन का तृतीय कार्य समीक्षा प्रधान है। इस प्रकार का कार्य सम्पन्न करने के लिए शिक्षा दर्शन शैक्षिक चिन्तन व व्यवहार में प्रयुक्त शब्दों एवं प्रतिज्ञप्तियों की पूरी–पूरी जाँच करता है। इस प्रकार शिक्षा दर्शन उन तर्क आधारित वाक्यों की जाँच करता है जिन पर शैक्षिक निर्णय टिके होते हैं। दूसरी ओर यह प्रयोग की गई भाषा की जाँच करता है जो शिक्षा सम्बन्धी विभिन्न तथ्यों के अनुमोदन अथवा खण्डन करने के लिए प्रयुक्त की जाती हैं। यह पूर्वधारणाओं का मूल शब्दों अथवा प्रत्ययों का विवेचन भी करता है। शिक्षा में हम कई प्रकार के शब्दों, परिभाषाओं, मान्यताओं, आदर्शों एवं प्रत्ययों का प्रयोग करते हैं। इन सभी का विश्लेषण और स्पष्टीकरण शिक्षा दर्शन का ही कार्य है।

शिक्षा-दर्शन का क्षेत्र
(Scope of Education-Philosophy)

एल.के. ओड के अनुसार शिक्षा दर्शन के क्षेत्र का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार से किया जा सकता है–

शिक्षा दर्शन शिक्षा के विभिन्न पक्षों के 'कारणों' तथा 'विधियों' का निर्धारण करता है अर्थात् शिक्षा दर्शन शिक्षा को अनुसरण अथवा अपनाने योग्य क्रिया के रूप में परिभाषित करने का प्रयास करता है। शिक्षा को समझने के लिए दो प्रकार के सिद्धान्त दिए जाते हैं : पहले प्रकार में विवरणात्मक सिद्धान्त अर्थात् शिक्षा के सामान्य सिद्धान्त आते हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि शिक्षा से वस्तुतः क्या अपेक्षाएँ हैं, अर्थात् शिक्षा क्या कर सकती है या करती है? दूसरे प्रकार के सिद्धान्त को शिक्षा के विशिष्ट सिद्धान्तों की संज्ञा दी जाती है। हम इन्हें आदेशात्मक सिद्धान्त भी कह सकते हैं। इन सिद्धान्तों का उद्देश्य शिक्षा में निहित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए शैक्षिक प्रक्रिया को दिशा देना है।

दूसरा प्रश्न है कि शिक्षा पाने योग्य व्यक्ति कौन है? क्या शिक्षा सभी व्यक्तियों को दी जानी चाहिए अथवा केवल उन व्यक्तियों को शिक्षा देनी चाहिए जिन्हें समाज इसके लिए उपयुक्त समझता है? शिक्षा पाने योग्य व्यक्ति में क्या गुण धर्म होने चाहियें? इन प्रश्नों का उत्तर शिक्षा दर्शन द्वारा प्राप्त किया जाता है। इसमें महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हमारी छात्र सम्बन्धी संकल्पना क्या है?

शिक्षा देने का उत्तरदायित्व किस व्यक्ति को सौंपा जा सकता है? शिक्षक एवं शिक्षार्थी में किस प्रकार के सम्बन्ध होने चाहिये? एक अच्छे अध्यापक की क्या विशेषताएँ, योग्यताएँ तथा क्षमताएँ होनी चाहिए? और अध्यापक नवयुवकों की शिक्षा के उत्तरदायित्व का किस प्रकार निर्वाह कर सकता है?

कौन-सी विषय वस्तु शिक्षण अथवा अधिगम के योग्य है? ज्ञान से हमारा क्या अभिप्राय है? किस प्रकार का ज्ञान देय अथवा ग्राह्य है? ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कौन-सी योग्यताएँ, कौशल अथवा आदतें प्राप्त करने योग्य है?

शिक्षण-अधिगम, प्रक्रिया की वास्तविक प्रकृति क्या होनी चाहिए ताकि अपेक्षित ज्ञान, योग्यताएँ, कौशल व आदतें विकसित की जा सकें? अधिगम योग्य सामग्री को कैसे प्रस्तुत किया जाए ताकि वह पूरी-पूरी और सहज रूप से ग्रहण की जा सकें।

शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया को प्रभावी रूप से चलाने के लिए किस प्रकार की व्यवस्था आवश्यक है? अपेक्षित योग्यताएँ तथा अधिगम योग्य अनुभव प्राप्त हो गए हैं अथवा नहीं, इसका मूल्यांकन कैसे हो?

वास्तविक अनुशासन का अर्थ क्या है? विद्यार्थियों में अनुशासन की भावना का विकास करने के लिए क्या-क्या साधन हो सकते हैं?

संस्थागत योजना से क्या अभिप्राय है? यह क्यों आवश्यक है?

पुरस्कार एवं दण्ड से क्या अभिप्राय है? शैक्षिक व्यवहार के लिए इनका प्रावधान क्यों और कितनी मात्रा में आवश्यक है?

शिक्षा में स्वतंत्रता से क्या अभिप्राय है? यह क्यों आवश्यक है?

शिक्षा-दर्शन शिक्षा सिद्धान्तों की सहायता से, इन सभी प्रश्नों का हल ढूँढने का प्रयत्न करता है। इस उद्देश्य से शिक्षा दार्शनिक चिन्तनात्मक, आदर्शों एवं विवेचनात्मक तीनों प्रकार के उपागमों का प्रयोग करता है तथा शिक्षा से सम्बन्धित सभी प्रकार की समस्याओं का हल ढूँढता है। इसके फलस्वरूप एक शिक्षा दार्शनिक उन शैक्षिक सिद्धान्तों का भी निर्माण करता है जो व्यवहार को दिशा देते हैं।

शिक्षा प्रक्रिया के पूर्ण स्वरूप को समझने के लिए नीचे 'शिक्षा पीढ़ी' नाम की आकृति दी गई है।

शिक्षा दर्शन

शिक्षा सिद्धान्त

शैक्षिक व्यवहार

चित्र 2.2 : शिक्षा-सीढ़ी

उपरोक्त शिक्षा सीढ़ी में तीन पग हैं। शैक्षिक व्यवहार प्रभावी बनाने के लिए उपयुक्त शिक्षा सिद्धान्तों की आवश्यकता पड़ती है। परन्तु बहुधा यह भी कह सकते हैं कि अच्छे शिक्षा सिद्धान्तों का निर्माण तभी हो सकता है जब हम सामान्य और विस्तृत रूप से शैक्षिक व्यवहार का अध्ययन करें और समझें। अर्थात् शिक्षा सिद्धान्त शैक्षणिक व्यवहार में प्राप्त अनुभवों के आधार पर बनाए जाते हैं जो आगे चलकर किसी शिक्षा दर्शन को जन्म देते हैं। वास्तव में ये तीनों पग एक दूसरे पर निर्भर हैं और एक दूसरे को प्रभावी बनाने में सहयोगी हैं। शिक्षा सिद्धान्त अथवा शैक्षिक दर्शन (चिन्तन) का मूल उद्देश्य वास्तव में शिक्षा व्यवहार को सुदृढ़, प्रभावी तथा उपयोगी बनाना है।

प्रकृतिवाद
(Naturalism)

मूल रूप में सभी दर्शनों को शैक्षिक परिप्रेक्ष्य में चार 'वादों' में वर्गीकृत किया जा सकता है। ये चार मूल दर्शन हैं, प्रकृतिवाद, आदर्शवाद, प्रयोजनवाद तथा यथार्थवाद। ये सभी दर्शन अपने कुछ-न-कुछ सिद्धान्तों और विशेषताओं से युक्त हैं। समय-समय पर शिक्षा इन सभी दर्शनों से प्रभावित होती रही है।

प्रकृतिवाद का अर्थ और अवधारणा (Meaning and concept of Naturalism)

पाश्चात्य दर्शन में प्रकृतिवाद का इतिहास सबसे पुराना है। जिन विचारकों से दर्शन का इतिहास आरंभ होता है, वे मूलतः प्रकृतिवादी ही थे। ईसा से छठी शताब्दी पूर्व थैलस ने कहा था कि जल ही एक ऐसा पदार्थ है जो सभी वस्तुओं में पाया जाता है। इसी प्रकार अनैग्ज़ीमैण्डर तथा अनेग्ज़ीमीन्स, जिन्होंने थैलस के साथ कार्य किया, ने सत्ता को प्रकृति में पाए जाने वाले किसी एक पदार्थ की सहायता से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया। अनैग्ज़ीमीन्स के अनुसार यह पदार्थ वायु था परन्तु अनैग्ज़ीमैण्डर का मत था कि सत्ता के आधार-रूप में पदार्थ तो एक ही है परन्तु उसे कोई नाम देना कठिन है। इसके पश्चात् तीन दार्शनिकों ल्युसीपस, एपीक्युरस तथा ल्युक्रिटिअस ने प्रकृतिवाद से सम्बन्धित अपने दार्शनिक विचार प्रस्तुत किए। न दार्शनिकों को 'प्रमाणवादी' इसलिए कहा गया क्योंकि उनके अनुसार सत्ता मूलरूप से परमाणुओं द्वारा निर्धारित होती है जो निर्वात (Space) में घूमते रहते हैं।

मध्यकालीन व आधुनिक समय में दर्शन की प्रकृतिवादी परम्परा को **थॉमस होब्स** (1588-1676), रूसो (1712-1778) तथा **हरबर्ट स्पेन्सर** (1820-1903) ने आगे बढ़ाया। **थॉमस होब्स** के अनुसार प्रकृति का सम्बन्ध अन्तरिक्ष में घूमने वाले पदार्थों (Bodies) से है। **होब्स** के अनुसार इनका अस्तित्व है और हमसे कोई सम्बन्ध स्थापित किए बिना भी इनका अस्तित्व हो सकता है। होब्स के सत्ता

सम्बन्धी विचारों में 'गति' का स्थान महत्त्वपूर्ण है। "गति उतनी ही आधारभूत है जितनी कि स्थिरता।" वह स्वयं ही अपना कारण है। यदि कोई वस्तु स्थिर है तो वह तभी गतिमान हो सकती है, जब कोई गतिशील वस्तु उसे धकेले।

होब्स के प्रकृति के विवरण में 'समय' की धारणा भी हमारे अनुभव का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। इसका आभास तब होता है जब हम किसी वस्तु को एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते देखते हैं। गति के सन्दर्भ में यह 'पहले' और 'बाद' का अनुभव है। ज्ञान के विषय में होब्स का मत है कि ज्ञान आरंभ इन्द्रिय सम्बन्धी प्रभाव से होता है। होब्स ने इसे मानसिक प्रतिबिम्ब (Phantasm) की संज्ञा दी। इन मानसिक प्रतिबिम्बों द्वारा ही हम पर प्रकृति का प्रभाव पड़ता है।

रूसो ने प्राचीन प्रकृतिवादी परम्परा का एक महत्त्वपूर्ण दृष्टि से अनुसरण किया। रूसो की इच्छा अशान्त करने वाले द्वन्द्वों से महत्त्वाकांक्षाओं से और सघर्षों से दूर रहने की थी। उनका विचार था कि शान्ति तो सादा जीवन जीने तथा प्रकृति के निकट रहने से ही प्राप्त की जा सकती है। रूसो के मतानुसार बच्चे की सम्पूर्ण शिक्षा प्रक्रिया का मार्गदर्शन प्रकृति द्वारा ही होना चाहिए क्योंकि बच्चा स्वयं में क्रियाशील होता है, अतः रुचियाँ और स्वतंत्रता उसकी अभिव्यक्ति के प्रमुख साधन होने चाहिये।

रूसो के रोमांटिक प्रकृतिवाद में प्रकृति को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आस्था एवं आदर का स्थान प्राप्त है। रूसो के अनुसार बच्चा जन्म से ही बुरा नहीं अपितु अच्छा होता है। अतः बच्चे की शिक्षा प्राकृतिक नियमों के अनुसार ही चलनी चाहिए और विद्यालयी गतिविधियाँ बाल केन्द्रित और बालक की आवश्यकताओं के अनुकूल होनी चाहिए।

रोमांटिक प्रकृतिवादियों का दूसरा निष्कर्ष यह है कि बच्चे के कुछ करने के प्रयत्न द्वारा उसकी किसी मूल प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति होती है। अतः बच्चों की रुचियों की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। बच्चे की स्वतन्त्र क्रियाओं पर सामान्यतः कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहिए, अन्यथा उसकी आत्माभिव्यक्ति अपूर्ण रह जायेगी

और वह मानसिक रोग का शिकार हो सकता है। अत: रूसो ने अपनी शिक्षा सिद्धांत नामक कृति में बच्चे की आवश्यकताओं, उसके विचारों, भावनाओं, इच्छाओं एवं मूल्यों को उच्च स्थान दिया है।

रूसो की तुलना में हरबर्ट स्पेन्सर भावनाहीन थे। उनके अनुसार, "सत्ता का ज्ञान एक रहस्य है, यह बोधगम्य नहीं है तथा एक ऐसी पहेली है जिसका समाधान नहीं हो सकता।" अन्तिम सत्ता का विवेचन उन्होंने एक बल अथवा ऊर्जा के रूप में किया। पदार्थ अथवा गति के मूल में सदैव ऊर्जा ही होती है। पदार्थ और गति दोनों ही इन्द्रियगोचर होते हैं।

प्रकृतिवाद दर्शन का सिद्धांत (Principle of Naturalism)

प्रकृतिवाद का आधारभूत सिद्धांत यह है कि प्रकृति में एक क्रम है और हम अपने जीवन में इस प्रकृतिक्रम का निस्संकोच प्रयोग तथा उस पर विश्वास कर सकते हैं। प्रकृतिवाद का निम्नलिखित विवेचन, उन मुख्य समस्याओं पर आधारित है जो प्रारम्भ से ही दर्शन की समस्याएँ रही हैं। यह समस्याएँ हैं– तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा तथा मूल्यमीमांसा। प्रकृतिवादी विचारधारा की व्याख्या सहज प्रकृतिवाद एवं विवेचनात्मक प्रकृतिवाद के रूप में की जा सकती है।

प्रकृतिवाद की तत्त्वमीमांसा (Metaphysics of Naturalism)

सहज प्रकृतिवाद के अनुसार प्रकृति की अन्तिम सत्ता कोई एक विशेष पदार्थ (Particular Substance) है। प्राचीन प्रकृतिवादियों के अनुसार यह पदार्थ एक प्रकार का जड़ पदार्थ है जो दिक् (Space) में गतिमान रहता है। इसी कारण प्रकृतिवादियों को बहुधा 'भौतिकवादी' भी कहा जाता है, परन्तु स्पेन्सर के अनुसार मूल तत्त्व भौतिक पदार्थ न होकर ऊर्जा है। अत: स्पेन्सर को 'ऊर्जावादी' कहा गया है। नाभिकीय भौतिक में प्रगति के फलस्वरूप भौतिकवाद का प्रभाव कम अवश्य हुआ है, परन्तु प्रकृतिवादियों का अभी भी दृढ़ मत है कि पदार्थ ही एक आधार स्तम्भ है जिस पर मानव अनुभवों का ढाँचा खड़ा है। डैमोक्राइटस, एपिक्युरस और ल्युक्रिटियस की ही भाँति जनसाधारण का आज भी यही मत है कि प्रकृति का अनन्त पदार्थ ही है।

विवेचनात्मक प्रकृतिवाद (Explanatory Naturalism)

कामटे के समय से प्रकृतिवादी सत्ता का एक मूल पदार्थ के द्वारा व्याख्या कर सकने में असंतोष व्यक्त करने लगे। कामटे ने प्रकृतिवाद में प्रत्यक्षवादी विचारधारा को जन्म दिया। प्रत्यक्षवाद प्रकृति को एक ऐसी संरचना के रूप में स्वीकार करता है जिसके द्वारा प्रकृति के नियम अभिव्यक्त होते हैं, जैसे–कारण व प्रभाव, गुरुत्वाकर्षण के नियम इत्यादि। प्रकृति में हमें नियमितता तथा विश्वसनीयता का आभास होता है जिन्हें हम नियमों द्वारा व्यक्त करते हैं। इस नियमितता अथवा विश्वसनीयता के आधार पर बनी प्रकृति की संरचना क्रमबद्ध मानी जा सकती है।

इस प्रकार से प्रकृति को परिभाषित करने का अर्थ पदार्थ की तुलना में उसके रूप को अधिक महत्व देना। इसके परिणामस्वरूप विज्ञान को ज्ञान का महत्वपूर्ण स्रोत माना जाता है। कामटे के पश्चात् प्रकृति की व्याख्या (द्रव), संरचना अथवा निकाय के रूप में न करके एक प्रक्रिया के रूप में की गई। निकाय के विचार को इसलिए अस्वीकार किया गया क्योंकि यह नियमों व सम्बन्धों के स्थान पर अत्यधिक बल देता है। प्रकृति एक प्रक्रिया के रूप में है न कि क्रमबद्ध निकाय के रूप में, क्योंकि इसके नियम व सम्बन्ध परिवर्तनशील हैं। प्रकृति में एकत्व यांत्रिक ही नहीं अपितु निरन्तरता से सम्बन्धित हैं, जो सभी प्राकृतिक वस्तुओं में देखा जा सकता है। प्रकृति न तो यांत्रिक इकाई है और न ही मात्र वस्तुओं का समूह। ध्यान रहे कि क्रम रहित होने के बहुत मार्ग हैं परन्तु स्वाभाविक रूप द्वारा कार्य करने का केवल एक ही मार्ग है।

प्रकृतिवाद की ज्ञानमीमांसा (Epistomology of Naturalism)

प्रकृतिवादियों के अनुसार सत्ता और प्रकृति से परे कोई सत्ता नहीं है। परन्तु प्रश्न यह है कि सत्ता के इस सिद्धान्त की सत्यता को कैसे जाना जा सकता है? यह प्रश्न हमें प्रकृतिवादियों के ज्ञानमीमांसा की ओर ले जाता है।

एपिक्यूरस तथा ल्युक्रिटिअस ने कहा था कि समूचा ज्ञान हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त करते हैं। अवबोधन (Perception) एक प्रकार से फोटोग्राफिक पुनर्निर्माण की भाँति है जिसके फलस्वरूप वस्तुएँ प्रेक्षक के मन पर अपनी प्रतिकृति (Replica) छोड़ देती हैं। थामस होब्स ने इन्द्रिय जनित ज्ञान की व्याख्या 'गति' की सहायता से की। उन्होंने कहा कि वस्तुओं में अपने आपको इन्द्रियों के द्वारा मन पर अपनी छाप छोड़ने की प्रवृत्ति बाह्य वस्तु की ओर बढ़ने की होती है।

फ्रांसिस बेकन के अनुसार हम ज्ञान की प्राप्ति प्रकृति व प्राकृतिक घटनाओं के प्रत्यक्ष प्रेक्षण द्वारा करते हैं। मानव प्रकृति के विभिन्न पक्षों के आलोकन तथा विशिष्ट प्रेक्षणों के संग्रह द्वारा मानव अपने जगत् का ज्ञान प्राप्त करता है इस विधि को आगमन विधि (Inductive Method) कहते हैं। इस प्रकार का ज्ञान निगमन विधि (Deductive Method) से प्राप्त ज्ञान से अधिक विश्वसनीय एवं लाभदायक होता है। इस प्रकार बेकन ने निगमन के स्थान पर आगमन का सिद्धांत अधिक महत्त्वपूर्ण माना है।

प्रकृतिवाद की मूल्यमीमांसा (Exiology of Naturalism)

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्रकृतिवादी जीवन मूल्यों को महत्व देते हैं। प्रकृतिवादी में मूल्यमीमांसा सम्बन्धी दो नियम हैं। पहले नियम का सम्बन्ध मूल्यों के सामान्य विवरण तथा व्याख्या से है। इस नियम के अनुसार मूल्य प्रकृति में ही विद्यमान है। दूसरे नियम का सम्बन्ध उस विधि से है जिसके द्वारा अपेक्षित मूल्य आत्मसात् किए जा सकते हैं। हमारा जीवन जिस सीमा तक प्रकृति संगत तथा प्रकृति-अनुकूल होगा हम प्रकृति में निहित मूल्यों को उस सीमा तक प्राप्त कर सकते हैं। प्रकृति के साथ समयोजन से ही अधिकतम शान्ति प्राप्त की जा सकती है।

जहाँ तक नैतिक मूल्यों का प्रश्न है प्रकृतिवाद मूलतः सुखवादी है, अर्थात् सुख की प्राप्ति में ही उत्कृष्ट कल्याण अथवा हित है। सर्वाधिक परिष्कृत और चिरस्थाई सुख ही नैतिक न्याय का आधार है।

अतः जो व्यक्ति सचेत रूप से प्रकृतिवादी नैतिकता का अनुसरण करता है वही अपने दैनिक कार्यकलाप द्वारा चिरस्थाई सुख व संतुष्टि प्राप्त करेगा।

शिक्षा में प्रकृतिवाद (Naturalism in Education)

यदि कोई व्यक्ति इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि प्रकृतिवाद का शिक्षा में कोई योगदान नहीं है तो आश्चर्य न होगा। यह एक प्रकार से ठीक भी है। क्योंकि प्रकृतिवादियों का विश्वास मानव समाज की अपेक्षा प्रकृति में अधिक है। यदि प्रकृति ही इतनी महत्त्वपूर्ण है तो फिर विद्यालय जैसी संस्थाओं की आवश्यकता ही क्या है? शायद यह उचित होगा कि बच्चे के अधिगम तथा स्वास्थ्य इत्यादि के लिए प्राकृतिक मार्ग अपनाए जाएँ। प्रकृतिवाद के अनुसार माता-पिता ही सर्वोत्तम शिक्षक हैं तथा बालक की शिक्षा के लिए विद्यालय जैसे साधन का कोई महत्त्व नहीं है।

परन्तु यह सत्य नहीं है। अधिगम अत्यन्त स्वाभाविक प्रक्रिया है और मानव का शैशवकाल अत्यन्त लम्बा होता है तथा इस अवधि में निरन्तर संरक्षण व अनुदेशन की आवश्यकता पड़ती है। परिपक्वता दर व विधि की दृष्टि से मनुष्य अन्य प्राणियों की अपेक्षा काफी पिछड़ा हुआ प्राणी है। मनुष्य का लम्बा शैशवकाल प्राकृतिक है तथा इसी कारण शिक्षा का औचित्य स्वयम् सिद्ध है। अतः शैक्षिक संस्थाएँ स्वाभाविक रूप से आवश्यक है। आइए अब हम शिक्षा के महत्त्वपूर्ण पक्षों के विषय से प्रकृतिवादी विचारधारा की जानकारी प्राप्त कर करें।

शिक्षा के उद्देश्य
(Aims of Education)

स्पेन्सर के अनुसार जीवन का लक्ष्य संसार में प्रसन्नतापूर्वक समग्र जीवन व्यतीत करना है। स्पेन्सर ने समग्र जीवन के सम्प्रत्यय की पाँच मुख्य खण्डों में व्याख्या की है जो निम्नलिखित हैं :-

आत्म संरक्षण (Self Preservation)

जीवन का मुख्य उद्देश्य आत्म संरक्षण तथा अन्य सभी उद्देश्य इसी में विद्यमान हैं। आत्म संरक्षण की प्रवृत्ति व्यक्ति में प्राकृतिक एवं जन्मजात है, परन्तु फिर भी उसे स्वास्थ्य आदि के नियमों की जानकारी शिक्षा द्वारा प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त वह अपनी जीविका कमाने के लिए उपयुक्त कौशल शिक्षा द्वारा ही प्राप्त करता है। इस प्रकार शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति उन आवश्यक कौशलों, योग्यताओं तथा आदतों को सीखता है जो आत्म-संरक्षण के लिए अनिवार्य हैं।

जीवन की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति (Fulfilment of basic needs of Life)

इसके लिए धन मुख्य साधन है। शिक्षा उन कौशलों के विकास में सहायक होती है जो जीविका कमाने के लिए अनिवार्य माने जाते हैं। धन के अभाव में व्यक्ति का आत्म-रक्षण कठिन है।

संतति हस्तान्तरण (Generation Transfer)

जीवन एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होता है। हस्तान्तरण वयस्क पीढ़ी युवा पीढ़ी को न केवल भौतिक जीवन प्रदान करती है अपितु सांस्कृतिक हस्तान्तरण भी करती है। अतः बालकों के उचित पालन-पोषण तथा उनके सामाजीकरण की कला प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति को आनी चाहिए।

सामाजिक एवं राजनीतिक सम्बन्ध (Social and Political Relation)

सुखमय परिवर्तन जीवन के बाद सुखमय नागरिक जीवन का प्रश्न उत्पन्न होता है समग्र जीवन के लिए सामाजिक एवं राजनीतिक प्रक्रियाओं की जानकारी तथा उन्हें कुशलतापूर्वक निभाने की क्षमता प्रत्येक व्यक्ति में होनी चाहिए।

अवकाश का उचित प्रयोग

जीवन केवल संघर्ष ही नहीं संघर्ष से मुक्ति भी समग्र जीवन का महत्त्वपूर्ण अंश है। शिक्षा का एक उद्देश्य व्यक्ति को अपने अवकाश

के क्षणों का उचित उपयोग सिखाना भी है, जिससे उसकी भावनाओं का पोषण कर सके तथा उसकी कलात्मक वृत्तियों की तृप्ति की जा सके।

शिक्षा सम्बन्धी संकल्पना

प्रकृतिवादी शिक्षार्थी को सर्वप्रथम भौतिक रूप में स्वीकार करते हैं। देहधारी होने के कारण उसकी पहली आवश्यकता यह है कि वह स्वस्थ व बलवान् हो ताकि वह जीवन के संघर्षों से जूझ सकें।

एक नन्हें प्राणी के रूप में बालक विश्व के अन्य जीवों से बहुत भिन्न है। उसका शैशवकाल अन्य प्राणियों की तुलना में बहुत लम्बा है। मानव शिशु को अपनी जैविक तथा शारीरिक प्रक्रियाओं के अतिरिक्त प्रत्येक क्रिया सीखनी पड़ती है। शारीरिक विकास की दृष्टि से नन्हें जानवर, मानव शिशु की तुलना में अधिक श्रेष्ठ है। पशु का बच्चा जन्म के कुछ घण्टों के पश्चात् चलने लगता है और एक अथवा दो वर्ष में उसका शारीरिक विकास पूरा हो जाता है। मानव के शैशवकाल, बाल्यावस्था तथा किशोरावस्था में जीवन के प्रथम बीस वर्ष बीत जाते हैं। परन्तु समृद्ध मूल्यों के ग्रहण करने का अवसर प्रदान करती है जो पशु जीवन में सम्भव नहीं है। इस लम्बे काल में शिक्षा का महत्व स्पष्ट है। बच्चा, वयस्कों पर शारीरिक तथा मानसिक पोषण के लिए आश्रित रहता है। यद्यपि बालक कई प्रकार से शिक्षित होता रहता है। बालक अपने संवेदनाओं के साथ-साथ अपने आपको कई प्रकार से अन्य व्यक्तियों पर आश्रित रखता है फिर भी शिशु अपने आपको कई प्रकार से शिक्षित करता रहता है। बालक अपने संवदेनाओं के साथ-साथ अपने समग्र शरीर का विभिन्न कार्यकलापों में प्रयोग करता है। सम्भवतः बालक की ये क्रियाएँ दूसरों को उद्देश्यहीन लगती हैं परन्तु इन सबके द्वारा बालक अवबोधों और सम्बन्धों का निर्माण करता रहता है। उसकी ये क्रियाएँ ज्ञान प्राप्ति की सहज प्राकृतिक प्रक्रिया है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि प्राकृतिक विकास के लिए नैतिक मूल्यों से किस तरह जुड़े हुए हैं? क्या बच्चे स्वभावतः इतने अच्छे होते हैं कि उनकी वरीयताएँ हमेशा ही विश्वसनीय हो?

हरबर्ट स्पेन्सर का मत है, "कदापि नहीं।" वास्तव में मानव शिशु न तो प्राकृतिक रूप से अच्छा है और न ही बुरा। वह अच्छाई तथा बुराई का मिश्रण है। वह मासूम है, निष्पाप है, परन्तु उसमें बुरा संवेग नहीं है। यद्यपि शिक्षा प्रक्रिया बच्चे को अच्छा बना सकती है परन्तु वास्तव में यह ऐसा करने में सक्षम नहीं हो रही है; और न ही इसकी कोई ऐसी गारंटी है। इसका मूल कारण है कि शिक्षा का संचालन वयस्कों द्वारा किया जाता है जो स्वयं ही अपूर्ण तथा दोषयुक्त है।

शैक्षिक प्रक्रिया
(Education Process)

स्पेन्सर ने प्रकृतिवादी शैक्षिक प्रक्रिया के निम्नलिखित सात नियम प्रस्तुत किए हैं–

शिक्षा वृद्धि एवं मानसिक विकास की प्राकृतिक प्रक्रिया के अनुसार प्रदान की जाए।

यह मूल नियम बच्चे के स्वभाव पर आधारित है। अधिगम की प्रकृति बच्चे की मानसिक परिपक्वता पर निर्भर करती है न कि अध्यापक की योजना अथवा समाज पर। अधिगम तभी सम्भव है जब वह शिक्षार्थी के अनुभवों के अनुकूल तथा उससे मेल खाता हो।

शिक्षा सुखदायी बनाया जाए।

यदि बच्चे मानसिक न भौतिक रूप से अधिगम के लिए तत्पर हो तो अधिगम अधिक प्रभावी होता है। किसी क्रिया विशेष के प्रति बालक की तत्परता उसकी उस क्रिया के प्रति रुचि पर निर्भर करती है। फलस्वरूप बालक की विभिन्न विषयों तथा कार्य करने के तरीकों में रुचि अध्यापक तथा अभिभावकों को दिशा प्रदान करती है। अत: विषय वस्तु तथा शिक्षण विधियाँ ऐसी हों जिनसे बच्चों में प्राकृतिक तत्परता उत्पन्न हो सकें।

शिक्षा बच्चे की सहज क्रियाओं पर आधारित होनी चाहिये।

जैसा कि पहले बताया गया है बच्चे बहुत अधिक मात्रा में

अपने को स्वयं शिक्षित करता है। उसका अधिकांश ज्ञान उसकी अन्य व्यक्तियों एवं पदार्थों के साथ क्रियाओं पर निर्भर करता है। यह विशेष रूप से हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान के विकास के सन्दर्भ में सत्य है। प्रत्यक्ष ज्ञान को हम बचपन में अपने प्रयत्न द्वारा प्राप्त करते हैं। स्पैन्सर की सलाह है कि ज्ञान प्राप्ति के लिए अध्यापक बच्चे को कम से कम बताए और बालक को 'खोज द्वारा ज्ञान प्राप्ति' के लिए अधिक प्रेरित करें।

ज्ञान प्राप्ति शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

स्पेन्सर का मत है कि शारीरिक ज्ञान, गणित, भौतिकी, रसायन-शास्त्र, जीव-विज्ञान इत्यादि विषयों का ज्ञान विभिन्न धंधों में सफलता के लिए एक तरह की गारण्टी है और यह ज्ञान उपरोक्त पाँच उद्देश्यों की प्राप्ति के साथ गहन रूप से जुड़ा हुआ है।

शिक्षा शरीर तथा मन दोनों के लिए होनी चाहिए।

बच्चे के पाठयक्रम में ऐसी विषय वस्तु सम्मिलित की जाए जिससे बच्चे की क्षमताएँ पूर्ण रूप से विकसित हों। मन और शरीर दोनों का विकास समान रूप से महत्त्वपूर्ण है। अत: पाठयक्रम में दोनों प्रकार के कार्यकलापों का स्वस्थ संतुलन होना आवश्यक है।

शिक्षण विधियाँ आगमनात्मक होनी चाहिए।

प्रकृतिवादी विचारधारा के अनुसार बच्चे की स्व-क्रियाओं का पूर्ण उपयोग किया जाना चाहिए। उसे कम से कम बताया जाए तथा स्वयं खोजन के लिए उसे अधिक से अधिक प्रोत्साहित किया जाए।

बच्चे को दोषपूर्ण कार्यों के लिये प्राकृतिक प्रतिफलों के आधार पर दण्ड दिया जाये

दण्ड अवश्य दिया जाए परन्तु सहानुभूति सहित दिया जाए। जिस प्रकार हम शिक्षण प्राकृतिक लय के अनुसार करना उचित समझते हैं, दण्ड भी उसी प्रकार देना चाहिये जैसे कि प्रकृति देती है। ऐसा करने के लिए हमें दण्ड के स्वरूप को प्रत्येक अवस्था में निर्धारित करना पड़ेगा। परन्तु दण्ड देते समय क्रोध इत्यादि से बचना होगा। उदाहरण के

लिये, जब भी कोई बच्चा अपनी उंगलियाँ आग में डालता है तो उसकी उंगलियाँ जल जाती हैं। वह जब भी ऐसा करता है उसकी उंगलियाँ जलती हैं। इस दण्ड में कोई कठोर वचन नहीं कहा जाता, केवल आग की तेजी और स्पर्श की अवधि के अनुसार जलन होती है। इस प्रकार प्रकृति आग के प्रभाव से परिचित कराती है। हम अध्यापक अथवा अभिभावक के रूप में बच्चे को दण्ड देने के लिये इसी प्रकार की प्राकृतिक विधियों का प्रयोग कर सकते हैं लेकिन बिना किसी झिड़क, कठोर शब्द अथवा भावनाओं का सहारा लिये। अध्यापक अथवा अभिभावक बच्चे को दण्ड देते समय अपना सौहार्द्र खोये बिना दृढ़ दृष्टिकोण अपना सकते हैं। किसी अवज्ञाकारी बच्चे को भी यह महसूस नहीं होना चाहिये कि वह अपने अध्यापक/अभिभावक की सहानुभूति खो बैठा है। अध्यापक/अभिभावक की भावनाओं के विस्फोटक प्रदर्शन से भावात्मक सौहार्द्र समाप्त हो जाता है, जो बच्चे के लिए निश्चित रूप से घातक है।

निःसन्देह कुछ परिस्थितियाँ अत्यन्त खतरनाक होती हैं तथा इनमें बच्चे को प्राकृतिक दण्ड-परिणाम से बचाना आवश्यक है। उदाहरण के लिए अत्यधिक यातायात वाली सड़क को पार करने के लिए बच्चे को अकेला छोड़ दिया जाए तो उसके परिणाम अत्यन्त गंभीर हो सकते हैं। अतः बच्चे की इस प्रकार के जोखिम की जानकारी अप्रत्यक्ष रूप से दी जानी चाहिए।

आदर्शवाद
(Idealism)

प्राचीन समय से लेकर आधुनिक युग तक दर्शन में आदर्शवाद तथा प्रकृतिवाद परस्पर प्रतिद्वन्द्वी रहे हैं। अन्य दो दर्शन, यथार्थवाद तथा प्रयोजनवाद, बीसवीं शताब्दी में उभरे, यद्यपि इनकी जड़ें भी अतीत में ढूँढी जा सकती हैं। प्राचीन समय में आदर्शवाद का आरम्भ सुकरात तथा प्लेटो से हुआ। आधुनिक समय में यह डेकार्टे से आरम्भ हुआ और उनके पश्चात् स्पिनोजा, लादूर्बाज, बर्कले, काण्ट तथा हीगल ने आदर्शवादी

विचारधारा को आगे बढ़ाया। प्राच्य दर्शन, विशेषकर भारतीय दर्शन, विषय वस्तु और भावना की दृष्टि से, सदैव आदर्शवादी रहा है। इसके स्रोत हैं : वेद, पुराण, उपनिषद् और अन्य शास्त्र जैसे उत्तर मीमांसा, पूर्व मीमांसा, सांख्य, योग इत्यादि। वस्तुत: भारतीय दर्शन केवल ज्ञानात्मक उद्यम (Enterprise) ही नहीं अपितु एक जीवन मार्ग रहा है। यही कारण है कि सामान्य रूप से भारतीय जन समूह अपने विचारों में आदर्शवादी रहे हैं। वे अन्तिम सत्ता को पुरुष अथवा आत्मा अथवा शुद्ध चैतन्य के रुप में मानते हैं, कहीं-कहीं सत्ता को द्वैतवादी जैसे पुरुष व प्रकृति तथा कहीं-कहीं बहुलवादी भी माना गया है।

आदर्शवाद का अर्थ और अवधारणा (Meaning and concept of Idealism)

आदर्शवाद Idealism 'आइडिया' शब्द से निकला है। वास्तव में इसे आइडियाइज्म लिखा जाना चाहिए था परन्तु 'एल' की ध्वनि मुखसुख के लिए जोड़ दी गई। अत: आदर्शवाद को आदर्शों आइडियल्स (Ideals) का दर्शन न मान कर विचारों (आइडियाज) का दर्शन मानना चाहिए, अत: आदर्शवाद विचार-प्रधान दर्शन है। प्लेटो तथा अन्य आदर्शवादी दार्शनिकों का यह विश्वास था कि केवल विचार ही स्थाई होते हैं तथा सत्ता अपने अन्तिम स्वरूप में विचार प्रधान है। उदाहरण के लिए प्लेटो का एक प्रमुख एवं प्रसिद्ध सिद्धांत विचारों का सिद्धांत है जिसे उन्होंने रूप-विधान की संज्ञा दी। उनके अनुसार प्रत्यय अथवा रूप-विधान ही वास्तविक सत्ता है और चिरकालिक भी, जबकि इनकी तुलना में स्थूल पदार्थ क्षणभंगुर है। भौतिक वस्तुएँ विभिन्न प्रत्ययों के अपूर्ण मूर्तरूप हैं। उदाहरण के लिए मेज का एक सार्वभौमिक प्रत्यय है तथा मेजें 'मेंज' के सार्वभौमिक प्रत्यय की अपूर्ण अभिव्यक्ति है। ये प्रत्यय अथवा रूप-विधान तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से पहले आते हैं और मानव संसार में अस्तित्व वाली विभिन्न वस्तुओं के लिए आदर्श रूप होते हैं।

हमें विदित है कि किसी भी दर्शन की मूल समस्याएँ तत्त्वमीमांसा,

ज्ञानमीमांसा तथा मूल्यमीमांसा से सम्बन्धित हैं। आइए अब यह देखें कि इनमें से प्रत्येक समस्या के विषय में पाश्चात्य आदर्शवादियों के क्या विचार हैं?

आदर्शवाद की तत्त्वमीमांसा (Metaphysics of Idealism)

प्रकृतिवाद की आधारभूत मान्यता है कि प्रकृति में एक क्रमबद्धता है और उस पर भरोसा किया जा सकता है। इसी प्रकार आदर्शवाद भी एक विशिष्ट मान्यता पर टिका हुआ है। आदर्शवादियों का विचार है कि हमारी एक आत्मा भी है जो हमारे शरीर से भिन्न है तथा यह आत्मा चिरकालिक व स्थाई है। आदर्शवादियों का दृढ़ मत है कि मन अथवा आत्मा, जिसे प्रत्येक व्यक्ति अपने अन्दर अनुभव कर सकता है, मूलत: यथार्थ और ब्रह्माण्ड की सत्यता का सार रूप 'मन' अथवा 'आत्मा ही है।

डेकार्टे का कहना है कि हम विश्व की किसी भी वस्तु की सत्यता पर संदेह कर सकते हैं परन्तु स्वत्व (Self) पर नहीं, क्योंकि संदेह का होना ही इस सत्य का प्रमाण है कि कोई-न-कोई संदेहकर्ता भी है। उन्होंने कहा था 'कौग्निटो अग्रोसम' अर्थात् "मेरा अस्तित्व इस बात से स्पष्ट होता है कि मैं चिन्तन करता हूँ।"

आदर्शवाद की ज्ञान मीमांसा (Epistomology of Idealism)

बर्कले तथा कांट के दर्शनों में आदर्शवाद के ज्ञानमीमांसा सम्बन्धी आधार ढूँढे जा सकते हैं। बर्कले के अनुसार जिस संसार का हम अनुभव करते हैं, उसकी प्रकृति हमारे मन पर निर्भर करती है। जो कुछ भी हम अनुभव करते हैं वह अनुभव कर्ता के मन से होकर हम तक पहुँचता है। कांट के ज्ञान के विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि शुद्ध संवेदना तो मूलत: व्यवस्थाहीन प्रक्रिया है जिसमें सभी प्रकार के संवेदी उद्दीपन (Sensory Stimulation) हम निश्चेष्ट रूप से प्राप्त करते हैं। संवेदना की इस अव्यवस्था का समाधान अवबोधन द्वारा किया जाता है। अवबोधों द्वारा संवेदनाओं को दिक् (Space) तथा काल (Time) का परिप्रेक्ष्य प्राप्त होता है। इसके

अतिरिक्त कार्य-कारण इत्यादि अन्य कोटियों द्वारा संवेदना में प्रत्यय व वैचारिक ऐक्य बन जाते हैं। कांट के अनुसार ज्ञान अथवा मन के ये वर्ग संवेदनाओं को एक विशिष्ट रूप प्रदान करते हैं जिससे वे अनुभूति बन जाते हैं। "चिन्तन की कोटियों" द्वारा अनुभूति रूप में ही हमें उसका ज्ञान है। चिंतन के इन प्रवर्गों का अस्तित्व हमारे अनुभव से पहले ही होता है। वास्तव में यही हमारे अनुभवों को सम्भव बनाते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि व्यक्ति जो कुछ अनुभव करता है क्या वह सत्य है? इसकी गारन्टी क्या है? हम कैसे आश्वस्त हो सकते हैं कि हमारे विचार, प्रत्यय अथवा राय वास्तविकता से मेल खाते हैं? हम देखते हैं कि किसी वस्तु विशेष के साथ हमारी प्रतिक्रिया भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न होत है। दूसरी बात है कि किसी वस्तु सम्बन्धी हमारे विचार अथवा राय के विचारों से भिन्न हो सकते हैं। यह कैसे जाना जा सकता है कि सत्य के अधिक निकट कौन है अथवा कौन-सी प्रतिक्रिया वास्तविकता के अधिक निकट है? सत्य की जानकारी प्राप्त करने की सर्वोत्तम विधि है कि हम अपने अनुभव में सुसंगति तथा तर्क पर आधारित सामंजस्य स्थापित करें।

अतः सुसंगति अथवा सामंजस्य वास्तव में ही सत्यता की परख है। सुसंगति दो गुणों पर आधारित होती है, वस्तुनिष्ठता व विश्वसनीयता। प्रयोगात्मक परिणाम तभी विश्वसनीय कहे जाते हैं जब बार-बार प्रयोग करने पर वही परिणाम प्राप्त हों। इसी प्रकार यदि विभिन्न व्यक्तियों को एक ही प्रयोग के परिणामस्वरूप एक समान परिणाम प्राप्त हों तो उन्हें वस्तुनिष्ठ कहा जाएगा।

सम्भवतः तार्किक सुसंगति पर आग्रह करने के कारण ही आदर्शवादियों को तर्कवादी भी कहा गया है। उनका अनुभवजन्य ज्ञान (Empirical Knowledge) में अधिक विश्वास नहीं है। बुद्धिवादियों के अनुसार ऐसा ज्ञान अस्थिर, अपर्याप्त तथा भ्रामक है। उनके विचार में तर्क सिद्ध ज्ञान ही सत्य व स्थाई है। आदर्शवादियों का मत है कि जो ज्ञान तार्किक दृष्टि से असंगत है वास्तव में कभी सत्य नहीं हो

सकता।

आदर्शवाद की मूल्यमीमांसा (Exiology of Idealism)

आदर्शवादियों विशेषकर कांट का यह विश्वास है कि विभिन्न आदमी मानव रूप हैं न कि अलग-अलग चीजें अथवा जीव। वे मानस हैं, उनका अपना व्यक्तित्व है तथा वे आत्माएँ हैं। अन्य प्राणियों तथा पदार्थों के अस्तित्व की तुलना में उनका महत्व अधिक है। अत: मनुष्य को सदा साध्य के रूप को देखा जाना चाहिए साधन के रूप में नहीं। तर्क द्वारा यह सिद्ध होता है कि कुछ ऐसे नैतिक नियम हैं जो सार्वभौमिक रूप में मान्य हैं। यदि सभी व्यक्ति उनकी अवहेलना करने लगेंगे तो सामाजिक व्यवस्था अव्यवस्थित हो जाएगी। नैतिक मूल्यों को प्राप्त करने के संदर्भ में काण्ट ने कुछ नैतिक नियम दिए हैं। उदाहरण के लिए काण्ट का एक नियम इस प्रकार है– "अपने आपके प्रति अथवा दूसरों के प्रति ऐसा व्यवहार करें जिससे सिद्ध हो कि आप मानव जाति को साधन के रूप में नहीं अपितु साध्य के रूप में देख रहे हैं।"

शिक्षा में आदर्शवाद (Idealism in Education)

प्रकृतिवाद या यथार्थवाद के शैक्षिक सिद्धांत के विषय में इतना साहित्य उपलब्ध नहीं जितना कि आदर्शवाद के विषय में है। पहले हम शिक्षा की एक संस्था के रूप में व्याख्या करेंगे। तत्पश्चात् आदर्शवादियों द्वारा प्रतिपादित शिक्षा के उद्देश्यों की समीक्षा करेंगे तथा अन्त में अन्य सभी कारकों की विवेचना करेंगे जो शैक्षिक प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं।

शिक्षा एक सामाजिक संस्था के रूप में (Education as a Social Institution)

शिक्षा का मानव समाज की संस्था के रूप में अस्तित्व एक आत्मिक अनिवार्यता है, मात्र प्राकृतिक आवश्यकता नहीं। मानव संस्कृति तथा संस्थाएँ एक आत्मिक सत्ता के कार्य की अभिव्यक्ति है। यदि मनुष्य को वास्तव में मनुष्य बनाना है तो स्पष्ट है कि शिक्षा ही उसे

ऐसा बना सकती है। वह जन्मजात क्षमताओं के कारण न केवल मानव के रूप में विकसित हो सकता है अपितु दैवत्व को भी प्राप्त कर सकता है। कोई मनुष्य किस प्रकार का व्यक्ति बनेगा यह उसके सामाजिक परिवेश की संस्कृति पर निर्भर करता है। यदि व्यक्ति बनेगा यह उसके सामाजिक परिवेश की संस्कृति पर निर्भर करता है। यदि व्यक्ति भेड़ियों के वातावरण में रखा जाए तो वह भेड़िए की तरह ही व्यवहार करेगा, मनुष्य की तरह नहीं। मनुष्य, जो कुछ अथवा जैसा भी है, अपनी संस्कृति के कारण ही है। विद्यालय इसलिए भी है क्योंकि यह मनुष्य को वह सब देता है जिसकी उसे एक मानव के रूप में आवश्यकता होती है। सामाजिक संस्था के रूप में विद्यालय व्यक्ति को सांस्कृतिक जन्म देता है।

व्यक्ति के सामाजिक स्वभाव (प्रकृति) के कारण विद्यालय की आवश्यकता भी स्पष्ट है। यदि व्यक्ति स्वभावतः सामाजिक प्राणी है तो शिक्षा भी अनिवार्य रूप से सामाजिक प्रक्रिया होगी, वैयक्तिक अथवा व्यक्तिगत नहीं। यदि मनुष्य प्राकृतिक रूप से सामाजिक प्राणी है तो उसका वातावरण भी सामाजिक होना चाहिए। अतः शिक्षा व्यक्ति के सामाजीकरण हेतु आवश्यक है।

कुछ आदर्शवादियों की यह धारणा है कि विद्यालय समाज का एक साधन या माध्यम है। इसका यह अर्थ हो सकता है कि विद्यालय समाज के नियंत्रण में है। इस स्वरूप में विद्यालय के लिए कई जोखिम हैं। सम्भवतः यह कहना उचित होगा कि विद्यालय समाज का मन (Mind) है। विद्यालय एक असाधारण चिन्तनात्मक संस्था है जो व्यक्ति तथा समाज को वैचारिक अनुदेशन व नेतृत्व प्रदान करती है। स्पष्ट है कि विद्यालय इस स्वरूप में साधन मात्र नहीं हो सकता। जिस संस्था का कार्य समाज का नेतृत्व हो, वह नेतृत्व प्रदान करने वाली संस्था ही कही जाएगी। अतः विद्यालय को सभी प्रकार से समाज के नियंत्रण में रहना उपयुक्त नहीं।

शिक्षा की परिभाषा (Definition of Education)

पेस्टालॉजी ने शिक्षा की परिभाषा इस प्रकार दी है : "मनुष्य की स्वाभाविक शक्तियों का प्राकृतिक, सर्वांगीण और प्रगतिशील विकास ही शिक्षा है।" थोड़ा विचार करने पर पता चलेगा कि इस परिभाषा से विद्यालयी शिक्षा का स्वरूप अभिव्यक्त नहीं होता है। इसके लिए बटलर की परिभाषा अधिक उपयुक्त होगी, जो इस प्रकार है :

"शिक्षा इस प्रकार की क्रिया अथवा अध्यवसाय है जिसके द्वारा मानव समाज के अधिक परिपक्व सदस्य कम परिपक्व सदस्यों में परिपक्वता लाने के निमित्त तथा उसके द्वारा मानव जीवन में योगदान देने का प्रयत्न करते हैं।"

यदि परिभाषा का विश्लेषण करें तो शिक्षा के सम्बन्ध में निम्नलिखित तथ्य हमारे सामने आते हैं :

- शिक्षा प्रदान करने अथवा अर्जित करने के लिए सक्रिय प्रयास की आवश्यकता होती है।
- शैक्षिक प्रक्रिया में शिक्षक अनिवार्य कारक है।
- शिक्षा के उद्देश्य तथा लक्ष्य पूर्व निर्धारित होते हैं।
- शिक्षा से न केवल व्यक्ति का विकास होता है बल्कि मानव समाज भी उत्तम बनता है।
- शिक्षा से व्यक्ति संस्कारी तथा परिपक्व बनता है।

शिक्षा के उद्देश्य (Aims of Education)

आदर्शवाद के अनुसार मनुष्य को न तो एक भौतिक जीवन के रूप में परिभाषित किया जा सकता है और न ही उसे अन्य प्राणियों से जोड़ा जा सकता है। मनुष्य इसलिए मनुष्य कहलाता है क्योंकि उसमें आध्यात्मिकता है। आदर्शवादी मनुष्य को ईश्वर की सर्वोत्कृष्ट उत्पत्ति (Creation) मानते हैं। अत: शिक्षा का सर्वोच्च उद्देश्य आत्माभिव्यक्ति अथवा आत्मानुभूति है। दूसरे शब्दों में शिक्षा का उद्देश्य है कि वह अपने सही स्वत्व को पहचाने तथा उसकी अनुभूति करे। आत्मानुभूति के लिए

चार चरण (सोपान) बताए गए हैं। सबसे नीचे के स्तर पर भौतिक या जैविक स्वत्व है। इसके अनुसार व्यक्ति का भौतिक व शारीरिक विकास उसकी आत्मानुभूति की तरफ पहला कदम/सोपान है। इसे ही प्रकृतिवादियों ने आत्माभिव्यक्ति कहा है। भौतिक स्वत्व के ऊपर सामाजिक स्वत्व आसीन है जिसकी अभिव्यक्ति हमारे सामाजिक सम्बन्धों द्वारा होती है।

सामाजिक नियमों की स्वीकृति, सामाजिक हित के लिए वैयक्तिक हित का बलिदान इत्यादि सामाजिक स्वत्व की अनुभूति के लिए आवश्यक है। इस सीढ़ी का तीसरा चरण मानसिक स्वत्व है। इसके अनुसार मानवीय व्यवहार का निर्देशन सामाजिक स्वीकृति अथवा अस्वीकृति पर ही आधारित नहीं होना चाहिए अपितु इसका नियंत्रण व निर्देशन तर्क और बुद्धि के आधार पर होना चाहिए। इस अवस्था में व्यक्ति सामाजिक नैतिकता से ऊपर उठ जाता है वह सत्य तथा असत्य व श्रेयस तथ प्रेयस में भेद जान जाता है। उसका व्यवहार, चिन्तन व विश्वास तर्क पर आधारित होते हैं। चतुर्थ पद आध्यात्मिक स्वत्व का है, जिसके फलस्वरूप व्यक्ति न केवल तर्क परक बौद्धिक शान्ति प्राप्त कर लेता है बल्कि उसके समूचे व्यक्तित्व में परिवर्तन आ जाता है। इस स्थिति में व्यक्ति विश्वात्मा के साथ एकरूप (Unity) हो जाता है।

विश्वात्मा अवर्णनीय होते हुए भी तीन रूपों 'सत्यम्', 'शिवम्' तथा 'सुन्दरम्' में वर्णित की जाती है। इन रूपों की व्याख्या इस प्रकार दी जाती है : सत्य परिवर्तन में नहीं है, प्रकटन में नहीं है, प्रकाशन में नहीं है, अपूर्ण भौतिक जगत् में नहीं है तथा न ही सापेक्ष है। सत्य निरपेक्ष है, चरम है, अविनाशी है, प्रत्यात्मक है तथा सम्पूर्ण जगत् का आधार है। जो सत्य है, वह शिव (कल्याणकारी) भी है और सुन्दर भी है।

'बोगोस्लोव्स्की' ने शिक्षा के लक्ष्यों को दो प्रकार से परिभाषित किया है। ज्ञान के संदर्भ में शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तित्व के सम्पूर्ण दृष्टिकोण का रूपान्तरण है और स्वत्व के संदर्भ में उच्च जीवन की उपलब्धि। बोगोस्लोव्स्की लिखते हैं : "हमारा उद्देश्य छात्रों को इस योग्य बनाना है कि वे सम्पन्न तथा सारयुक्त जीवन बिता सकें तथा सर्वांगीण

व्यक्तित्व का निर्माण कर सकें। यदि बाधाएँ आएँ तो गरिमा के साथ उनका सामना कर सकें तथा उच्च जीवन जीने में अन्य लोगों की भी सहायता कर सकें।"

हार्ने ने शैक्षिक उद्देश्यों का एक उत्क्रम (Ascending Hierarchy) प्रस्तुत किया है जिसमें आत्मानुभूति के उत्तरोत्तर सोपान निम्नलिखित हैं :

शारीरिक स्वास्थ्य (Physical Health)

इसे निम्न स्तर पर रखा गया है, परन्तु इसे सभी आगे के ध्येयों के आधार के रूप में स्वीकार किया गया है।

आर्थिक स्वतंत्रता (Economical Freedom)

इसमें वे कुशलताएँ सम्मिलित की गई हैं जो कि अपना तथा परिवार का भरण-पोषण करने के लिए आवश्यक हैं। इनका सम्बन्ध वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा सामाजिक न्याय से है।

ज्ञान (Knowledge)

इस सृष्टि को समझने के लिए तथ्यात्मक तथा तर्कपरक ज्ञान आवश्यक है तथा यह इसी सोपान के अन्तर्गत है।

सौन्दर्य की सराहना (Respect of Beauty)

इसके अन्तर्गत कलात्मक कृतियों का सर्जन सम्मिलित है।

चरित्र निर्माण (Character Formation)

इससे अभिप्राय व्यक्ति के नैतिक आचरण के विकास तथा सामाजिक न्याय की स्थापना से है।

उपासना (Worship)

शैक्षिक उद्देश्यों का यह सर्वोच्च शिखर है। इसके फलस्वरूप मनुष्य विश्वात्मा के साथ चेतन सम्बन्ध स्थापित करता है।

शिक्षा के सामाजिक उद्देश्य (Social Aims of Education)

आदर्शवादी दार्शनिक व्यक्तित्व के सामाजिक पक्ष की अवहेलना

नहीं करते। उनके लिए सामाजिक उद्देश्य व्यक्तिगत विकास में ही अन्तर्निहित है। यह सब होते हुए भी आदर्शवादियों की कई बार आलोचना की जाती है कि उनकी मान्यताएँ मूलत: वैयक्तिक हैं और उनके द्वारा सामाजिक पक्ष की अवहेलना हुई है। परन्तु उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आत्मानुभूति की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि शाखा के सामाजिक एवं व्यक्तिगत उद्देश्यों में पूरा सामंजस्य हो।

अध्यापक की अवधारणा (Concept of the Teacher)

प्रकृतिवादी दार्शनिकों की अध्यापक के प्रति दृष्टि संशयात्मक है। वे अध्यापक को अनिवार्य बुराई के रूप में स्वीकार करते हैं, परन्तु आदर्शवादी शिक्षा में अध्यापक को एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

अध्यापक के उत्तरदायित्वों के संदर्भ में फ्रोबेल ने एक सुन्दर उदाहरण का प्रयोग किया है। उनके अनुसार विद्यालय एक उद्यान है, अध्यापक माली है और बच्चे पौधे हैं। जैसे कि बीज में वे सभी योग्यताएँ व क्षमताएँ विद्यमान होती हैं जिनके फलस्वरूप वह एक अच्छा व्यक्ति बन सकें। नि:संदेह कोई भी पौधा या वृक्ष माली के बिना भी विकसित हो सकता है, परन्तु माली की देखरेख में पौधे के विकास को एक निश्चित दिशा दी जा सकती है। एक कुशल माली समय पर पौधों को पानी देता है, प्राकृतिक विपदाओं से उनकी रक्षा करता है, जब भी आवश्यकता हो खाद इत्यादि डालता है। इस प्रकार वह पौधे के सम्पूर्ण विकास की दिशा निर्धारित करता है। उसी प्रकार यद्यपि बालक भी अध्यापक के बिना अपने आपको शिक्षित कर सकता है क्योंकि अन्तत: बच्चे में उन्हीं योग्यताओं इत्यादि का विकास होता है जो उसमें अन्तर्निहित हैं। अध्यापक छात्र में कोई-कोई नई चीज तो डाल नहीं सकता, परन्तु वह इस प्रकार का वातावरण अवश्य तैयार करता है जिसमें बालक की क्षमताओं का पूर्ण विकास सम्भव हो सकें। इसके अतिरिक्त वह अध्ययन-अध्यापन की विभिन्न परिस्थितियाँ भी प्रस्तुत करता है।

बटलर ने एक आदर्श अध्यापक के गुणों की व्याख्या की है।

इनमें कुछ महत्त्वपूर्ण गुण निम्नलिखित हैं :

- अध्यापक को अपने विषय का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए।
- अध्यापक में शिक्षण व्यवसाय के लिए अपेक्षित सभी योग्यताएँ व क्षमताएँ होनी चाहिए।
- शिक्षक के अपने ज्ञान, व्यक्तित्व, अध्ययन, कौशल तथा चरित्र बल के प्रभाव से विद्यार्थियों से आदर प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिए।
- उसे अपने छात्रों का हितैषी व मित्र होना चाहिए।
- अध्यापक में ऐसे गुण होने चाहिए कि वह छात्रों को सीखने के लिए अभिप्रेरित कर सके तथा उनमें अध्ययन के प्रति रुचि विकसित कर सकें।

शिक्षक को जीवन कला में निपुण होना चाहिए। जो अध्यापक जीवन को उल्लास सहित ग्रहण नहीं कर सकता वह छात्रों को जीवन शक्ति प्रदान नहीं कर सकता।

शिक्षक के मन में अपने विषय के प्रति समुचित उत्साह होना चाहिए।

जो अध्यापक सिखाने का दायित्व ग्रहण करे उसे स्वयं भी निरन्तर कुछ-न-कुछ सीखते रहना चाहिए।

उसे प्रगतिशील विचारों का अग्रदूत होना चाहिए।

उसका लोकतान्त्रिक सिद्धांतों में पूर्ण विश्वास होना चाहिए तथा विद्यार्थियों से व्यवहार करते समय उसे उनका प्रभावी प्रयोग करना चाहिए।

अध्यापन विधियाँ (Teaching Method)

अध्यापक का अन्तिम लक्ष्य शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति है। अतः वह जिस विधि को किसी स्थिति विशेष में उपयुक्त समझे उसे ही प्रयोग में लाए। मूलतः विधि एक साधन है, साध्य नहीं। उसे साध्य

की प्रकृति स्वरूप के अनुसार साधन का चुनाव करना चाहिए। इसी कारण आदर्शवादी अध्यापकों का अधिकतम प्रयत्न उद्देश्यों का निर्माण करने में लगता है।

विषयवस्तु, शिक्षार्थियों की प्रकृति और उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए आदर्शवादी शिक्षक को निम्नलिखित विधियों में से किसी एक विधि का चुनाव करना चाहिए।

स्व-क्रियाएँ (Self Action)

आदर्शवादियों के अनुसार शिष्य एक आत्मा है जिसमें स्व-प्रेरणा की क्षमता है। शिक्षा का वास्तविक आधार छात्र की प्रेरणा है। अतः शिक्षा वस्तुतः स्व-शिक्षा ही है।

प्रत्यक्ष अनुभव (Direct Experience)

उनके अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान वास्तव में प्रत्यक्ष अनुभवों द्वारा आसानी से और प्रभावी रूप से प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार का ज्ञान अपेक्षाकृत अधिक रुचिकर और स्थाई होता है। परन्तु सभी प्रकार का ज्ञान इस विधि द्वारा प्राप्त अथवा सम्प्रेषित नहीं किया जा सकता।

अनुकरण (Imitation)

अध्ययन-अध्यापन प्रक्रिया में अनुकरण एक महत्त्वपूर्ण प्रविधि है। बच्चा अभिभावकों, कुटुम्ब के अन्य सदस्यों, अपने साथियों और अध्यापकों का अनुकरण करके कुछ सीखता है। अनुकरण से सामाजिक व्यवहार विशेष रूप से सीखा जाता है। इसके अतिरिक्त कलात्मक क्रियाएँ तथा सृजनात्मकता भी अनुकरण द्वारा आत्मसात् होती है। बालक उस व्यक्ति का भी अनुकरण करता है जिसे वह आदर्श रूप में स्वीकार कर लेता है। उत्तर-किशोर अवस्था में आते-आते बच्चा कुछ मूल्यों का भी अनुकरण करने लगता है।

शिक्षण प्रविधियाँ (Teaching Technies)

आदर्शवादी अध्यापक प्रश्नोत्तर, वाद-विवाद, विचार-विमर्श से

अपना पाठ आरम्भ करता है, विशेषकर, जब विषयवस्तु चिन्तनात्मक हो। विचार-विमर्श तथा प्रश्नों द्वारा एक द्वन्द्वात्मक स्थिति उत्पन्न करता है जिसमें बच्चों को चिन्तन करने के लिए उत्साहित किया जाता है। यह प्राय: उन परिस्थितियों में प्रयुक्त होती है जहाँ विषयवस्तु के स्पष्टीकरण की आवश्यकता हो।

पाठ्यक्रम (Curriculum)

'बोगोस्लोव्स्की' ने अपनी पुस्तक 'आइडियल स्कूल' में पाठ्यक्रम को एक नवीन रूप में प्रस्तुत किया है। उन्होंने अध्ययन व विकास के चार क्षेत्र प्रस्तावित किए हैं जो एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। इनमें पहला ब्रह्माण्ड प्रभाग है, जिसमें विज्ञान का विस्तृत स्वरूप सम्मिलित है। इसके अन्तर्गत विद्यार्थी प्रकृति के निर्जीव बलों, सौर-मण्डल की उत्पत्ति तथा जीवन के विकास का अध्ययन करते हैं। दूसरा, सभ्यता प्रभाग है जिसमें सामाजिक विज्ञान का समग्र अध्ययन सम्मिलित है। सभ्यता से बोगोस्लोव्स्की का अभिप्राय उन सभी क्रियाओं, उपलब्धियों तथा मानवीय-संस्थाओं से है जो हमारे परिवेश को नियंत्रित करते हैं तथा जीवन की आवश्यकताओं, सुरक्षा तथा सुख-साधन का कारण हैं। इनमें वे सभी वस्तुएँ सम्मिलित हैं जिनकी हमें संकट, भय इत्यादि से बचने के लिए आवश्यकता है। भोजन, वस्त्र, मकान, तकनीकी संचार साधन तथा शासन व्यवस्था सभी इसके अन्तर्गत आते हैं। तीसरा संस्कृति प्रभाग है जिसमें दर्शन, कला, साहित्य-धर्म, इत्यादि शामिल हैं चौथा व्यक्तिगत प्रभाग है जिसमें भौतिक, शारीरिक, भावात्मक तथा ज्ञानात्मक कारक सम्मिलित हैं। इन सबसे मिलकर मानव का निर्माण होता है।

इस प्रकार जहाँ प्रकृतिवादी दार्शनिक तो अपने पाठ्यक्रम में वे ही अनुभव सम्मिलित करते हैं जिनका सम्बन्ध केवल 'व्यक्त' से है परन्तु वहाँ आदर्शवादी दार्शनिक पाठ्यक्रम में मानव जाति के सभी अनुभवों अथवा उपलब्धियों और उत्पादकों का समावेश करते हैं तथा इन्हें मानव ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों के अन्तर्गत क्रमबद्ध रूप में व्यवस्थित करते हैं।

प्रयोजनवाद
(Pragmatism)

प्रयोजनवाद एक आधुनिक दर्शन हैं और विशेष रूप से यह एक आधुनिक अमरीकी दर्शन है। परन्तु इस दर्शन की मूल जड़ें प्राचीन विगत में पाई जाती हैं। हम इस दर्शन की जड़ों को प्राचीन यूनानी दार्शनिक हेरैक्लाइटस तथा सोफिस्टो की शिक्षाओं में ढूँढ सकते हैं। हेरैक्लाइटस के अनुसार वास्तविकता निरन्तर प्रवाह परिवर्तन में निहित है। इस निरन्तर होने वाले परिवर्तन के कारण ही दृश्य वस्तुओं में भिन्नता आती रहती है। वस्तुएँ तथा अन्य सभी विचारवादी जो आज प्रतीत हो रहे हैं कल नहीं होंगे। इस बात को हेरैक्लाइटस द्वारा वर्णित निम्न तीन बातों से स्पष्ट किया जा सकता है।

- सभी वस्तुएँ परिवर्तनशील हैं, सदैव, कोई वस्तु नहीं टिकती है।
- एक ही सरित प्रवाह में कोई व्यक्ति पुनः प्रवेश नहीं करता है।
- उसी सरित प्रवाह में हम पुनः प्रवेश करते भी हैं और नहीं भी करते।

महान् सोफिस्ट प्रोटेगोरस का हेरैक्लाइटस के साथ मतैक्य है कि सम्पूर्ण जगत् परिवर्तनशील है अतः उन्होंने ज्ञान को इन्द्रियजनित बोध की संज्ञा दी। इस प्रकार की बोध प्रक्रिया में बाह्य वस्तुओं से आने वाले उद्दीपन व्यक्ति के मस्तिष्क से ज्ञानेन्द्रियों के मार्ग से आकर टकराते हैं, परिणामस्वरूप कोई प्रत्युतर आता है। अनुभूति (ज्ञान) का प्रादुर्भाव बाह्य उद्दीपनों तथा व्यक्ति के मानसिक ढाँचे की अन्योन्य क्रियाओं के संश्लेषण का फल है। प्रत्युत्तर बाह्य वस्तु की प्रतिमूर्ति न होकर वह है जो उसे व्यक्ति अपने इन्द्रियजनित बोध द्वारा निर्मित करता है। यह व्यक्ति की अपनी उस उक्ति के लिए जाना जाता है कि, "मनुष्य ही सभी वस्तुओं का मानदण्ड है" इसका अभिप्राय यह है कि जो प्रत्यक्ष बोध किसी विशेषज्ञ पर मैं करता हूँ, यह बोध मेरे लिए ही सत्य अथवा अर्थपूर्ण है।

प्रोटेगोरस द्वारा प्रत्यक्ष बोध रूप में दी गई ज्ञान की परिभाषा

तथा इस आधुनिक प्रयोजनवाद दर्शन में अत्यधिक समानता है। जॉन डीवी और हेरैक्लाइटस द्वारा प्रतिपादित 'परिवर्तन के नियम' को स्वीकार करते हुए प्रोटेगोरस का साथ देते हैं तथा सभी प्रकार के चिन्तन को 'प्रयोगीकरण' रूप में परिभाषित करते हैं। उनके अनुसार परिकल्पना, जिसका सत्यापन प्रयोगीकरण द्वारा कर लिया जाता है, ज्ञान बन जाती है। इस प्रकार का प्रयोगीकरण अन्य व्यक्ति को भी स्वीकार्य होता है क्योंकि प्रयोगीकरण व्यक्तिनिष्ठ न होकर वस्तुगत होता है, अत: डीवी प्रोटेगोरस के उस प्रतिपादन को स्वीकार नहीं करता कि मनुष्य ही सभी वस्तुओं का मापदण्ड है अपितु उनके अनुसार सामाजिक मन, अपनी प्रयोगीकरण की योग्यता के कारण सभी वस्तुओं का मापदण्ड है।

अमरीका में प्रयोजनवादी परम्परा (Pragmatic Tradition in U.S.A)

अमरीका में प्रयोजनवाद के उदय के साथ तीन अमरीकी शिक्षाविदों के नाम विशेष रूप से जुड़े हुए हैं जिसके कारण अमरीकी मानसिकता को अन्य व्यक्ति बहुधा प्रयोजनवादी मानसिकता की संज्ञा देते हैं। ये तीन नाम हैं : चार्ल्स सैन्डर्स पीयर्स, विलियम जेम्स तथा जॉन डीवी। पीयर्स उस विचार के प्रतिपादक थे जिसे प्रयोजनवाद का प्रादुर्भाव हुआ। जेम्स ने इसे ख्याति प्रदान की तथा इसके अर्थ को और अधिक स्पष्ट रूप से उभारा तथा डीवी महोदय ने इसे एक पूर्ण विकसित दर्शन के रूप में स्थान दिया तथा इसे प्रयोगात्मक बनाया। प्रयोजनवाद के प्रारम्भिक प्रतिवादनों (Formulations) में पियर्स ने कुछ इस प्रकार कहा : "किसी विचार अथवा प्रत्यय के अर्थ को मालूम करने अथवा औचित्य दर्शाने की विधि है कि उस प्रत्यय को वस्तुगत वास्तविकताओं की दुनियाँ के व्यवहार में ढाल कर देखें, जो भी इसके परिणाम निकलेंगे वह उक्त प्रत्यय का अर्थ होगा।"

जेम्स प्रयोजनवाद के विचार के साथ इतनी दृढ़ता से वचनबद्ध थे कि उन्होंने इस नियम को अपने जीवन का मार्ग बना लिया और इस प्रकार अपने धार्मिक जीवन के द्वन्द्वों का निराकरण कर लिया। प्रयोजनवाद के लिए जेम्स का उपागम (मार्ग) प्राकृतिक नहीं था अर्थात्

सत्यता यदि प्रयोजनवाद के नियमानुसार सही उतरती है तो उसमें स्थायित्व का पर्याप्त अंश होता है। दूसरी ओर डीवी की प्रयोजनवाद की व्याख्या प्राकृतिक है जिसके अनुसार जिसे हम सत्य कहते हैं वह स्थाई न होकर परिवर्तनशील है। विभिन्न विचारकों द्वारा दी गई प्रयोजनवाद की व्याख्याओं का विवरण भिन्न कथनों द्वारा संक्षिप्त रूप में दिया जा सकता है।

- सभी वस्तुएँ परिवर्तनशील हैं स्थाई कुछ भी नहीं है।
- अनुभूतियों द्वारा सत्यापित परिकल्पना ज्ञान का निकटतम उपागम है।
- अन्तिम सत्ता को जान लेना असम्भव है।
- किसी प्रत्यय के अर्थ को समझने के लिए यह आवश्यक है कि उसे व्यवहार में ढाला जाए, जो भी उसके परिणाम होंगे वे उस प्रत्यय का अर्थ होंगे।

प्रयोजनवाद की ज्ञानमीमांसा (Epistomology of Pragmatism)

मुख्य रूप से प्रयोजनवाद एक ज्ञानीमीमांसात्मक दर्शन है, यद्यपि इसका एक सत्ता मीमांसा भी हो सकती है। इसके अतिरिक्त मूल्यों के अध्ययन की ओर भी इसका काफी रुझान है। ऊपरी रूप से प्रयोजनवाद की ज्ञान प्राप्त करने की विधि दर्शन के परम्परागत रूपों से भिन्न है। ज्ञान का प्रयोजनवाद उपागम परम्परागत रूपों से इसलिए मेल नहीं खाता क्योंकि न तो यह पूर्ण रूप से बुद्धिवाद (तर्कवाद) को स्वीकार करता है और न ही अनुभववाद को। जैसा कि हमें विदित है ज्ञानमीमांसा में बुद्धिवादियों के अनुसार तर्क ही ज्ञान की मुख्य विधि है जबकि अनुभववादी प्रत्यक्षीकरण को वह माध्यम मानते हैं जिससे ज्ञान हम तक पहुँचता है। ये दोनों स्थितियाँ एक दूसरे के विरुद्ध हैं, इनके सम्बन्ध में प्रयोजनवादियों की ज्ञान विधि इन दोनों छोरों के बीच की अवस्था है।

प्रयोजनवाद बुद्धिवाद नहीं है क्योंकि इसके आधार सार्वभौमिक सत्य अथवा नियम नहीं है। बल्कि यह अनुभव को विशिष्ट मानता है। इसके बावजूद प्रयोजन के ज्ञान सिद्धांतों में (Theory of Knowledge) बुद्धिवादी तत्त्व हैं। अपने आप में केवल तथ्य ज्ञान का निर्माण नहीं कर सकते। बुद्धिवाद की तरह तथ्यों के ढाँचे का सफल संगठन ही ज्ञान का केन्द्रक है, असंगठित नग्न तथ्य नहीं। इस प्रकार के ढाँचे को न तो सार्वभौमिक सत्य अथवा नियम कहा जा सकता है और न ही यह आगमनात्मक सामान्यीकरण है जिसका निर्माण अलग-अलग बहुत-सी विशिष्ट घटनाओं के अध्ययन के पश्चात् बनाया गया हो। यह तो एक परिकल्पना है जो सफलतापूर्वक सही है। प्रयोजनवाद में अनुभव सम्बन्धी विषयवस्तु का प्रेक्षण इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षीकृत अनुभूति के संदर्भ में किया जा सकता है।

प्रयोजनवाद में अनुभूति मूलरूप में ज्ञान की बात नहीं है। सर्वप्रथम यह एक व्यवहार, कार्य करने अथवा जीवन जीने की प्रक्रिया है। अत: यह अपरिवर्तनशील प्रकार का कार्य, जो सदैव सत्य हो, नहीं है। यह तो ज्ञान के निकट की अवस्था है जो सदैव वर्तमान अनुभूति की इकाई के सापेक्ष है। जो जाना गया है वह केवल एक परिकल्पना है जो सफलतापूर्वक व संतोषजनक रूप से कार्य करती है। प्रयोजनवादी तथ्य एकत्रीकरण का ज्ञान नहीं मानते वे तो सूचना भण्डारण को गुण की बजाय दोष मानते हैं। वे कहते हैं कि वैज्ञानिक प्रेक्षण की विषयवस्तु महत्त्वपूर्ण तो है परन्तु इसका मूल्य किसी परिकल्पना को प्रदान करने तक सीमित है जिससे कि प्रयोगात्मक कार्य किया जा सके। प्रेक्षण और इसकी विषयवस्तु में अधिक महत्त्वपूर्ण है वैज्ञानिक विधि जो निम्नलिखित पदों द्वारा निर्मित है–

- किसी समस्या, बाधा अथवा तनाव का बोध
- उन सभी प्रकार के तथ्यों का प्रेक्षण जो उस अनुभूति विशेष की इकाई का निर्माण करते हैं तथा ऐसी परिस्थिति का विश्लेषण जिसमें बाधा अवबोधित हुई है।

- उन परिकल्पनाओं का निर्माण जिन पर कार्य करके समस्या का निराकरण किया जा सकता है।
- उन सभी परिकल्पनाओं का सत्यापन (एक-एक करके) यह कार्य उस समय तक करते रहते हैं जब तक वे परिकल्पनाएँ न मिल जाएँ जो संतोषजनक परिणाम देने में सक्षम हैं।

प्रयोजनवाद की तत्त्वमीमांसा (Metaphysics of Pragmatism)

जैसा कि पहले देखा गया है कि मुख्य प्रवृत्ति इसके ज्ञानमीमांसा की ओर है। यह प्रवृत्ति इतनी प्रबल है कि वास्तव में कहा जाता है कि प्रयोजनवाद में तत्त्वमीमांसा नामक तो कोई चीज ही नहीं है। डीवी ने अपनी पुस्तक में कहा कि सत्ता के प्रयोजनात्मक प्रत्यय का मुख्य लक्षण यह है कि वास्तव में इसका कोई तत्त्वमीमांसा अथवा सत्ता सिद्धांत है ही नहीं और न ही इसकी कोई आवश्यकता। तथापि हम विश्व का एक चित्रण कर सकते हैं जैसे एक प्रयोजनवादी इसे देखता है। इसे ही प्रयोजनवादियों के तत्त्वमीमांसा का नाम दिया जा सकता है। यहाँ निम्नलिखित तथ्य प्रतिज्ञाप्तियों के रूप में दिया जा रहा है–

जगत् एक अग्रभूमि केन्द्र स्थान है

प्रयोजनवादियों का ऐसी सार्वभौमिक सत्ता की खोज से कोई सरोकार नहीं है, जो हमारी सभी अनुभूतियों के लिए पृष्ठभूमि का कार्य करे। इस प्रकार की पृष्ठभूमि के प्रति उनका निकटतम उपागम यह है कि इस प्रकार की सार्वभौमिक सत्ता कुछ है ही नहीं।

जगत् सभी प्रकार से प्रक्रिया तथा परिवर्तन द्वारा परिलक्षित है

जगत् एक बहती धारा के समान है जिसमें ऐसा कुछ भी नहीं है जो स्थाई अथवा सदैव रहने वाला हो। हर चीज प्रवाह तथा गति में है।

जगत् अनिश्चित है

ऐसा जगत् जिसमें सभी वस्तुएँ परिवर्तित हों, पूर्ण सुरक्षा स्थापित

नहीं की जा सकती क्योंकि परिवर्तन का अर्थ है अननुमेयता तथा संकट। इन सबको अपरिहार्य रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए।

जगत् अपूर्ण व अनिश्चित है

एक मशीन संरचना के विपरीत जगत् अपूर्ण है तथा सम्भवत: निरन्तर विकासशील संरचना है। अत: मनुष्य की अन्वेषणात्मक शक्तियों द्वारा इसमें काफी वृद्धि की जा सकती है। ऐसे संयोग की भी गुंजाईश है जिसका भविष्य सक्षम नहीं हो सकता। प्रयोजनवादियों के अनुसार मनुष्य के पास चयन की स्वतंत्रता नहीं है, परन्तु वह अपने प्रयोगात्मक क्रियाकलापों द्वारा इन घटनाओं के प्रवाह की दिशा को बदलने की क्षमता रखता है।

जगत् बहुलवादी है

जगत् ऐसी संकल्पना नहीं है जिसमें सभी वस्तुओं की सम्भवत: एक पदार्थ द्वारा व्याख्या की जा सकें जगत् बहुत सारी भिन्न-भिन्न वस्तुओं से बना है।

अपनी प्रक्रिया के अन्तर्गत जगत् का कुछ ध्येय है

प्रयोगवादी जीवन के मूल्यों व उद्देश्यों का गम्भीरता से अध्ययन करते हैं। वे क्या हैं और क्या होना चाहिए के भेद के प्रति सजग हैं।

जगत् अनुभवजन्य सत्ता से परे न तो है और न ही इस प्रकार की सत्ता अपने अन्दर अन्तर्निहित करता है।

मनुष्य जगत् के साथ अनवरत है

यह प्रतिज्ञप्ति उस परम्परागत द्वैतवाद का खण्डन है जो एक ओर प्रकृति तथा दूसरी ओर मनुष्य की तर्क परक अनुभूति पर आधारित है। ज्ञान सम्बन्धी समस्या मुख्यत: इसलिए उभरती प्रतीत होती है क्योंकि हमारी यह मान्यता है कि एक चतुर (बुद्धिमान) जीव के रूप में मनुष्य प्रकृति से भिन्न है। वह प्रकृति का अंग है और इसके साथ अनवरत है।

मनुष्य जगत् का सक्रिय कारण नहीं है

इच्छा-स्वातंत्र्य तथा नियतिवाद प्रतिपादकों द्वारा दिए गए परम्परागत तर्कों के मध्य प्रयोजनवादियों ने एक मध्य मार्ग अपनाया है। गति के संदर्भ में मनुष्य यद्यपि इसके प्रवर्तक नहीं है, वह इसका कोई कारण नहीं है तथापि वह जगत के साथ परस्पर प्रतिक्रियाएँ करते हुए जगत् की दिशा को कुछ निर्णायक बिन्दुओं पर बदलने की योग्यता रखता है।

जगत् प्रगति की गारन्टी नहीं देता है

यह परिलक्षण नैतिक बिन्दुओं की ओर संकेत करता है। इसका अर्थ यह है कि जगत् निश्चित प्रतिश्रुति (Definite Gurarantee) नहीं देता जिस पर मनुष्य अभय होकर अपनी आशा बाँध सके। जगत् इस प्रकार से निर्भीक नहीं है कि हम भविष्य को पहले ही बता सकें। जगत् की घटनाओं की पुनर्दिशा व्यक्ति के लिए लाभदायक भी हो सकती है तथा हानिकारक भी। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि व्यक्ति हाथ पर हाथ धरे बैठा रहे अथवा जगत् की घटनाओं से अपने आपको दूर कर ले और उन्हें जैसा होती हैं होने दे। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य जीवन की घटनाओं के साथ बुद्धिमता से तथा साहसपूर्वक संघर्षरत रहे और जो कुछ भी वह कर सकता है, उसे प्रदर्शित करे। यद्यपि इस बात की कोई गारन्टी नहीं है कि परिणाम उसकी इच्छानुसार ही होंगे, परन्तु अभीष्ट उद्देश्य पूर्ण तो तभी हो सकते हैं जब वह जीवन की घटनाओं का सामना करे तथा बुद्धिमतापूर्ण निरन्तर प्रयास करता रहे।

प्रयोजनवाद की मूल्यमीमांसा (Exiology of Pragmatism)

प्रयोजनवाद मूल्यों की परिभाषा इस रूप में नहीं देता कि उनका अस्तित्व अन्तिम व सार्वभौमिक है। मूल्यों का अस्तित्व उस सीमा तक है जिस तक वे कार्यात्मक हैं अथवा कार्यकुशलता को प्रभावी बनाते हैं जिससे व्यक्तिगत-सामाजिक घटनाओं का प्रवाह ठीक प्रकार से होता रहे। प्रयोजनवादियों का मूल्य सिद्धांत केवल इच्छा अथवा आकांक्षा पर ही आधारित नहीं है। ये मूल्य की परिभाषा इस रूप में नहीं देते कि, "मूल्य वह है जो आकांक्षा की परिपूर्ति पूर्ण रूप से व्यक्तिगत अथवा

स्वार्थपूर्ण ढंग से कर सके।" प्रयोजनवादियों के मूल्य निर्धारण सिद्धांत में दो परिप्रेक्ष्य अन्तर्निहित हैं। पहले परिप्रेक्ष्य में एक प्रकार की आकांक्षा परिपूर्ति निहित है, परन्तु यह सीमित नहीं है और न ही स्वार्थपूर्ण है और न ही कठोर रूप में वर्तमान की ओर अभिमुख है। मूल्य सही रूप में किसी स्थिति के लिए सन्तोषप्रद होना चाहिए न कि किसी व्यक्ति विशेष के लिए जो उस परिस्थिति में सम्मिलित है।

मूल्य के संदर्भ में दूसरा निर्देशक अथवा मार्गदर्शक नियम यह है कि वर्तमान स्थिति का समाधान पूर्ण रूप से संतोषप्रद नहीं होगा जब तक कि यह अनुभूति को भविष्य सम्बन्धी परिस्थितियों की ओर सरलतापूर्वक प्रवाहित नहीं होने देता। मूल्य सिद्धांत यदि नैतिक पक्ष पर लागू किया जाए तो उससे उन सामान्य नीति परक द्वन्द्वों का समाधान हो जाना चाहिए, जो व्यक्ति की सापेक्ष तथा वस्तुगत आवश्यकताओं के मध्य पाई जाती है और यह सब प्रकार हो कि हमारा आचरण स्वीकार्य मानदण्डों के अनुरूप हो।

शिक्षा में प्रयोजनवाद (Pragmatism in Education)

शिक्षा को प्रयोजनवाद ने सामाजिक संस्थाओं में एक प्रमुख तथा केन्द्रीय स्थान दिया है। इस प्रकार के प्रयास में जॉन डीवी का प्रभाव सर्वाधिक कहा जा सकता है जिसने शिकागो में एक प्रयोगात्मक विद्यालय की स्थापना की और इस प्रकार अपने दर्शन के अनुकूल बच्चों को शिक्षित करने में लगे रहे।

शिक्षा एक सामाजिक संस्था के रूप में (Education as a Social Institution)

जॉन डीवी ने स्पष्ट किया है कि जब तक शिक्षा को एक सामाजिक संस्था के रूप में न समझा जाए यह अर्थहीन होगी। हरबर्ट स्पैन्सर के सिद्धांत के अनुसार प्रकृतिवाद में तो शिक्षा को मुख्यत: व्यक्तिगत शब्दावली में ही लिया जाता है। इसी प्रकार आदर्शवादी भी शिक्षा के अनिवार्य सामाजिक पक्ष को समझने में सम्भवत: निष्फल रहे हैं तथा वे भी कुछ सीमा तक शिक्षा को व्यक्तिगत शब्दावली द्वारा ही

परिभाषित करते हैं और यही हाल यथार्थवादियों का है। परन्तु प्रयोजनवादियों के लिए शिक्षा अनिवार्य रूप से एक सामाजिक घटना है। यह विधि है जिसके द्वारा समाज अपने आपको नवीनता प्रदान करता है।

इस प्रक्रिया में वे व्यक्तिगत विकास को भी उचित महत्त्व प्रदान करते हैं। तीन अनिवार्यताएँ हैं जिनके द्वारा वे विद्यालय के अस्तित्व को समाज की एक विशेष संस्था के रूप में उचित ठहराते हैं। विद्यालय प्रत्येक नई पीढ़ी की आवश्यकताओं के अनुसार निम्नलिखित अधिगम सामग्री प्रदान करता है।

(1) आधुनिक जीवन की जटिलताओं की माँग है कि हमें पिछली पीढ़ियों के अनुभवों का लाभ उठाना चाहिए।

(2) विरासत को संचारित करने के लिए भाषा प्रतीकों की आवश्यकता होती है क्योंकि वह अधिकतर लिखित रूप में पाई जाती है। अतः बच्चों से यह अपेक्षित है कि वे भाषा पर पूर्णाधिकार रखें ताकि इसका प्रयोग ठीक ढंग से हो सके।

शिक्षार्थी (Pupils)

प्रयोजनवाद के अनुसार सत्ता के निरन्तर सरिता प्रवाह का नव निर्माण जैविक, मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक बलों द्वारा होता रहता है। शिक्षार्थी परिवर्तन रूपी सरिता के स्पष्ट भाग हैं। अतः उन्हें अनुभूति के स्थल केन्द्र मानकर चलना चाहिए। उनका मार्गदर्शन इस प्रकार हो कि इस प्रवाह में, जिसके वे भाग हैं, अनुरूपकता अनुभव करें। परन्तु उनके अस्तित्व (सत्ता) की स्पष्टता किसी भी तरह उन्हें जीवन प्रक्रिया से अलग न करे। इस विश्लेषण से हमें यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि प्रयोजनवादी बच्चों की वैयक्तिकता को महत्व नहीं देते। वास्तव में वैयक्तिकता उनके लिए सामान्य रूप में जीवन तथा अनुभूति का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण है। वे व्यक्तिगत 'स्व' तथा व्यक्तिगत शिष्य हैं, परन्तु वे जीवन प्रक्रिया से अलग नहीं हैं जो कि व्यक्ति और समाज का जैविक योग है।

अलग-अलग शिष्य मुख्यतः अपने जैविक पक्ष में जीव हैं। वे निष्क्रिय ग्राही नहीं है जो इस बात की प्रतीक्षा में रहे कि बाह्य छाप उन पर अपने आप शिष्य केवल शारीरिक दृष्टि में जीव नहीं है, वे ऐसे जीव हैं जो अर्थ ग्रहण में सहभागिल रखते हैं। अतः वे मूल्य अनुभूतियाँ रखते हैं जो पशुओं में नहीं होतीं और किसी भी मूल्य अनुभूति का एक सामाजिक संदर्भ होता है।

शिक्षा का उद्देश्य (Aims of Education)

प्रयोजनवादियों के लिए उद्देश्य निर्माण का कार्य काफी उलझनों वाला है क्योंकि उनके विचार में कोई समाविष्ट करने वाली स्थाई सत्ता नहीं है। प्रश्न यह है कि कोई सामान्य उद्देश्य भी हो सकते हैं या उद्देश्य केवल किसी अधिगम स्थिति के लिए विशेष होते हैं। अधिगम स्थितियाँ चाहे वह अनौपचारिक हों अथवा विद्यालय परिसर में होने वाली औपचारिक, वे तो इस निरन्तर गति में घटनाएँ हैं। अतः उद्देश्य तो केवल ऐसी घटनाओं के लिए विशिष्ट ही हो सकते हैं। ऐसी अवस्था में सामान्य उद्देश्यों का अवबोधन यदि असम्भव नहीं है तो कठिन अवश्य प्रतीत होता है। मानव के सार के रूप में कोई अर्थ पूर्ण सामान्यीकरण कैसे किया जा सकता है। अनुभूति के घटनात्मक (प्रासंगिक) गुण के संदर्भ में (और इसलिए अधिगम अनुभूति के संदर्भ में) प्रायः प्रयोजनवादियों का कहना है कि शिक्षा के सामान्य उद्देश्य का अर्थ केवल और अधिक शिक्षा से है। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक सीखने सम्बन्धी घटना की उपलब्धि एक नए अधिगम के लिए माध्यम का कार्य करती है।

शिक्षा कार्य के बारे में प्रत्येक अनुभव के लिए मार्ग प्रशस्त करता है। एक अन्य सामान्यीकरण यह है कि शिक्षा का उद्देश्य शिक्षा को प्रभावी अनुभूतियों को प्राप्त करने के लिए अनुभव प्रदान करना है। वे स्कूल अधिगमों की अपेक्षा प्रभावी अनुभूतियों को अधिक बल देते हैं।

शिक्षा-प्रक्रिया (Education Process)

प्रयोजनवादियों द्वारा प्रतिपादित अधिगम प्रत्यय उनके ज्ञानमीमांसा के प्रकाश में सरलता से समझा जा सकता है। उनके विचार में अधिगम के लिए प्रयोगात्मक विधि सर्वोत्तम है। वास्तव में अधिगम तथा चिन्तन की यही एक विधि है। अधिगम चिन्तन की भाँति उस गति और क्रियाकलापों के बीच आरम्भ होता है जो कक्षा में अथवा अनौपचारिक क्रीड़ा समूह के मध्य चलती रहती है। हम जानते हैं कि अधिगम बच्चों की उस रुचि पर निर्भर करता है जो वे विभिन्न कार्यों में लेते हैं तथा स्थिति के, विद्यार्थी के संदर्भ में, औचित्य पर! क्योंकि विद्यार्थी उन्हीं क्रियाकलापों में अपने आपको सम्मिलित करते हैं जो उनकी किसी समस्या का समाधान कर सके। अत: ऐसी स्थिति में विद्यार्थी स्वत: ही रुचि रखेगा। क्योंकि वह तनाव की अवस्था में है जिसके निराकरण की उसे आश्यकता है, उसकी रुचि समस्या के सम्भावित समाधान में निश्चित रूप से होगी।

यह कौन-सा ढांचा है जिसमें सम्बन्धित भागों को सजाया जाए ताकि समस्या हो सके और अधिक अनुभूतियाँ प्राप्त करने का मार्ग खुल सके? इसके लिए हम पूर्व उल्लेखित वैज्ञानिक विधि का सहारा ले सकते हैं। प्रयोजनवाद वास्तव में शैक्षिक दर्शन है या हम यह भी कह सकते हैं कि एक शिक्षा सिद्धांत है।

प्रगतिशील शिक्षा पद्धति से विद्यार्थी को शैक्षिक क्रियाकलाप करने के लिए पर्याप्त स्वतंत्रता प्रदान की जाती है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं समझ लेना चाहिए कि अध्यापक महत्त्वहीन है। प्रगतिशील शिक्षा में अध्यापक का उत्तरदायित्व पुरानी शिक्षा पद्धति की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण एवं जटिल है। यह अधिगम सम्बन्धी क्रियाकलापों के लिए योजना तैयार करता है, परन्तु नई शिक्षा पद्धति में इसकी विधि भिन्न है और इसमें बुद्धि के उपयोग की अधिक आवश्यकता पड़ती है।

अध्यापक को चाहिए कि वह पहले बालक की क्षमताओं व आवश्यकताओं का मूल्यांकन करे, उन अवस्थाओं की भी व्याख्या करे

जो अनुभव के लिए विषयवस्तु प्रदान करती है और जिससे बच्चे की आवश्यकताओं की परिपूर्ति होती है और क्षमताओं का विकास होता है। निःसन्देह उसे अपने विद्यार्थियों की स्वतन्त्रता को आदर देना चाहिए परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उसकी अपनी कोई स्वतन्त्रता न रहे। अनुभव अभिमुख अधिगम में अध्यापक एक बाह्य अधिपुरुष (स्वामी) का पद छोड़कर सामूहिक क्रियाकलापों के नेता का रूप धारण करता है।

यथार्थवाद
(Realism)

यथार्थवाद का अर्थ अवधारणा (Meaning and Concept of Realism)

यथार्थवाद एक विशिष्ट दर्शन है जिसका प्रादुर्भाव आधुनिक है, यद्यपि इसका मूल अरस्तू द्वारा प्रतिपादित प्राचीन यूनानी दर्शन में मिलता है। यथार्थवाद के सभी रूपों में जो उभयनिष्ट है : उसका आदर्शवादी ज्ञानमीमांसा तथा तत्वमीमांसा के प्रति विद्रोही होना है। हमें यह विदित है कि आदर्शवाद के अनुसार हमारे अनुभव की गुणवत्ता ज्ञेय पर निर्भर नहीं करती अपितु ज्ञाता पर करती है। आदर्शवादी ईश्वर में सार्वभौमिक ज्ञाता के रूप में विश्वास करते हैं, जिसके अन्दर सभी गुणों का अस्तित्व है। इसके विपरीत यथार्थवादियों की धारणा है कि हमारे अनुभवों के गुण यथार्थ होते हैं, बाह्य विश्व के तथ्यों से स्वतन्त्र और किसी भी मन (मस्तिष्क) पर अपने अस्तित्व के लिए निर्भर नहीं करते चाहे वह मन सीमित हो (जैसे मनुष्य का) अथवा अनन्त (जैसे ईश्वरीय मन)। हमारे चारों ओर जो जगत् है वह वास्तविक है, कल्पित नहीं। प्रकृति एक स्वयं-सिद्ध वास्तविकता है और इसके पदार्थ जैसे वे प्रतीत होते हैं, वैसे ही हैं।

यथार्थवादी दर्शन को तीन प्रकार की धारणाओं (प्रमेय) के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो इस दर्शन के तत्त्वमीमांसा, ज्ञान मीमांसा तथ मूल्यमीमांसा कहलाते हैं। ब्रह्माण्ड वास्तविक भौतिक पदार्थों

द्वारा निर्मित है, जिनका अपना अस्तित्व है और जो बाह्य मानसिक सम्बन्धों से एक दूसरे के साथ जुड़े हुए हैं। इन पदार्थों और सम्बन्धों का अस्तित्व है चाहे हम उन्हें जान पाएँ अथवा नहीं। किसी वस्तु के होने का अर्थ नहीं कि उसे जान लिया गया है। हमारा स्वयं का और हमारे चारों ओर पाई जाने वाली वस्तुओं का (हमारी राय) इच्छाओं से स्वतन्त्र अस्तित्व है। इस प्रमेय को 'स्वतन्त्रता' प्रमेय कहा जा सकता है। वास्तविक तत्त्व और उनके सम्बन्धों को जैसे कि वे वास्तविक रूप में है, आशिक रूप में मानव मन द्वारा ज्ञात किया जा सकता है। अनुभव हमें दर्शाता है कि सभी प्रकार का अधिगम (सीखना) अपने सही रूप में ऐच्छिक अथवा सम्बन्धात्मक है। प्रत्येक प्रत्यय किसी चीज को दर्शाता है और प्रत्येक निर्णय किसी के बारे में होता है। किसी चीज को जानने का अर्थ है, उस विद्यमान तत्त्व (सत्ता) के सम्बन्धात्मक रूप में तादात्म्य स्थापित करना। यह प्रत्यय यथार्थवादिता प्रमेय है।

यथार्थवाद की मूल्य मीमांसा (Exiology of Realism)

ऐसा ज्ञान, विशेषकर जिसका सम्बन्ध मानव प्रकृति से है, हमें व्यक्तिगत तथा सामाजिक कार्यों के निर्देशन के लिए विश्वसनीय सिद्धान्त दे सकता है। सभी मनुष्यों में कुछ उभयनिष्ट विशेषताएँ होती हैं जो प्रत्येक बालक की अस्पष्ट प्रवृत्ति को बताती हैं। यदि मानव जीवन की सही रूप में परिपूर्ति करनी है तो इन प्रवृत्तियों को क्रमबद्ध रूप में साकार अथवा चरितार्थ करना होगा। सामाजिक और व्यक्तिगत कार्यों का अपरिवर्तनीय सार्वभौमिक ढाँचा तो मानव प्रकृति की परिपूर्ति के लिए आवश्यक है, नैतिक अथवा प्राकृतिक नियम कहलाता है।

यथार्थवाद की ज्ञानमीमांसा (Epistomology of Realism)

यथार्थवाद की मूल्यमीमांसा इस वाद का एक विशिष्ट तत्त्व है जिस पर अधिकतर यथार्थवादी मुख्य रूप से सहमत हैं। परन्तु यथार्थवादियों के ज्ञानमीमांसा की दो प्रधान अवस्थाएँ हैं जो इस बात पर निर्भर करती हैं कि वस्तुओं का चेतन मन में प्रस्तुतीकरण होता है अथवा चित्रण।

ज्ञानमीमांसात्मक अद्वैतवाद इस विचार के अनुसार बाह्य जगत्

की वस्तुओं का चेतन मन में प्रस्तुतीकरण होता है, चित्रण नहीं। मेरी चेतनता में जो प्रस्तुत है वह वास्तविक रूप में वही है जो बाह्य जगत् में विद्यमान है। मानसिक प्रतिभा जैसा कुछ नहीं होता जो वस्तु और मेरे बीच मध्यस्थता करता हो।

ज्ञानमीमांसात्मक द्वैतवाद

बहुत से यथार्थवादियों, विशेषकर विवेचनात्मक (क्रान्तिक) यथार्थवादियों को ज्ञानमीमांसात्मक दृष्टि से द्वैतवादी कहा जाता है। इनके अनुसार वस्तुएँ चेतनता में प्रस्तुत नहीं होती, केवल उनकी प्रतिमा होती है। मन की एक अन्तर्गतता होती है सम्भवत: जिसकी पहचान अद्वैतवादी नहीं कर पाये। वस्तु में जो गुण हैं वे वही नहीं हैं जो हमारे मन में हैं। किसी वस्तु के प्रति मेरी प्रतीती और वस्तु में अन्तर होता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि वस्तु के विषय में मेरा अनुभव वस्तु पर निर्भर करता है। परन्तु वह वस्तु नहीं है। वस्तु के भौतिक स्वरूपों का उन गुणों से भिन्न अस्तित्व होता है जिन्हें वे स्वरूप मेरे चैतन्य में उत्पन्न करते हैं।

उदाहरण के लिए एक टैनिस रैकेट की प्रतीती अर्थात् इसका भार, सन्तुलन, चमक इत्यादि ऐसे गुण हैं जो बिना किसी मन-सम्पन्न जीव के सम्भव नहीं है। अधिक स्पष्टता के लिए उपयुक्त उदाहरण है: किसी दी गई प्रकाश तरंग-दैर्ध्य और उस द्वारा आवर्तित रंग विशेष के गुण का जो हमारी आँखों से आवर्तित होकर हमारे मस्तिष्क को अनुभूति कराती है। रंग विशेष तथा तरंग-दैर्ध्य दोनों भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं।

यथार्थवाद की तत्त्वमीमांसा (Metaphysics of Realism)

यथार्थवादियों की तत्त्वमीमांसात्मक धारणाओं में अत्यधिक विविधता है। फिर भी यथार्थवाद के तत्त्वमीमांसा का चित्रण ऐसे प्रश्नों द्वारा किया जा सकता है, जैसे; (1) ब्रह्माण्ड को निर्मित करने वाले अन्तिम (शुद्ध) तत्त्वों की संख्या, (2) व्यक्ति के व्यवहार में स्वतन्त्रता तथा अनिवार्यता, (3) मन, ब्रह्माण्ड तथा ईश्वर की संकल्पनाएँ। बहुत सारे यथार्थवादी मौरिस, कोहन तथा बर्ट्रेंड रसेल बहुलवादी हैं। उनका विचार है कि ब्रह्माण्ड बहुत सारी सत्ताओं द्वारा निर्मित है जिनके विभिन्न

गुण होते हैं तथा जिनके एक दूसरे के साथ विभिन्न सम्बन्ध भी होते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ यथार्थवादी मन व पदार्थ, साधुता (ईश्वर) तथा बुराई की दृष्टि से द्वैतवादी हैं। अद्वैतवादियों का विचार है कि मन और बौद्धिक सत्ता में कोई अन्तर नहीं है। इसके अतिरिक्त यथार्थवादी भौतिक अथवा विद्युतीय ऊर्जा को भी कई वस्तुओं की अन्तिम सत्ता के रूप में स्वीकार करता है। यथार्थवादी मन को उसमें मानते हैं जिस का स्वंय का अस्तित्व है और जो किसी की भाँति भौतिक बल पर निर्भर नहीं करता है। इसी प्रकार यथार्थवादी कुछ नियमों व सिद्धांतों, जैसे गुरुत्वाकर्षण अथवा नैतिक नियमों, को ब्रह्माण्ड की अन्तिम सत्ता के रूप में मानते हैं।

नियतिवाद

व्यक्तिवाद जीवन में स्वतंत्र्य बनाम अनिवार्यता की समस्या के संदर्भ में यथार्थवादी प्राय: अनिवार्यता की ओर अधिक झुकते हैं। साधारण: यथार्थवादी क्रमबद्धता, शुद्धता तथा वस्तुनिष्ठता का आदर करते हैं और वे विश्व की यंत्र-विन्यास के रूप में, जैसे कि भौतिक विज्ञान प्राय: चर्चा करता है। इस बहुलवादी विश्व में 'कारण और प्रभाव' की प्रक्रिया क्रमबद्धता के लिए अनिवार्य है। कोई भी घटना केवल संयोगवश नहीं होती है। मानव इस 'कारण और प्रभाव' रूपी विश्व का एक अंग है जो इसके भीतर रहता है बाहर नहीं। अत: इसमें इच्छा-स्वातंत्र्य नाम की कोई वस्तु नहीं मिलती।

परन्तु बहुत से यथार्थवादियों की दृष्टि में यह बात इतनी यान्त्रिक नहीं है। डुरां ड्रेक का यह विश्वास है कि किसी चीज अथवा मार्ग का चुनाव व संकल्प हमारी अनुभूति के पक्ष में है। उनका विश्वास है कि हमारे सांकल्पिक कार्य उत्तर-कालीन घटनाओं के कारण होते हैं और कार्य-प्रेरणा कारणात्मक प्रभावों जैसे जन्मजात प्रवृत्तियाँ, विगत जीवन तथा वातावरण पर आधारित हैं।

शिक्षा में यथार्थवाद (Realism in Education)

यथार्थवाद और शिक्षा का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए यह

आवश्यक है कि हम उन शैक्षिक क्रियाकलापों का अध्ययन करें जो यथार्थवादी अभिवृति द्वारा अपेक्षित है। इसके लिए हमें यथार्थवादी दर्शन का सम्बन्ध कुछ महत्वपूर्ण पक्षों से स्थापित करना होगा जो इस प्रकार है :–

- शिक्षा एक सामाजिक संस्था के रूप में।
- विद्यार्थी की संकल्पना।
- शिक्षा के उद्देश्य।
- शैक्षिक प्रक्रिया।

यथार्थवादी शिक्षा के इन पक्षों का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है।

शिक्षा एक सामाजिक संस्था के रूप में (Education as a Social Institution)

शिक्षा और यथार्थवाद के संदर्भ में पहली चीज जिसका निर्णय करना चाहिए; वह है विद्यालय की आवश्यकता और इसके अस्तित्व का औचित्य। शिक्षा का एक सामाजिक संस्था के रूप में औपचारीकरण क्यों किया जाना चाहिए?

कमेनियस के अनुसार, "सामाजिक संस्था के रूप में विद्यालय का विशिष्ट कार्य है।" उनके अनुसार मनुष्य का जैविक जन्म ही उसे मनुष्य नहीं बनाता। यदि वास्तव में मनुष्य के रूप में रूपान्तरण होना है तो उसके मूलभूत व्यक्तित्व को मानव संस्कृति द्वारा दिशा और रूप दिया जाना चाहिए। जैसा कि सर्वविदित है कि यदि बच्चों का पालन-पोषण पशुओं के समूह में और उनके द्वारा होता है तो उनमें जीने का ढंग पशुओं जैसा हो जाता है। पशुओं की भाँति वे अपने हाथों व पैरों के बल चलने लगते हैं। वे भोज्य सामग्री को अपने हाथों की बजाए मुँह से ही तोड़ते-फाड़ते हैं और वे जब तक कि मनुष्यों द्वारा नहीं पढ़ाए जाएँ शब्दों का प्रयोग नहीं करते। ऐसे प्रेक्षणों के आधार पर कमेनियस ने शिक्षा को 'प्रशिक्षण' तथा विद्यालय को मनुष्यों के लिए 'वास्तविक

गढ़त स्थान' की संज्ञा दी।

जॉन वाइल्ड ने विद्यालय के इस संप्रत्यय को थोड़ा परिष्कृत रूप में परिभाषित किया। उनका मत है कि मानव समूह जीवन तथा वह जो उसमें श्रेष्ठ रूप में मानवीय तत्त्व हैं अगली पीढ़ी को विरासत के रूप में नहीं सौपा जाता है अपितु वह तो शिक्षा द्वारा ही सीख तथा परिरक्षित किया जाता है। हमें विरासत में तो केवल वे ही प्रवृत्तियाँ प्राप्त होती हैं जो अनिश्चित तथा नमनशील हों। वास्तव में मुख्य रूप से स्कूल का कार्य तो मानवीय वंशानुगत प्रवृत्तियों को मालूम करना तथा उन्हें उचित दिशा देना है। अत: शिक्षा व्यक्ति की मूलभूत आवश्यकता तथा मूलभूत अधिकार है। मूलभूत अधिकारों में 'शिक्षित होना' अत्यन्त मूल्यवान् है और उसकी उपयुक्त अनुभूति के लिए अत्यन्त आवश्यकता है।

शिक्षार्थी (Pupil)

यथार्थवादी शैक्षिक दर्शन का दूसरा तत्त्व है वह बालक जिसको शिक्षित किया जाना है। विद्यार्थी की प्रकृति क्या है? तथा उसका आवश्यक ढांचा क्या है? शिक्षा उसे किस भाँति परिवर्तित अथवा रूपांतरित कर सकती है? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिन पर विचार करना और फिर निर्णय पर पहुँचना अत्यन्त आवश्यक है। इस संदर्भ में सर्वप्रथम बात है बच्चे ही पहल शक्ति की। क्या बच्चा इतना स्वतन्त्र है कि वह वातावरण पर अपना नियंत्रण स्थापित कर सके अथवा वह केवल वंशानुगतता तथा वातावरण का केवल एक उत्पादक है। जिससे कि उसके कार्य पहले से ही निर्धारित हैं?

यदि अध्यापक कुछ यथार्थवादियों द्वारा प्रतिपादित पूर्ण नियतिवाद को स्वीकारता है तो उसकी दृष्टि से शिक्षा का एक कार्य है; 'बच्चे को विश्व का संचालन करने वाले भौतिक बलों की अनुभूति कराना।' ऐसे ब्रह्माण्डीय बलों की पहचान कर लेना तथा उनके अनुकूल अपने जीवन का समायोजन कर लेना एक महत्त्वपूर्ण बात होगी। इसके फलस्वरूप व्यक्ति बहुत से व्यर्थ के संघर्षों से छुटकारा पा सकता है और बहुत-सी

बातों को प्रकृति पर छोड़ अपने मानसिक संतुलन को बिगाड़ने से बच सकता है।

परन्तु यदि कोई अध्यापक नियतिवाद का सुधारा हुआ रूप स्वीकार करता है तो उनकी शिक्षार्थी की संकल्पना भिन्न होगी। इस अवस्था में अध्यापक को अपने शिष्य से यह अपेक्षा होगी कि वह उन कारणोत्पादक बलों को पहचाने जो विश्व में कार्यरत हैं तथा जिन पर उसका अपना कोई नियंत्रण नहीं हैं। इसके अतिरिक्त अध्यापक को नियन्त्रित करने की योग्यता (जहाँ तक ऐसा नियन्त्रण सम्भव है) अपने अन्दर उत्पन्न कर सके। ऐसी अवस्था में उद्देश्य, शक्ति तथा ऐच्छिक क्रियाओं पर बल दिया जाएगा। प्रोफेसर ब्राउडी चार सिद्धान्तों के द्वारा शिक्षार्थी के संप्रत्यय का वर्णन करते हैं। उनके विचार में ये चार सिद्धांत ही मानव 'स्व' का सार होते हैं। ये सिद्धांत हैं (1) अनुकूली सिद्धांत (2) स्व, निर्धारण का सिद्धांत (3) आत्मानुभूति का सिद्धांत तथा (4) स्वं-एकीकरण का सिद्धांत।

अनुकूली सिद्धांत का सम्बन्ध व्यक्तित्व के शरीर-विज्ञानी आधारों से है। हमारी प्रवृत्तियाँ हमारे ऊतकों की आवश्यकताओं (जिससे कि वे अपना संपोषण तथा उत्पादन करती रहती हैं) को बताती है। हमारी अभिलाषाएँ, कम से कम आंशिक रूप से हमारी ऊतक आवश्यकताओं के साथ मिल जाती हैं। इसके अतिरिक्त उनका सम्बन्ध उन आवश्यकताओं के संपोषण के लक्षणों से स्थापित हो जाता है।

सभी अभिलाषाएँ वास्तव में अभिलाषाएँ नहीं होतीं। बहुत-सी इच्छाओं के मूल उन आशयों में पाए जाते हैं। वे ऊतक आवश्यकताओं तथा उनके संपोषणों के साथ जुड़े हुए हैं। इस कारण हमारी अधिकतर आवश्यकताएँ उस संस्कृति की देन हैं जिसमें हम रहते हैं और इन्हें 'वांछनीय तथा अवांछनीय' इत्यादि का नाम दिया जाता है। वे स्वतः ही अपने आपको एक ऐसे जीवन में संगठित नहीं करतीं जिसे अच्छे जीवन की संज्ञा दी जा सके, क्योंकि कोई अभिलाषा स्वयं हमें यह योग्यता प्रदान नहीं करती कि हम वास्तविक आवश्यकताओं में भेद कर सकें।

शैक्षिक दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण है। यदि अध्यापन का आरम्भ सदैव शिक्षार्थी की समस्याओं से अथवा उसकी अनुभूत आवश्यकताओं से होता है तो इससे शिक्षार्थी की वास्तविक आवश्यकताओं की अवहेलना होने की काफी सम्भावना है, अत: अधिगम का निर्देशन अन्य बातों को भी ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए ताकि अधिगम तथा अध्यापन यथार्थ और जो ठीक है के साथ लगा रहे।

'स्व' में एक निरन्तरता, एक संरचना, विगत के साथ सम्बन्ध तथा भविष्य के प्रति सीखने की प्रवृत्ति होती है। परिवर्तित हो रही घटनाओं तथा स्थानों के साथ, एक निरन्तरता बनी रहती है। हमें यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि इन सभी अनुभवों में 'स्व' एक उभयनिष्ठ कारक के रूप में विद्यमान रहता है। अपने जीवन इतिहास के किसी बिन्दु पर कोई यथार्थ व्यक्तिगत 'स्व' उस बिन्दु से पूर्व की समग्र घटनाओं का प्रतिफल है। यह ऐतिहासिक संदर्भ भविष्य की प्रत्याशा तथा विगत का सिंहावलोकन है। यह अपने भविष्य के प्रति सजग है।

'स्व' के लक्षण स्पष्ट करते हैं कि स्वत्व के लिए इच्छा-स्वातंत्र्य कितना महत्त्वपूर्ण है। शरीर विज्ञानी स्तरपर प्रतिरोध अभिलाषा को कुण्ठा कहा जा सकता है, परन्तु मनोवैज्ञानिक स्तर पर पाया जाने वाला प्रतिरोध संकल्प का नाम नहीं है। अपितु यह तो भली-भाँति विचार किए गए निश्चयों को कार्यान्वित करने की इच्छा है और यह मनुष्य का प्रथम अधिकार है कि मनुष्य बिना मनुष्यत्व खोए इसका बलिदान नहीं कर सकता। स्व-संकल्प का खोना एक चूक है जो अध्यवसाय (परिश्रम) की कमी के कारण होता है, अथवा यह अकर्मण्यता, अनुपालन या आशक्ति के कारण हुआ पलायन है।

स्वातंत्र्य का निर्माण केवल सामान्य इच्छा द्वारा नहीं होता परन्तु उन इच्छाओं द्वारा होता है जो एक विचारशील 'स्व' आंकता है तथ चुनता है। जहाँ तक नियतिवाद का सम्बन्ध है विवेक की अपेक्षा है कि हम 'कारण और प्रभाव' सम्बन्धों की वैधता तथा विश्वसनीयता को पहचानें। नियतिवाद का यह अर्थ कदापि नहीं है कि हमारे समस्त

अनुभव भौतिक बलों का प्रतिफल है।

स्वत्व का तीसरा सिद्धांत (स्वानुभूति) स्वातंत्र्य किसी मूल्य को जोड़ता है। स्वातंत्र्य में यह अन्तर्निहित गारन्टी नहीं होती कि इसके परिणाम सदैव अच्छे ही होंगे। इससे सुख भी प्राप्त हो सकते हैं। एक अच्छा जीवन इस बात पर निर्भर करता है कि हम क्या और कैसे चुनते हैं।

स्वानुभूति को पूर्णवादिता की चेष्टा अथवा प्रयत्न नहीं समझना चाहिए। अपितु इसका उद्देश्य तो हमारे चिन्तन का क्रमिक उपयोग है जो हमारे जीवन का हर क्षण के साथ निरन्तरता स्थापित किए हुए है और न ही स्वानुभूति एक व्यक्तिगत मामला है। स्वानुभूति का सम्बन्ध व्यक्ति तथा समाज दोनों से है।

शिक्षा के उद्देश्य (Aims of Education)

यथार्थवाद में शैक्षिक उद्देश्यों का प्रत्यक्ष स्रोत इसका मूल्यमीमांसा है क्योंकि मूल्य सिद्धांत तथा यह निश्चय कि जीवन के मूल्य क्या है।, विशेष रूप से शैक्षिक उद्देश्यों को निर्धारित करेंगे। यह इसलिए है कि मुख्य रूप से यथार्थवादी दर्शन 'सुखवादी' है। एक यथार्थवादी अध्यापक अपने विद्यार्थियों में उस योग्यता का विकास करना चाहेगा जिससे कि वे अपनी महान् स्वानुभूति और दूसरों की भलाई के लिए वर्तमान सुखों का बलिदान दे सकें अर्थात् ऐसे सुखों की अवहेलना करना जिनको छोड़ने से भविष्य अधिक समृद्ध तथा सुखदाई हो सके।

यही बात दूसरे मूल्यों के साथ भी लागू होती है। इन मूल्यों का भी शैक्षिक उद्देश्यों में अपना स्थान है। जैसा कि यदि अभाव में स्वतंत्रता एक वास्तविक आर्थिक मूल्य समझा जाता है और इसी प्रकार सामुदायिक जीवन में सहभागिता एक यथार्थ सामाजिक मूल्य है तो यह दोनों शैक्षिक उद्देश्य समझे जाने चाहिए और कार्यक्रम इनकी ओर आमुख होने चाहिए।

शैक्षिक उद्देश्यों का सूत्र शिक्षार्थी आवश्यकताओं (Felt NeeosQ) तथा यथार्थ आवश्यकताओं के संदर्भ में ढूँढा जा सकता है। शैक्षिक कार्यक्रमों का निर्देशन शिक्षार्थी की यथार्थ आवश्यकताओं की परिपूर्ति की ओर होना चाहिए और ऐसी आवश्यकताओं का पता पहले ही लगा लेना चाहिए कि अनुभूत तथा यथार्थ आवश्कताएँ अनिवार्य रूप से एक रूप नहीं होती। हम अपने मार्ग से हट जाएँगे यदि हम अनुभूत आवश्यकताओं को अपना मार्गदर्शक बनायेंगे।

शैक्षिक प्रक्रिया (Educational Process)

अब प्रश्न यह है कि यथार्थवादी विचारधारा के अन्तर्गत विद्यालय में किस प्रकार के कार्यक्रम चलाए जाने चाहिए ताकि शिक्षा के उपरोक्त पूरे हो सकें। ब्राउडी महोदय के अनुसार ज्ञान अनुभूति ज्ञाता तथा ज्ञेय के मध्य सीधी क्रिया ले सकते जिसके अनुसार शैक्षिक प्रक्रिया सूचनाओं के प्रसारण की अथवा विद्यार्थी को वातावरण के प्रति अनुकूलित करने की प्रक्रिया है। इसके विपरीत यथार्थवाद के अन्तर्गत शैक्षिक प्रक्रिया अधिक गूढ़ तथा अन्तर्दृष्टि युक्त है। जहाँ तक पाठ्यक्रम का सम्बन्ध है यह विषय वस्तु केन्द्रित उपागम दोनों को अपर्याप्त समझकर अस्वीकार किया जाता है। ब्राउडी द्वारा सुझाए गए पाठ्यक्रम में उपरोक्त दोनों उपागमों को मिला दिया गया है।

आदर्श रूप में विषयवस्तु पाठ्यक्रम के अन्तर्गत आवश्यक सूचनाएँ (ज्ञान) तथा कुछ अच्छी समझी जाने वाली आदतों की प्राप्ति आती है। इस प्रकार की आदतों (अभ्यासों) के उदाहरण हैं सूक्ष्म प्रेक्षण, स्पष्ट एवं तर्कपूर्ण चिन्तन, तत्परता, सफाई तथा अध्यवसाय परन्तु व्यावहारिक रूप में जो होता है वह भिन्न है। जब वास्तविक रूप में सीखने की प्रक्रिया चलती है तो ये सभी आदर्श बातें भूला दी जाती हैं और रह जाती हैं वे सूचनाएँ जो हम बच्चों तक पहुँचाते हैं और इससे भी दुर्भाग्यपूर्ण बात तो यह है कि सामान्यत: यह सब भी केवल विषय के तथ्यात्मक विषयवस्तु के केवल कण्ठस्थ कराने के स्तर तक विकृत हो जाती है।

समस्या-केन्द्रित पाठ्यक्रम का भी एक सराहनीय उद्देश्य है जो उस विधि की शिक्षार्थियों की समस्या को सुलझाने के आशय से प्रकट होता है जिसके द्वारा बच्चे को ज्ञान दिया जाता है। परन्तु ऐसी समस्याएँ जो बच्चे को क्रमबद्ध ज्ञान देने में सक्षम हों पर्याप्त नहीं है जैसा कि उन लोगों की आम धारणा है जो कि समस्या-केन्द्रित विधि का उपयोग करन का दावा करते हैं। दूसरी बात यह है कि समस्या समाधान द्वारा ज्ञान प्राप्ति का फोकस अति संकीर्ण होता है। इसे अध्ययन की संज्ञा न देकर 'छापामार' कहें तो अधिक उपयुक्त होगा। इससे पहले कि कोई समस्या अध्ययन की इकाई बने दो अवस्थाओं की परिपूर्ति आवश्यक है।

पहले कि वह विद्यार्थियों की अपनी वास्तविक समस्या हो। दूसरी इसके समाधान के लिए क्रमबद्ध विचार की जरूरत पड़े। परन्तु वास्तविक स्थिति यह है कि बहुधा समस्याएँ जो बच्चों की अपनी वास्तविक और निकटतम समस्याएँ होती हैं उन्हें हल करने के लिए यह आवश्यक नहीं कि उसमें किसी ज्ञान क्षेत्र का क्रमबद्ध अध्ययन निहित हो। इन दोनों उपागमों की तुलना में डॉ. ब्राउडी मानते हैं कि पाठ्यक्रम बालकों की वांछनीय आदतों का विकास करने का माध्यम होता है। परन्तु वे यह भी मानते हैं कि आदतों का विकास करने का माध्यम होता है। परन्तु वे यह भी मानते हैं कि आदतों का विकास वह सरल विन्यास नहीं है जिसको अनुकूलन द्वारा शिक्षार्थी में डाल दिया जाए। वे अर्थ-स्वचालित विचारहीन क्रियाएँ नहीं है। वे प्रकृति रूप में सक्रिय तथा गतिज हैं पर्याप्त मात्रा में लचीली हैं और विषयवस्तु तथा आकार की दृष्टि से उनमें ऐक्य है।

ब्राउडी महोदय निम्नलिखित स्वभावों को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। ये स्वभाव है : प्रतीतात्मक स्वभाव, अध्ययन स्वभाव शोध कौशल, पुस्तकालय कौशल, प्रेक्षण तथा प्रयोगीकरण, ज्ञान के उपयोग सम्बन्धी स्वभाव जैसे प्रयोगात्मक विधि, विश्लेषणात्मक अथवा विवेचनात्मक चिन्तन, समूह में वाद-विवाद करने का विचारक कौशल, सिद्धान्तों का

अनुप्रयोग, मूल्यांकन तथा रसास्वादन। ये सभी स्वभाव किसी-न-किसी रूप में विषयवस्तु को आकार प्रदान करते हैं अतः महत्वपूर्ण हैं। इनमें प्रतीतात्मक तथा अध्ययन सम्बन्धी स्वभाव अनुप्रयोग की दृष्टि से अधिक व्यापक होने के कारण मूल रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। निःसन्देह प्रतीतात्मक स्वभाव में शब्दों का प्रभावी उपयोग निहित है। अध्ययन सम्बन्धी स्वभाव में अध्ययन सम्बन्धी विभिन्नताएँ होती हैं।

अतः किसी पाठ्यक्रम में विषयवस्तु का चुनाव अधोलिखित मानदण्डों के आधार पर होना चाहिए, जैसे—सर्वाधिक व्यापकता से किसका अनुप्रयोग हो सकता है और कौन-सी विषयवस्तु की विद्यार्थियों को शीघ्रातिशीघ्र आवश्यकता है। प्राथमिक तथा माध्यमिक विद्यालयों के लिए डॉ. ब्राउडी प्रकृति विज्ञानों, सामाजिक विज्ञानों और उन क्षेत्रों जो स्वत्व के साथ जीने में सहायता करते हों, को प्रस्तावित करते हैं। प्राकृतिक विज्ञान के अन्तर्गत रसायन विज्ञान, भौतिक तथा जीव विज्ञान आते हैं तथा इसके साथ ही इन विषयों सम्बन्धी ऐसे समस्यात्मक कोर्स भी सम्मिलित किए जाते हैं जिनमें उपरोक्त विज्ञानों के द्वारा दिए गए ज्ञान का प्रयोग होता हो।

इसी प्रकार सामाजिक विज्ञान कोर्सों में भी ऐसे समस्यात्मक कोर्स आते हैं जिसके द्वारा व्यक्ति अपने समाज क्रम से एक प्रभावी तथा उत्तरदायी नागरिक बन सके। स्वत्व विज्ञानों में मनोविज्ञान, कला, पद्य, साहित्य, चरित्र, नायक, जीवनी तथा दर्शनशास्त्र आते हैं। इन पाठ्यक्रमों से सम्बन्धित समस्यात्मक कोर्स हमें मूल्य अनुभूति लेने, मूल्य अनुमान लगाने तथ मूल्य प्राप्ति की क्षमता प्रदान कर सकते हैं। शैक्षिक प्रक्रिया का आधार है, कथित एक और आयाम भी है जिसे विधि कहा जाता है। यह वह तरीका है जिसके द्वारा विषयवस्तु को एक अधिक प्रभावी अनुभव का रूप दिया जा सकता है।

एक यथार्थवादी सभी प्रकार की विधियाँ जैसे सुकरात द्वारा प्रयुक्त विधि, वाद-विवाद, स्मरणीकरण, व्याख्यान, क्रिया-कलाप आधारित विधि तथा श्रव्य-दृश्य साधनों का उपयोग करना इत्यादि। किसी

विधि विशेष के सिद्धांतों का सम्बन्ध विद्यार्थी के स्वभाव से है। अतः ऐसी अवस्था में अधिगम विधि का सार इस बात में है कि क्या अधिक कार्यकलाप बच्चे के अमूर्तिकरण के स्तर पर मेल खाते हैं अथवा नहीं। बच्चों में अनुभूति निरन्तर रूप में स्थूल वस्तुओं, घटनाओं तथा अन्य गतिविधियों (क्रियाओं) से अन्योन्य क्रियाओं द्वारा विकसित होती हैं। यद्यपि हम हर समय संवेदन तथा प्रत्यक्षीकरण करते रहते हैं परन्तु इनके समानुपाती हमारी अवधारणा शक्ति विकसित नहीं होती।

3

शिक्षा का समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य
(Sociological perspectives of Education)

शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा
(Education and Concept of Social Change)

सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा की दो व्यापक व्याख्यायें हैं: प्रथम, इसका सम्बन्ध परिवार, विद्यालय, धार्मिक संस्थाओं, विवाह, श्रम व उत्तराधिकार आदि विभिन्न सामाजिक इकाइयों के सामाजिक ढाँचे और कार्यों में अपेक्षाकृत स्थायी परिवर्तन से है और दूसरे, इसका सम्बन्ध सामाजिक परिवर्तन के निर्धारक तत्त्वों के रूप में लोकाचारी रीति-रिवाजों, भाषा, आदतों, दृष्टिकोणों, उत्पादनों के तरीकों आदि में सामाजिक परिवर्तन से है।

- परम्परागत समाज में पारिवारिक संगठन का मुख्य रूप संयुक्त व्यवस्था थी। आर्थिक, तकनीकी और अन्य शक्तियों के प्रभावाधीन इस व्यवस्था में द्रुत गति में परिवर्तन होता रहा है। इसका स्थान अब एकाकी परिवार द्वारा लिया जा रहा है जिसमें पति, पत्नी और बच्चे सम्मिलित होते हैं। यह संरचनात्मक परिवर्तन का एक उदाहरण है। पहले, परिवार में स्त्री का मुख्य कार्य घरेलू कामकाज का प्रबन्ध करना था। आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक आदि विभिन्न शक्तियों के प्रभावाधीन अपने घर से बाहर नौकरी करने वाली स्त्रियों की संख्या निरन्तर बढ़ रही है। यह कार्यात्मक परिवर्तन का उदाहरण है।

सांस्कृतिक परिवर्तनों को भी दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है: भौतिक संस्कृति, भौतिक वस्तुओं और उनके उपयोगों में परिवर्तन। ऐसे परिवर्तन के उदाहरण हैं, बैलगाड़ी, तांगा व रिक्शा के स्थान पर टैक्सी, बसों, रेलों आदि का यातायात के साधन के रूप में प्रयोग और कोयले,

लकड़ी अथवा गोबर आदि के स्थान पर ईंधन के रूप में खाना पकाने की गैस का प्रयोग। लोगों के विचारों, रिवाजों, दृष्टिकोणों, मूल्य व्यवस्थाओं आदि सहित अभौतिक संस्कृति में परिवर्तन। इसमें लोगों में विवाह, सती प्रथा, परिवार नियोजन आदि के प्रति लोगों के दृष्टिकोणों में परिवर्तन शामिल हैं। यहाँ पर सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध सामाजिक संरचना और कार्यों तथा सांस्कृतिक परिवर्तनों से है।

सभ्यता का इतिहास स्पष्ट करता है कि अभौतिक परिवर्तनों की तुलना में भौतिक परिवर्तन तीव्र गति से होते हैं। उदाहरण के लिये, खेती की पद्धतियों में भारत में द्रुत गति से परिवर्तन हुआ है। किसानों ने ट्रैक्टर, ट्यूबैलों, संकर बीजों, रासायनिक खादों आदि का तेजी से प्रयोग करना आरंभ कर दिया है। इसके विपरीत, युगों पुराने रिवाजों, अन्ध-विश्वासों, परंपराओं, दृष्टिकोणों आदि में परिवर्तन की गति अपेक्षाकृत धीमी रही है।

यह उल्लेखनीय है कि निर्विघ्न ढंग से सामाजिक परिवर्तन लाने के लिये भौतिक परिवर्तनों की तथा अनुकूल अभौतिक सांस्कृतिक परिवर्तनों की आवश्यकता होती है। जब भौतिक और अभौतिक परिवर्तन एक ही गति से परिवर्तित नहीं होते तो उसका परिणाम अव्यवस्था, संघर्ष आदि होते हैं। भौतिक और अभौतिक परिवर्तनों की दर में अन्तर 'सांस्कृतिक अन्तराल' (Cultural lag) कहलाता है।

मानव-समाज प्राचीन काल से आज तक निरन्तर विकसित और परिवर्तित होता चला जा रहा है। प्राचीन और मध्य काल में जब शिक्षा का प्रसार नहीं था, लेकिन अब शिक्षा का पर्याप्त प्रसार हो गया है, इसको सामाजिक परिवर्तन का मुख्य साधन माना जाता है। डॉ. राधाकृष्णन् के शब्दों में– "शिक्षा, परिवर्तन का साधन है। जो कार्य साधारण समाजों में धर्म और सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थाओं द्वारा किया जाता था, वह आज शिक्षा-संस्थाओं द्वारा किया जाता है।[1]

समाज की रचना मनुष्य ने की है। समाज का आधार मनुष्य की अन्तः क्रियाएँ (Interactions) है। ये अन्तः क्रियाएँ सदैव

परिवर्तित होती रहती है। इसी कारण हमारा समाज भी परिवर्तित होता रहता है। हम सभी इस सामाजिक परिवर्तन का अनुभव करते हैं। इतना आवश्यक है कि कुछ समाज शीघ्रता से परिवर्तित होते हैं और कुछ धीरे-धीरे। परिवर्तन के आधार पर कुछ समाजशास्त्री, समाज को स्थायी समाज (Static Society) और गत्यात्मक समाज (Dynamic Society) में विभाजित करते हैं। वे आदिम समाजों को 'स्थायी समाज' मानते हैं और आधुनिक समाजों को 'गत्यात्मक समाज।' पर इससे यह समझ लेना कि कुछ समाज स्थायी होते हैं और उनमें परिवर्तन नहीं होता है, बहुत बड़ी भूल है। परिवर्तन प्रत्येक समाज में स्थायी रूप से होता है। परिवर्तन, 'स्थायी समाजों' में भी होता है, परन्तु धीरे-धीरे। हाँ, इतना आवश्यक है कि यह परिवर्तन इतने धीरे-धीरे होता है कि हमको आभास नहीं हो पाता है।

सामाजिक परिवर्तन में वे परिवर्तन निहित हैं जो समाज के संगठन या उसकी रचना तथा कार्यों से सम्बन्ध रखते हैं। इस प्रकार सामाजिक परिवर्तन में निम्नलिखित परिवर्तनों को स्थान प्राप्त होता है-

सामाजिक संरचना में परिवर्तन- समाज के विभिन्न अंग व्यवस्थित ढंग से अन्तःसम्बन्धित रहते हुए जिस ढाँचे या रूपरेखा की रचना करते हैं उसी को सामाजिक संरचना कहते हैं। टॉलकॉट पार्सन्स (Talcott Parsons) के अनुसार, "सामाजिक संरचना परस्पर सम्बन्धित संस्थाओं, एजेन्सियों तथा सामाजिक प्रतिमानों तथा साथ ही समूह में प्रत्येक सदस्य द्वारा ग्रहण किये गये पदों तथा कार्यों की विशिष्ट क्रमबद्धता को कहते हैं।" सामाजिक संरचना से सामाजिक स्वरूप का पता चलता है। यह बनावट हर समाज में एक-सी नहीं होती। अतः इस बनावट में होने वाले परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन कहते हैं।

* सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन।
* सामाजिक जीवन के किसी पक्ष में कोई भी परिवर्तन।
* समाज के सदस्यों के जीवन में होने वाले परिवर्तन।

हम सामाजिक परिवर्तन का अर्थ स्पष्ट करने के लिए कुछ परिभाषाएँ दे रहे हैं; यथा–

1. **किलपैट्रिक** का विचार है कि सामाजिक परिवर्तन, पूर्ण या आंशिक और अच्छी या खराब–किसी भी दिशा में हो सकता है। उसके मतानुसार–"परिवर्तन विचाराधीन बात का पूर्ण या आंशिक परिवर्तन है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि परिवर्तन अच्छी बात के लिए है या बुरी बात के लिए।"[2]

2. **डॉसम व गेटिस** ने लिखा है–"सांस्कृतिक परिवर्तन-सामाजिक परिवर्तन है, क्योंकि समस्त संस्कृति अपनी उत्पत्ति, अर्थ और प्रयोगों में सामाजिक है।"[3]

3. **मैरिल व एलड्रेट** ने व्यक्तियों के कार्यों और व्यवहार परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन माना है। उन्होंने लिखा है–"सामाजिक परिवर्तन का अर्थ यह है कि बहुत बड़ी संख्या में व्यक्ति ऐसे कार्य कर रहे हैं, जो कुछ समय पहले के उनके या उनके निकट पूर्वजों के कार्यों से भिन्न हैं। जब मानव-व्यवहार में परिवर्तन हो रहा होता है, तब यह इस बात का संकेत है कि सामाजिक परिवर्तन हो रहा है।"[4]

4. **मेकाइवर व पेज**–"सामाजिक परिवर्तन एक ऐसी प्रक्रिया है जिस पर विविध प्रकार के परिवर्तनों का प्रभाव पड़ता है, जैसे–मानव निर्मित् रहन-सहन की दशा में परिवर्तन, मनुष्य के दृष्टिकोणों में परिवर्तन तथा ऐसे परिवर्तन जो मनुष्य के नियन्त्रण के परे हैं अर्थात् जो वस्तुओं की जैविक तथा भौतिक प्रकृति के द्वारा किये जाते हैं।"[5]

5. **स्पेन्सर**–"सामाजिक परिवर्तन सामाजिक विकास है।[6]

6. **वी. कुप्पूस्वामी**–"सामाजिक परिवर्तन सामाजिक संरचना तथा सामाजिक व्यवहार में परिवर्तन है।"[7]

7. **किंग्सले डेविस**–"सामाजिक परिवर्तन उन विकल्पों से सम्बन्धित है जो सामाजिक संगठन में होते हैं अर्थात् समाज के ढाँचे तथा कार्यों में होने वाले परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन कहलाते हैं।"[8]

हैरी जॉनसन (Harry Johnson) सामाजिक परिवर्तन के अन्तर्गत निम्नलिखित पाँच प्रकार के परिवर्तनों को मानता है–

* सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन (Change in Social Values)
* संस्थागत परिवर्तन (Institutional Change)
* सम्पत्ति तथा पुरस्कार की विरतण प्रणाली में परिवर्तन (Change in Distribution of possessions and rewarosQ)
* कार्यकर्त्ताओं में परिवर्तन (Change in personnel)
* कार्यकर्त्ताओं की योग्यताओं या अभिवृत्तियों में परिवर्तन (Chage in Abilities or attitudes of personnel)

सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी कारक (Factors Responsible for Social Change)

मैक्स वेबर (Max Weber) के शब्दों में, "सामाजिक परिवर्तन का कारण संस्कृति है।" उसने विभिन्न धर्मों तथा आर्थिक व्यवस्थाओं की तुलना करके सिद्ध करने का प्रयास किया है कि संस्कृति में परिवर्तन होने के कारण समाज में परिवर्तन होते हैं। सामाजिक परिवर्तन मात्र सांस्कृतिक परिवर्तनों के कारण नहीं होते हैं वरन् भौतिक, राजनैतिक, वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिक कारकों से भी होते हैं, यथा–

प्राकृतिक कारक (Natural Factors)

आज का मानव पर्याप्त सभ्य है। वह ज्ञान-विज्ञान का भी अधिकारी है। फिर भी वह आज पूर्णतया प्रकृति पर अधिकार प्राप्त नहीं कर पाया है। प्रकृति अपने ढंग से सामाजिक परिवर्तन का एक कारक बन जाती है। यह कारक विशेष रूप से उस समय क्रियाशील होता है जब प्रकृति अपना रौद्र रूप धारण करती है। जहाँ प्रकृति का रौद्र रूप देखने को मिलता है वहाँ मनुष्य प्रकृति की शक्ति से इतना अधिक प्रभावित होता है कि वह उसके सामने सिर झुका लेता है। उसकी वन्दना में लग जाता है जिससे देश या समाज में कविता तथा धर्म की प्रधानता होती है। जहाँ प्रकृति शान्त है जहाँ विज्ञान की उन्नति सम्भव

होती है। भूकम्प, बाढ़, अकाल, महामारी, प्रकृति के रौद्र रूप हैं। इनसे व्यक्ति बेघरबार हो जाते हैं। साथ ही वे शरणार्थी बन जाते हैं जिससे दूसरे स्थानों पर जाने से उनकी जीवन-शैली में पविर्तन आ जाता है।

जनांककी कारक (Demographic Factors)

जनांककी कारक भी सामाजिक परिवर्तन में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। जब समाज या देश में अति जनसंख्या की स्थिति हो जाती है तब देश में पोषण के लिए खाद्य सामग्री की कमी हो जाती है। साथ ही उस समय जनसंख्या तीव्र गति से बढ़ती है। इससे समाज में निर्धनता, बेकारी और भुखमरी का बोलबाला हो जाता है। इससे जन स्वास्थ्य का स्तर गिरता है तथा रहन-सहन का स्तर गिरता है जिसके फलस्वरूप पारिवारिक विघटन तथा सामाजिक विघटन होता है। इस स्थिति में प्रकृति स्वयं इसका समाधान करती है।

जनांककी कारकों में मृत्युदर तथा जन्मदर दोनों का प्रभाव पड़ता है। जब जन्मदर घटती है और मृत्युदर बढ़ती है तो जनसंख्या घट जाती है। जिससे समाज में कार्यशील व्यक्तियों की कमी हो जायेगी और प्राकृतिक संसाधनों का भरपूर विदोहन न हो सकेगा। इनसे देश की आर्थिक स्थिति गिर जायेगी। इसके परिणामस्वरूप सामाजिक परिवर्तन होंगे।

जब मृत्युदर कम और जन्मदर बढ़ेगी तो अति-जनसंख्या की स्थिति आने तक देश का आर्थिक और प्रौद्योगिक विकास होगा। देश का जीवन-स्तर उच्च होगा। ऐसी स्थिति में सामाजिक परिवर्तन होंगे।

जनसंख्या की रचना का प्रभाव भी सामाजिक परिवर्तन लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। जनसंख्या की रचना में व्यक्तियों की आयु-रचना, बच्चों व युवकों में अनुपात, स्त्रियों एवं पुरुषों में अनुपात आदि आते हैं। इसका सामाजिक संगठन एवं स्वरूप पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। यदि किसी समाज में वृद्धों और बच्चों की संख्या अधिक होने से आविष्कार अधिक हो सकते हैं। स्त्रियों की संख्या पुरुषों के अनुपात में अधिक तो उसमें बहुपत्नी प्रथा का चलन हो जायेगा। पुरुषों की

संख्या स्त्रियों के अनुपात से अधिक है तो उसमें बहुपति-प्रथा का प्रचलन होगा। इस प्रकार उक्त परिस्थितियाँ सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं।

जनसंख्या में पुरुषों और स्त्रियों के अनुपात में असन्तुलन सामाजिक परिवर्तन के लिए पर्याप्त मात्रा में उत्तरदायी होता है। द्वितीय महायुद्ध में पर्याप्त मात्रा में युवा सिपाहियों की मृत्यु हो जाने से यूरोप में अनैतिकता को जन्म मिला। इसके फलस्वरूप समाज में परिवर्तन को जन्म मिला।

प्रौद्योगिक कारण (Technological Factor)

सामाजिक परिवर्तन के लिए विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। इन्होंने विकसित तथा विकासशील देशों के लोगों के जीवन में परिवर्तन ला दिया है। रेडियो, टेलीविजन, रेफ्रीजेरेटर, कार, घरेलू कामकाज के गैजेट आदि ने लोगों की जीवन-शैली, विचारधारा, सामाजिक जीवन तथा सामाजिक सम्बन्धों में महान् परिवर्तन ला दिया है। सामाजिक जीवन पर इसके निम्नलिखित प्रभाव पड़े हैं–

* सामुदायिक जीवन का ह्रास।
* व्यक्तिवादिता को जन्म मिला। साथ ही व्यक्ति की प्रतिष्ठा का आधार धन तथा व्यक्तिगत गुणों पर निर्धारित होने लगा।
* आवास की समस्या को जन्म।
* गन्दी बस्तियों का विकास।
* स्त्री-पुरुष अनुपात में असन्तुलन आया जिसके कारण पारिवारिक जीवन नष्ट होने लगा।
* मनोरंजन का व्यापारीकरण (Commercialization)।
* मानसिक संघर्षों व रोगों को जन्म मिला।
* अपराध, व्यभिचार, संघर्ष तथा प्रतिस्पर्द्धा को प्रोत्साहन।
* संयुक्त परिवार का विघटन।

* स्त्रियों का नौकरी करना।
* प्रेम-विवाह, अन्तर्जातीय-विवाह, अधिक उम्र में शादी करना तथा तलाक देने की प्रथा का जन्म।
* पूँजीवाद को प्रोत्साहन।
* श्रम-विभाजन तथा विरोधीकरण को जन्म।
* औद्योगिक विवादों तथा दुर्घटनाओं की वृद्धि।

राजनैतिक कारक (Political Factors)

ये भी सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं। द्वितीय महायुद्ध, हिटलर के अधिनायकवाद, बंगलादेश की समस्या, भारत का विभाजन, कश्मीर समस्या आदि ने विभिन्न सामाजिक परिवर्तनों को जन्म दिया।

आर्थिक कारक (Economic Factors)

गरीबी, हरित क्रान्ति, मुद्रा-प्रसार आदि ने सामाजिक परिवर्तन के लिए महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। इनके फलस्वरूप लोगों के आचरण, सम्बन्धों, संस्थाओं तथा दृष्टिकोणों में परिवर्तन आया।

औद्योगिक कारक (Industrial Factors)

औद्योगिक नगरों की स्थापना, नगरीकरण, संघवाद (Trade Unionism) आदि लोगों के जीवन से परिवर्तन लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं।

शैक्षिक व सामाजिक परिवर्तन में सम्बन्ध (Relation between Educational and Social Change)

शिक्षा और समाज का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। पर शिक्षा की क्रिया, समाज की क्रिया के अन्तर्गत होती है। इसीलिए, विभिन्न समाजों में शिक्षा का विभिन्न स्वरूप होता है। समाज ही निश्चित करता है कि उसके अन्तर्गत प्रदान की जाने वाली शिक्षा का स्वरूप कैसा होगा। यदि समाज का रूप परिवर्तित हो जाता है, तो शिक्षा का रूप भी परिवर्तित हो जाता है। दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि सामाजिक परिवर्तन

के कारण शैक्षिक परिवर्तन होता है। इसका विपरीत कथन भी सत्य है, अर्थात्–शिक्षा के कारण परिवर्तन होता है। इन दोनों परिवर्तनों के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करते हुए, ओटावे (Ottaway) ने लिखा है–"कभी-कभी यह कहा जाता है कि शिक्षा, सामाजिक परिवर्तन का एक कारण है। इसका विपरीत अधिक सत्य है। शैक्षिक परिवर्तन अन्य सामाजिक परिवर्तनों को आरम्भ करने के बजाय उनका अनुगमन करता है।" हम ओटावे के इस कथन के आधार पर शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन का एक-दूसरे पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन करेंगे।

सामाजिक परिवर्तन हेतु शैक्षिक पहल
Educational Initiation for Social Change

शिक्षा के द्वारा अनेक देशों और समाजों में विभिन्न प्रकार के परिवर्तन किये गये हैं। हम अपने इस कथन की पुष्टि में निम्नांकित तथ्य प्रस्तुत कर सकते हैं–

भारत में अंग्रेजी शिक्षा के कारण सामाजिक परिवर्तन (Social Changes in India due to English Education)

अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करके भारत ने कई शक्तियों की कुम्भकर्णी निद्रा का परित्याग किया और अपने समाज में असाधारण धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक आदि परिवर्तन किये। धार्मिक परिवर्तन का श्रेय राजा राममोहन राय, देवेन्द्रनाथ टैगोर, केशवचन्द्र सेन, स्वामी दयानन्द आदि महापुरुषों को प्राप्त हुआ। राजनीतिक परिवर्तन के फलस्वरूप भारत को स्वतंत्रता दिलाने का कार्य दादाभाई नौरोजी, गोपालकृष्ण गोखले, महात्मा गाँधी और जवाहर लाल नेहरू ने किया। सती-दाह, कन्या-वध, बाल-विवाह आदि कुप्रथाओं का अन्त करके हमारे समाज ने अपनी कायापलट कर ली। इस प्रकार, भारतीय समाज में परिवर्तन और जागरण– अंग्रेजी शिक्षा के कारण हुआ। इस सम्बन्ध में मजूमदार, रायचौधरी व दत्त ने लिखा है–"देश के शैक्षिक विचारों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों के बिना आधुनिक भारत की सामान्य जागृति सम्भव नहीं होती।"[9]

भारत में विज्ञान-शिक्षा के कारण सामाजिक परिवर्तन (Social

Changes in India due to Science Education)

भारतीयों ने धर्म और नैतिकता में आस्था रखने के कारण न्याय, सहयोग, सहिष्णुता और नि:स्वार्थता के मूल्यों पर सदैव बल दिया था। इसके अतिरिक्त, उन्होंने आध्यात्मिक मूल्यों की तुलना में भौतिक मूल्यों को न केवल निम्नतर स्थान दिया था, वरन् उनका परित्याग भी किया था। पर विज्ञान की शिक्षा प्राप्त करके उनके इन मूल्यों और परम्परागत धारणाओं में पूर्ण परिवर्तन हो गया है।

आज वे इनका तिरस्कार कर आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक क्षेत्रों में स्वार्थ और शोषण की भावनाओं से ओतप्रोत अपने जीवन-पथ पर बढ़ रहे हैं। वे सहयोग और सहिष्णुता को तिलांजलि देकर एवं अलगाव, द्वेष और घृणा का अवलम्बन करके भारतीय समाज का विघटन और विनियोजन कर रहे हैं। इस प्रकार, जैसा कि सैयदेन ने लिखा है–"सामाजिक परिवर्तन और विघटन की इस प्रक्रिया में सबसे शक्तिशाली तत्त्व विज्ञान का विकास रहा है।"[10]

जर्मनी में शिक्षा द्वारा सामाजिक परिवर्तन (Social Changes in Germany through Education)

सन् 1806 में 'जीना के युद्ध' (Battle of Jena) ने नैपोलियन द्वारा धूल-धूसरित कर दिये जाने के कारण जर्मन लोगों की देश-प्रेम, राष्ट्रीयता, बलिदान आदि भावनाओं पर घातक प्रभाव डाला। इन भावनाओं का पुनर्निमाण करके अपने समाज को पूर्ण रूप में परिवर्तित करने के लिए शिक्षा का सहारा लिया गया।

अत: राजा के मन्त्री स्टेन ने घोषित किया–"हमें राष्ट्र को देश-प्रेम की भावना का उत्थान और उसमें फिर राष्ट्रीय सम्मान के लिए बलिदान और स्वतंत्रता की भावना का समावेश करने के लिए आध ारभूत सिद्धान्त के अनुसार कार्य करना चाहिए। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए हमें बालकों की शिक्षा और निर्देशन पर निर्भर होना चाहिए।" शिक्षा ने इस उद्देश्य की प्राप्ति में सहायता दी और जर्मन-समाज फिर अपने पूर्व रूप को प्राप्त करने के लिए द्रुत-गति से परिवर्तित होने लगा।

शिक्षा द्वारा सामाजिक परिवर्तन
Social Change By Education

ओटावे के इस कथन के पक्ष में, कि शिक्षा, सामाजिक परिवर्तन का अनुगमन करती है, निम्नांकित तथ्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं–

आधुनिक भारत की सामाजिक आवश्यकताओं के कारण शैक्षिक परिवर्तन (Educational Change due to Social Needs of Modern India)

परतन्त्र भारत में शिक्षा का अर्थ था–अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार। नवभारत में धर्म-निरपेक्ष राज्य, समाजवादी समाज की स्थापना, देश के प्रौद्योगीकरण, जन-शिक्षा आदि की माँगों को ध्यान में रखकर शिक्षा के स्वरूप को परिवर्तित करने का सतत् प्रयास किया जा रहा है। इसीलिए, निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था की गई है, निरक्षर वयस्कों की शिक्षा के लिए एक विशाल कार्यक्रम तैयार किया गया है, माध्यमिक और उच्च्च शिक्षा का नए सिरे से पुनर्गठन किया जा रहा है, कृषि और उद्योगों के विकास के लिए वैज्ञानिक और टेक्निकल शिक्षा का तेजी से विस्तार किया जा रहा है, समाज के पिछड़े हुए वर्गों के लिए अपेक्षाकृत अधिक शैक्षिक सुविधाओं की व्यवस्था की जा रही है और बालिकाओं एवं स्त्रियों के लिए विभिन्न प्रकार की शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना की जा रही है।

इस प्रकार, भारतीय समाज में होने वाले विविध परिवर्तनों का शिक्षा द्वारा अनुमान किया जा रहा है। सैयदेन (Saiyidain) ने ठीक ही लिखा है–"इस समय भारत में शिक्षा बहुत नाजुक, पर रोचक अवस्था में से होकर गुजर रही है। यह स्वाभाविक है, क्योंकि समग्र रूप में राष्ट्रीय जीवन भी, जिसका शिक्षा एक अनिवार्य अंग है, ऐसी ही अवस्था में से होकर गुजर रहा है।"

सांस्कृतिक अनुकूलन के कारण शैक्षिक परिवर्तन (Educational Change due to Cultural Adaptation)

ऑगबर्न (Ogburn) के अनुसार, संस्कृति के दो अंग हैं : (i) भौतिक संस्कृति (Material Culture), अर्थात् मानव निर्मित मूर्त्त वस्तुएँ; जैसे–मकान, सड़क, इंजन, मशीनें, रेडियो आदि (ii) अभौतिक संस्कृति (Non-Natural Culture), अर्थात् मनुष्यों के सामूहिक रूप में रहने से विकसित होने वाली अमूर्त्त वस्तुएँ; जैसे–भाषा, धर्म, संगीत, जनरीतियाँ आदि।

कुछ विद्वान्, जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं, सांस्कृतिक परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन मानते हैं। इसी आधार पर ओटावे ने लिखा है–"सांस्कृतिक अनुकूलन के कारण शैक्षिक परिवर्तन होता है।"[11]

ओटावे ने अपने कथन की पुष्टि में भौतिक संस्कृति की वस्तु, रेडियो का उदाहरण दिया है। उसका कथन है कि रेडियो हमारी संस्कृति का इतना महत्त्वपूर्ण अंग बन गया है कि यदि हमारे ऊपर रेडियो सुनने पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है या उसके कार्यक्रम में किसी प्रकार की बाधा या परिवर्तन उपस्थित किया जाता है, तो हम उसे अपने अधिकारों का दमन समझ कर अत्यधिक क्रुद्ध होते हैं।

ओटावे ने आगे लिखा है कि इस भौतिक संस्कृति (रेडियो) से अनुकूलन करने के कारण हमारी शिक्षा में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं; उदाहरणार्थ, वयस्क लोग–यात्रा, कृषि, स्वास्थ्य, नाटक, आलोचना, राजनीति से सम्बन्धित बातें सुनकर नवीन ज्ञान प्राप्त करते हैं। विद्यालयों में रेडियो एवं दूरदर्शन का प्रयोग किए जाने के कारण शिक्षण की नवीन विधियों का प्रतिपादन, पाठ्यक्रम-निर्माण के सिद्धान्तों में परिवर्तन और स्वयं रेडियो दूरदर्शन से सम्बन्धित नवीन विषय को विज्ञान-शिक्षा का अंग बनाया गया है। इसके अतिरिक्त रेडियो-उद्योग में कार्य करने के लिए कुशल व्यक्तियों की माँग की गई। इस माँग को पूरा करने के लिए विद्यालयों में टेक्निकल शिक्षा की व्यवस्था की गई और इस शिक्षा को

प्रदान करने के लिए टेक्निकल विद्यालयों का भी निर्माण किया गया। इस प्रकार, ओटावे ने सिद्ध किया है कि सांस्कृतिक परिवर्तन या अनुकूलन के कारण शिक्षा में परिवर्तन होना आवश्यक है।

सामाजिक शक्तियों के कारण शैक्षिक परिवर्तन (Educational Change due to Social Forces)

ओटावे के शब्दों में–"किसी समय में किसी समाज द्वारा प्रदान की जाने वाली शिक्षा उस समाज में कार्य करने वाली प्रमुख सामाजिक शक्तियों द्वारा निर्धारित की जाती है।" ये सामाजिक शक्तियाँ– व्यक्तियों के वे समूह होते हैं, जो समाज की आवश्यकताओं और मूल्यों के अनुसार शिक्षा में परिवर्तन करने का प्रयास करते हैं। हम इसका उदाहरण, भारतीय शिक्षा के इतिहास से दे सकते हैं।

'शिक्षा आयोग' (1964) ने शिक्षा को भारतीय समाज के जीवन, आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के अनुकूल बनाने के लिए राष्ट्रीय शिक्षा की नवीन नीति का सुझाव दिया। इसका समर्थन भारतीय विश्वविद्यालयों के उपकुलपतियों, पार्लियामेंट के सदस्यों, विभिन्न दलों के प्रतिनिधियों और राज्यों के शिक्षा-मन्त्रियों ने किया। अतः केन्द्रीय सरकार ने 17 जुलाई, 1968 को शिक्षा के महत्त्वपूर्ण अंगों, सिद्धान्तों, स्तरों और स्वरूप में परिवर्तन करने के लिए 'राष्ट्रीय शिक्षा-नीति' (National Educational Policy) की घोषणा की।

सामाजिक परिवर्तन में शिक्षा की भूमिका (The Role of Education in Social Change)

उपर्युक्त पंक्तियों में हमने यह प्रदर्शित किया है कि समाज द्वारा शिक्षा में और शिक्षा द्वारा समाज में परिवर्तन किया जाता है। जहाँ तक पहली बात का सम्बन्ध है, उसके बारे के किसी प्रकार की मत-विभिन्नता नहीं है, पर दूसरे के बारे में है। वस्तुतः समाजशास्त्रियों ने सामाजिक परिवर्तन के जितने कारण बताए हैं, उनमें शिक्षा को स्थान नहीं दिया गया है। इसका कारण यह है कि शिक्षा को समाज पर निर्भर रहने वाली ओर उसी के अनुसार स्वरूप धारण करने वाली क्रिया माना जाता है।

फिर भी, जैसा कि उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है, शिक्षा-सामाजिक परिवर्तन में महत्त्वपूर्ण योग देती है।

इस योग के बावजूद भी शिक्षा का समाज पर पड़ने वाला प्रभाव मुख्य न मानकर गौण माना जाता है। इस सन्दर्भ में ओटावे (Ottaway) के शब्द उल्लेखनीय हैं-"शिक्षा को सामाजिक परिवर्तन का कारण स्वीकार नहीं किया जाता है। यह तो समाज पर निर्भर रहने वाली एक परिवर्तनशील वस्तु है। निःसन्देह रूप से शिक्षा, सामाजिक परिवर्तन में महत्त्वपूर्ण योग देती है, पर इसका प्रभाव मुख्य न होकर गौण होता है।"

ओटावे के अनुसार शिक्षा-सामाजिक परिवर्तन का कारण न होकर एक शक्तिशाली साधन है। समाज के व्यक्तियों द्वारा इसका प्रयोग एक निश्चित उद्देश्य से किया जाता है। जब उद्देश्य में परिवर्तन हो जाता है, तब शिक्षा के स्वरूप में भी परिवर्तन हो जाता है। पर यह तभी होता है, जब पहले उद्देश्य में परिवर्तन कर लिया जाय। यह जानते हुए भी कुछ लोग शिक्षा पर समाज को परिवर्तित करने का दायित्व रखते हैं। उन्हें बहुधा यह कहते हुए सुना जाता है कि यदि शिक्षा के स्वरूप को बदल दिया जाये, तो वे एक पीढ़ी के बाद सम्पूर्ण विश्व को बदल सकते हैं। पर शिक्षा की अपनी सीमाएँ हैं। हम समाज को परिवर्तित करने क लिए उसकी सहायता तभी ले सकते हैं, जब हम पहले अपने आपको परिवर्तित कर लें। ऐसा करना मानव-स्वभाव को एक नई दिशा में मोड़ना होगा, जो व्यक्तिगत रूप से तो सम्भव हो सकता है, पर सामूहिक रूप से कदापि नहीं। एक समाज, एक राष्ट्र के रूप में हमारा स्वयं का उदाहरण हमारे सामने है।

हमें स्वतन्त्रता मिली। हमने धर्म-निरपेक्ष राज्य और समाजवादी समाज की स्थापना का संकल्प किया। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए हमने नए आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक मूल्यों का निर्माण किया है, उनको प्राप्त करने के लिए शिक्षा के स्वरूप को परिवर्तित किया है, पर हमने अपने आपको परिवर्तित करने की ओर रंचमात्र भी

ध्यान नहीं दिया है।

हम आज भी धार्मिक द्वेष, आर्थिक विषमता, वैमनस्य की भावना और स्वार्थ के सिद्धान्त से अपना गहरा नाता जोड़े हुए हैं। यही कारण है कि हमारी परिवर्तित शिक्षा, हमारे समाज के स्वरूप को निश्चित करने में असफल हुई है और उसकी सेविका के रूप में कार्य कर रही है। सैयदैन का यह वाक्य हमारे सामाजिक परिवर्तन में हमारी शिक्षा के कार्य को कितने मार्मिक शब्दों में अंकित करता है–"शिक्षा, जिसे इस सामाजिक व्यवस्था को नवीन रूप प्रदान करने में नेतृत्व करना चाहिए था, उसकी चाटुकार चेरी के रूप में कार्य करके सन्तोष का अनुभव कर रही है।"[12]

के.जी. सैयदैन ने इन थोड़े-से शब्दों में सामाजिक परिवर्तन में शिक्षा के कार्य का कितना सजीव चित्र हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है।

सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त (Principles of Social Change)

सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या करने वाले सिद्धांत दो प्रकार के होते हैं :

– एकल कारक सिद्धांत और

– बहुल कारक सिद्धांत

एकल कारक सिद्धांत (Principles of Unifactor)

सामाजिक परिवर्तन के तकनीकी, आर्थिक और आदर्शवादी सिद्धांत एकल कारक सिद्धांत होते हैं। इन सिद्धांतों की उत्पत्ति इतिहास के तथ्यों से होती है।

सामाजिक परिवर्तन का एक तकनीकी सिद्धांत व्हाइट द्वारा दिया गया है, उसकी मुख्य धारणा है कि यूरोप में रकाब का परिचय प्रचलन ही सामन्तवादी अवस्था के उदय का प्रमुख कारण था। इसने एक नये प्रकार के संघर्ष को जन्म दिया जिससे समर्थन के लिये समाज के एक नये ढाँचे की सृष्टि (रचना) की आवश्यकता पड़ी।

जहाँ तक सामाजिक परिवर्तन के एकल आर्थिक सिद्धांत का संबंध है, सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धांत का प्रतिपादन कार्लमार्क्स द्वारा दिया गया। मार्क्स की अभिधारणा थी कि समाज की वर्ग संरचना और संस्कृति का निर्धारण उसके द्वारा उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं से आता है। समाज के आर्थिक ढाँचे में परिवर्तन लगभग स्वत: और द्रुतगति से सम्पूर्ण अधिरचना में परिवर्तन का कारण बनता है।

सामाजिक परिवर्तन में आर्थिक कारणों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। आर्थिक चरों में परिवर्तन आर्थिक परिस्थितियों, परिवार का स्वास्थ्य, परिवार का आकार, अप्रवास की समस्या, प्रवास आदि दूसरे चरों से सम्बन्धित है।

फिर भी, आर्थिक कारक सामाजिक परिवर्तन के एकमात्र कारक नहीं हो सकते। सामाजिक परिवर्तन बिना किसी महत्त्वपूर्ण प्रत्यक्ष (स्पष्ट) आर्थिक परिवर्तन के किसी प्रमुख राजनैतिक परिवर्तन के कारण भी हो सकता है।

सामाजिक परिवर्तन का तीसरा प्रमुख एकल कारक सिद्धांत आदर्शवादी सिद्धांत है। मैक्स वेबर की पुस्तक 'दी प्रोटेस्टेन्ट (एथनिक) एथिक एण्ड स्पिरिट ऑफ केपिटलिज्म (1958)' में आदर्शवादी सिद्धांत की व्याख्या की गई है। वेबर ने तर्क दिया है कि प्रोटेस्टेन्ट लोकाचारों ने पूँजीवादी उद्यम के विकास के लिए आवश्यक तर्क आधार, समर्पता का स्रोत, एक भावना अथवा विचारधारा प्रदान की।

बहुल कारक सिद्धांत (Principles of Multi Factor)

उन सिद्धांतों की जो कई अन्त: क्रिया कारकों अर्थात् एक दूसरे को प्रभावित करने वाले कारकों के कारण होने वाले सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या करते हैं, दो सामान्य श्रेणियों में बाँटा जा सकता है : चक्रीय तथा रेखीय।

चक्रीय सामाजिक परिवर्तन में घटनाओं के उन प्रतिमानों को शामिल माना जाता है जो इतिहास में अपने आपको बार-बार दोहराते हैं। स्पैंगलर का सामाजिक परिवर्तन का सिद्धांत, चक्रीय श्रेणी का एक

उदाहरण है। उसके अनुसार सभी संस्कृतियाँ जन्म से परिपक्वता, जर्जरता और पतन के सावयवी चक्र से गुजरती हैं। प्रत्येक संस्कृति की एक विशेष तरीके अथवा मनोवृत्ति अथवा सार के रूप में विशिष्टता होती है और उसका विकास तथा पतन सावयवी गुण से परिचालित होते हैं।

सामाजिक परिवर्तन के रेखीय सिद्धांतों में परिवर्तनों की पुनरावृत्ति नहीं होती और वे अनिवार्यतः एक ही देश में होते हैं। स्पैंसर द्वारा 1882 में दिया गया सिद्धांत इसी श्रेणी से सम्बन्धित है। यह सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को स्वरूप में विकासवादी मानता है।

सामाजिक परिवर्तन के निर्धारक तत्त्व (Determining Factors of Social Change)

सामाजिक परिवर्तन के निम्नलिखित निर्धारक तत्त्व हैं :

संस्कृति संक्रमणता

प्रत्येक शिशु एक विशेष संस्कृति में जन्म लेता है। उसका घर, परिवार और समाज अनौपचारिक, औपचारिक और निरौपचारिक साधनों द्वारा सांस्कृतिक प्रतिमानों और व्यवहारों को उसमें संचारित करते हैं। वह अपने अभौतिक और भौतिक वातावरण के साथ अन्तःक्रिया द्वारा सांस्कृतिक प्रतिमानों को ग्रहण करता है। इस प्रकार प्रत्येक पीढ़ी अपने से पूर्ववत् पीढ़ी से सांस्कृतिक प्रतिमानों को ग्रहण करती है।

प्रसारता

सामाजिक परिवर्तन सांस्कृतिक प्रसारण द्वारा होता है। विभिन्न समाजों में अन्तःक्रिया द्वारा सामाजिक तत्त्वों को संचारित किया जाता है। उदाहरण के तौर पर भारतीय समाज और पाश्चात्य तरीकों के समाज में अन्तःक्रिया ने हमें उत्पादन और प्रगति के पाश्चात्य तरीकों से परिचित कराया है तथा दूसरी ओर पाश्चात्य संस्कृति भी आध्यात्मवाद, योग, शास्त्रीय नृत्य, संगीत आदि विभिन्न क्षेत्रों में भारतीय संस्कृति से लाभान्वित हुआ है, परन्तु जो समाज बाह्य सम्पर्क से अलग-अलग रहते

हैं, लगभग स्थिर (अपरिवर्तनशील) रहते हैं।

विचार और विचारधाराएँ

विचार और विचारधाराएँ भी सामाजिक परिवर्तन में महत्त्वपूर्ण कारक हैं, उदाहरण के तौर पर स्वतंत्रता. समानता और बन्धुत्व फ्रांसीसी क्रांति के कारण बने। इसी प्रकार फ्रांसीसीवाद, साम्यवाद, मार्क्सवाद, प्रजातन्त्र इत्यादि प्रतिमानों ने विभिन्न देशों के राजनैतिक अथवा आर्थिक संस्थाओं में परिवर्तन लाने में पर्याप्त मात्रा में प्रभाव डाला है।

विज्ञान एवं तकनीक

वैज्ञानिक एवं तकनीकी कारणों के परिणामस्वरूप भी महत्त्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन हुए हैं। ये कारक भारत में और विश्व भर में औद्योगीकरण की गति को तेज कर रहे हैं। इस परिवर्तन के कारण जीवन में वैज्ञानिक दृष्टिकोण के उदय ने संयुक्त परिवार व्यवस्था, जातीय ढाँचे आदि जैसी संस्थाओं को प्रभावित किया है।

आर्थिक नियोजन (Economic Planning)

इस प्रकार से आर्थिक नियोजन और विकास भी सामाजिक परिवर्तन को प्रभावित करते हैं। आर्थिक विकास से राष्ट्रीय विकास पर, प्रति व्यक्ति आय, साक्षरता, रोजगार और राजनैतिक भागीदारी की दरों में परिवर्तन आता है। इससे सार्वजनिक क्षेत्र, संयुक्त आदि के जन्म जैसे संरचनात्मक परिवर्तन भी होते हैं।

शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन में सम्बन्ध (Relationship between Education and Social Change)

शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन में संबंधों का अध्ययन तीन प्रकार से किया जा सकता है।

- शिक्षा सामाजिक परिवर्तन की एक शर्त के रूप में;
- शिक्षा सामाजिक परिवर्तन के यंत्र के रूप में;
- शिक्षा सामाजिक परिवर्तन के प्रभाव के रूप में;

शिक्षा सामाजिक परिवर्तन की एक शर्त के रूप में

योजना बनाने वालों का विश्वास है कि यदि किसी देश की आम जनता शिक्षित हो तो उस देश में सामाजिक परिवर्तन तेज गति से होगा। भारत में सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक क्षेत्रों में शुरू किये गये सुधार साक्षरता बहुत कम होने के कारण सार्थक नहीं हो सके। शिक्षा आयोग ने ठीक कहा था, "वास्तव में शिक्षा के क्षेत्र में क्रान्ति लाने की आवश्यकता है जो अपने आप वांछनीय सामाजिक और सांस्कृतिक क्रांति की गति को तेज कर देगी।" शिक्षा का प्रसार तीव्र सामाजिक परिवर्तन की पहली शर्त मानी जाती है।

सामाजिक परिवर्तन में शिक्षा के महत्त्व को अनुभव करते हुए सरकार सबके लिये औपचारिक और दूरस्थ शिक्षा के माध्यम से सभी के लिये शिक्षा सुविधाएँ जुटाने के लिए कदम उठा रही है।

शिक्षा सामाजिक परिवर्तन के यंत्र के रूप में

समाजशास्त्री, राजनीतिज्ञ, शिक्षा शास्त्री और शिक्षा सम्बन्धी योजना बनाने वाले शिक्षा को सामाजिक परिवर्तन का यंत्र मानते हैं। शिक्षा योजना के दस्तावेज में शिक्षा को तीव्र आर्थिक विकास और तकनीकी प्रगति के लक्ष्य की प्राप्ति के लिये और स्वतंत्रता, सामाजिक न्याय और समान अवसर के मूल्यों पर आधारित सामाजिक व्यवस्था के निर्माण के लिए एकमात्र महत्त्वपूर्ण कारक के रूप में वर्णित किया गया है। शिक्षा आयोग की रिपोर्ट में कहा गया था कि बड़े पैमाने पर परिवर्तन के लिये शिक्षा एकमात्र यंत्र है, जिसका प्रयोग किया जा सकता है।

शिक्षा ज्ञान और कौशल प्रदान करती है और प्रगतिशील दृष्टिकोणों को पैदा करती है। आविष्कार, जाँच, स्वत: शोध, परिचर्चा इत्यादि जैसी शिक्षा की वैज्ञानिक तकनीकी और पद्धतियों के प्रयोग से शिक्षा शोधात्मक और प्रगतिशील युवाओं को तैयार करती है। शिक्षित व्यक्ति केवल पुरानी रीतियों, मूल्यों और विश्वासों को ही चुनौती नहीं देते बल्कि पुरातन और अविकसित के स्थानापन्न के लिये नये का आविष्कार भी करते हैं।

यह अनुभव करते हुए कि शिक्षा सामाजिक परिवर्तन का महत्त्वपूर्ण यंत्र है, ब्रह्म समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन आदि बहुत से सुधार आन्दोलनों ने समाज सुधार के लिये शिक्षा का प्रयोग किया। उन्होंने अपने दर्शनों पर आधारित शिक्षा देने के लिये शिक्षा संस्थाओं की स्थापना की। अधिक पुरानी बात नहीं है जब महात्मा गांधी ने अनपढ़ता, अज्ञानता, अस्वस्थता और निर्धनता जैसी बुराइयों से लड़ने के लिए तथा सामाजिक नवनिर्माण को गति देने के लिये बेसिक शिक्षा का ढाँचा तैयार किया। वे शिक्षा को मौन सामाजिक क्रांति का अग्रणी मानते थे।

शिक्षा सामाजिक परिवर्तन के प्रभाव के रूप में

शिक्षा सामाजिक परिवर्तन के प्रभाव का रूप समझी जाती है। राजनैतिक उथल-पुथल, औद्योगीकरण, तकनीकी प्रगति, धार्मिक आन्दोलनों आदि के कारण होने वाले सामाजिक परिवर्तन इनके अनुरूप शिक्षा की माँग करता है; उदाहरण के तौर पर रूस में, 1979 की क्रांति ने जीवन के राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक आदि सभी पहलुओं में क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिया। इन परिवर्तनों के प्रभाव के अधीन नये सामाजिक लक्ष्यों को महत्व प्राप्त हुआ। इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये शिक्षा व्यवस्था में व्यापक संरचनात्मक और संगठनात्मक परिवर्तन हुए। शिक्षा के लक्ष्यों, पाठ्यक्रग, अध्यापन की पद्धतियों में शिक्षा के सभी स्तरों पर महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुये। इसी प्रकार द्वितीय युद्धोत्तर काल में वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक आविष्कारों के कारण पाश्चात्य अर्थ-व्यवस्थाओं ने आर्थिक विकास की ऊँची दर का अनुभव किया। इससे शिक्षित और प्रशिक्षित जन शक्ति की माँग में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। अपेक्षित जन शक्ति की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं को पूरा करने के लिये इन देशों की शिक्षा सम्बन्धी और प्रशिक्षण सुविधाओं का विस्तार किया गया।

सामाजिक परिवर्तन लाने में अध्यापक की भूमिका (The Role of Teacher for Social Change)

अध्यापक सामाजिक परिवर्तन लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। वे इसे विभिन्न ढंग और साधनों से कर सकते हैं। वे छात्रों

की रुचियों और अभिरुचियों के क्षेत्रों में उनकी व्यक्तिगत योग्यताओं और कौशल को विकसित करके ऐसा कर सकते हैं। वे शिक्षा के माध्यम से प्रगतिशील मनोवृत्ति और वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी विकसित कर सकते हैं। वे अपने छात्रों को संसार में सार्थक जीवन के लिए तैयार कर सकते हैं। जब बच्चों में जिज्ञासु और स्वतन्त्र मस्तिष्क और वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास होता है, वे समाज के उपयोगी सदस्य के रूप में बड़े होते हैं। एक वयस्क के रूप में वे अपने सत्यों का शोध कर लेंगे और अपनी समस्याओं का समाधान कुशलतापूर्वक कर लेंगे।

अध्यापक अपने व्यक्तिगत उदाहरणों द्वारा भी सामाजिक परिवर्तन को बढ़ावा दे सकते हैं। प्रायः छोटे बच्चे अपने अध्यापकों के विचारों, मान्यताओं और मूल्यों को हृदयंगम कर लेते हैं। उच्च स्तर की उपलब्धियों की प्रेरणा, संवेदनशील, सीखने, निष्पादन, स्वदेश प्रेम इसकी एकता और प्रगति इत्यादि सम्बन्धी गुण अध्यापक अपने व्यक्तिगत उदाहरणों द्वारा बच्चों के मन में पैदा कर सकते हैं।

अध्यापक छात्रों में समुदाय की सेवा तथा समाज के नव निर्माण की प्रक्रिया में सम्मिलित होने की इच्छा पैदा करके समाज में परिवर्तन गति को तेज कर सकते हैं। ऐसा प्रौढ़ शिक्षा के कार्यक्रम, व्यावसायिक कार्यक्रम, स्वास्थ्य, परिवार नियोजन, स्वच्छता आदि महत्त्वपूर्ण विषयों पर वार्ता और प्रदर्शन द्वारा, राष्ट्रीय स्वयं सेवा कैम्प, शैक्षणिक क्लबों, माता-पिता व अध्यापक संघ, नाटक क्लबों, नेहरू युवक केन्द्रों आदि की गतिविधियों को संगठित करके किया जा सकता है।

विद्यालय-समुदाय और शिक्षा
(School, Community and Education)

विद्यालय एक उपसामाजिक व्यवस्था है। समाज एक इकाई होने के कारण यह शैक्षिक व्यवस्था का कार्य करता है आइये व्यवस्था को जानने का प्रयास करते हैं–

व्यवस्था शब्द का अर्थ है–सम्पूर्णता, अंगों में अन्तः सम्बन्ध

और स्वतः नियमन। एक व्यवस्था की परिभाषा एक समग्र गतिशील, जटिल सम्बद्ध रूप में की जा सकती है जिसमें निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए संगठित अन्तः-सम्बन्ध और अन्तःनिर्भर तत्त्वों के स्वतः नियामक प्रतिमान हों।

व्यवस्थाओं के सावयव, मशीनी, सामाजिक आदि विविध रूप होते हैं। मानव, गाय, मछली आदि सावयव व्यवस्था के; रेफ्रिजरेटर, वातानुकूलित करने वाला यंत्र आदि मशीनी व्यवस्था के और आर्थिक, राजनैतिक व्यवस्थायें सामाजिक व्यवस्था के उदाहरण हैं।

व्यवस्था के लक्षण (Symptoms of System)

एक व्यवस्था के लक्षण निम्न होते हैं–

* यह गतिशील होती है और इसे इसके समग्र रूप में पहचाना जा सकता है।
* इसके अंग अन्तःनिर्भर और अन्तः-सम्बद्ध होते हैं।
* व्यवस्था के अंगों में आपस में इस प्रकार अन्तःक्रिया होती है कि वे व्यवस्था को अन्तिम लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए योगदान देते हैं।

सामाजिक व्यवस्था (Social System)

विभिन्न प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों का चाहे वे सरल हों या जटिल, स्थायी हों या अस्थायी एक ताना-बाना होता है। यही सामाजिक सम्बन्धों का ताना-बाना समाज कहलाता है। समाज अपने विभिन्न भागों अथवा अंगों के माध्यम से काम करता है, जिन्हें समाजशास्त्री व्यापक अर्थों में सामाजिक व्यवस्थाओं के रूप में वर्गीकृत करते हैं। किसी भी अन्य व्यवस्था की भाँति सामाजिक व्यवस्था भी एक प्रमुख सामाजिक लक्ष्य की प्राप्ति या एक प्रमुख सामाजिक कार्य के सम्पादन के लिए विभिन्न संरचनाओं, संगठनों और व्यक्तियों की विविध भूमिकाओं से निर्मित होती है। समाज में परिवार, आर्थिक सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्थायें होती हैं।

उप-व्यवस्था (Sub-System)

किसी भी व्यवस्था के भाग एक दूसरे से सम्बद्ध होते हैं और इन्हें उप-व्यवस्था कहा जाता है। उदाहरणतया शैक्षणिक और आर्थिक व्यवस्थाओं में विद्यालय और फैक्ट्री उप-व्यवस्थायें हैं। उसी प्रकार से रक्त परिसंचरण, श्वसन और पाचन व्यवस्थायें मानव सावयवी व्यवस्था की उप-व्यवस्थायें हैं।

विद्यालय एक उप-सामाजिक व्यवस्था के रूप में (School as a Sub-Social System)

विद्यालय एक शैक्षणिक व्यवस्था, जो एक सामाजिक व्यवस्था है, का एक भाग है और इसे एक उप-सामाजिक व्यवस्था माना जाता है। आओ देखें कि विद्यालय किस प्रकार से एक सामाजिक संगठन के रूप में कार्य करता है और इसे किस प्रकार एक उप-सामाजिक व्यवस्था समझा जाता है?

कार्यात्मक दृष्टि से विद्यालय, परिवार और अनौपचारिक सम-वयस्क समुदाय की तरह, समाज के सामाजीकरण करने वाले निकाय हैं। सामाजिक विज्ञान के शब्दकोष (1964) में सामाजीकरण का अर्थ है; "सामाजिक परिस्थितियों में अनुभवों के माध्यम से मानव के मानसिक और शारीरिक व्यवहार को ढालना। सामाजीकरण में संस्कृति को आत्मसात् करना, संचार और सीखना इत्यादि, वे सभी बातें शामिल हैं, जिनके माध्यम से मानव एक सामाजिक स्वभाव को विकसित करता है और सामाजिक जीवन में भाग लेने योग्य बनाता है।" टालकोट पारसन (1935) इस बात पर बल देते हैं कि सामाजीकरण के कार्य में व्यक्तियों में प्रतिबद्धता और क्षमताओं के विकास सम्बन्ध ी वे सभी बातें शामिल होती हैं जो उनकी भावी जीवन की भूमिकाओं के सम्पादन के लिए आवश्यक पूर्व शर्त होती हैं। प्रतिबद्धतायें दो प्रकार की होती हैं–समाज के व्यापक मूल्यों के क्रियान्वयन सम्बन्धी प्रतिबद्धता और समाज के ढाँचे की सीमाओं में निश्चित प्रकार की भूमिका के सम्पादन सम्बन्धी प्रतिबद्धता।

कुछ समाजशास्त्रियों के अनुसार समाज चाहे पूँजीवादी हो अथवा समाजवादी, विद्यार्थियों में निश्चित मूल्यों को उनके मन में बैठाना विद्यालय के प्रमुख कार्यों में से एक है। विद्यालय जिन मूल्यों के प्रतीक होते हैं वे राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और नैतिक होते हैं। प्रत्येक श्रेणी में सम्बद्ध कुछ मूल्यों के उदाहरण नीचे दिये गये हैं–

राजनैतिक मूल्य (Political Value)– नेतृत्व सम्भालने की क्षमता, प्रजातान्त्रिक मूल्य, धर्म निरपेक्षता, स्वतंत्रता आदि।

सामाजिक मूल्य (Social Value)– सहयोग, समूह व समाज कल्याण के प्रति चिन्ता, आज्ञा पालन, दूसरे के साथ काम करने की क्षमता, अनुपाती न्याय आदि।

आर्थिक मूल्य (Economic Value)– मितव्ययता, समय की पाबन्दी, काम करने की अच्छी आदतें, साधनों का तर्कसंगत निर्धारण आदि।

नैतिक मूल्य (Moral Value)– चरित्र का विकास, एक अच्छा मानव बनना, 'सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्' के प्रति प्रेम, स्वाभिमान, अध्यापकों व बुजुर्गों के प्रति सम्मान आदि।

विद्यालय के अनुदेशात्मक व पाठान्तर क्रियाओं के समय पुरस्कार व दण्ड के साधनों को अपनाकर छात्रों के मन में मूल्यों को बैठाया जा सकता है। जिन विद्यार्थियों का व्यवहार वांछनीय होता है उन्हें पुरस्कृत किया जा सकता है। आवश्यक नहीं कि ये पुरस्कार व दण्ड सदा शारीरिक अथवा भौतिक ही हों। ये प्रायः सामाजिक और मनोवैज्ञानिक होते हैं। विद्यालय समाज के एक निकाय के रूप में उन्हीं मूल्यों को प्रोत्साहित करता है जिन्हें समाज द्वारा पुरस्कृत किया जाता है।

मूल्यों को बच्चों के मन में बैठाने के अलावा विद्यालय विद्यार्थियों को निश्चित भूमिकायें निभाने के लिये तैयार करते हैं। इस प्रकार की भूमिका का उदाहरण यौन भूमिका है जो बच्चों को बड़े होने पर निभानी पड़ती है। दूसरा उदाहरण एक नागरिक की भूमिका है। विद्यालय अपने पाठ्यक्रम और पाठ्य सहगामी कार्यक्रम द्वारा बच्चों को

विभिन्न भूमिकाओं के लिए तैयार करते हैं।

प्रतिबद्धता की तरह, क्षमताओं को विकसित करने के अलावा, विद्यालय समाज की जनशक्ति निर्धारण के निकाय के रूप में कार्य करता है। विद्यालय द्वारा छात्रों को विभिन्न व्यावसायिक आवश्यकताओं से जुड़ी शैक्षणिक श्रेणियों में डालकर ऐसा किया जाता है। श्रेणीबद्ध करने की प्रक्रिया को चयन प्रक्रिया कहते हैं।

इस चयन प्रक्रिया के आधार, अध्यापकों द्वारा सौंपे गये कार्यों के निष्पादन में भिन्नता और परिणामतः आन्तरिक और सार्वजनिक परीक्षाओं में छात्रों में उपलब्धि भिन्नता है। इन परीक्षाओं में छात्रों द्वारा प्राप्तांक और अध्यापकों की रिपोर्ट को उच्चतर माध्यमिक स्तर पर विज्ञान, वाणिज्य, कला या व्यावसायिक संकाय प्रदान करते समय प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार उच्चतर माध्यमिक सार्वजनिक परीक्षा में छात्रों की उपलब्धि उच्च शिक्षा में उनके प्रवेश, उनकी रुचि के महाविद्यालय में प्रवेश, उनकी रुचि के कोर्स आदि का निर्धारण करती है। इस तरह चयन प्रक्रिया जो प्राथमिक स्तर से शुरू होती है शिक्षा के बाद के सभी स्तरों पर जारी रहती है।

समुदाय और विद्यालय (Community and School)

विद्यालय-समुदाय सम्बन्धों के परीक्षण से पहले, हम समुदाय शब्द का अर्थ समझ लें। मूल रूप से 'समुदाय' का अर्थ था—लोगों का समूह जो एक भौगोलिक क्षेत्र में रहते थे; इकट्ठे आर्थिक और राजनैतिक गतिविधियों में लगे रहते थे तथा जो समान मूल्यों, अनुभवों और एक दूसरे से सम्बन्धित होने की भावना से स्वशासित एक सामाजिक इकाई थे।

समुदाय के तीन विशेषताएँ होती हैं—

1. सीमित, स्पष्ट भौगोलिक क्षेत्र में, अपेक्षाकृत केन्द्रित परिवारों का समूह

2. निवासी पर्याप्त मात्रा में एकीकृत सामाजिक अन्तःक्रिया का

प्रदर्शन करते हैं।

3. परिवारों का सह सम्बन्धों की साँझी सदस्यता की भावना होती है।

उदाहरण के तौर पर एक गाँव में किसान और उनके परिवार प्राय: पास-पास ही रहते हैं, उनका साँझा निवासीय क्षेत्र स्पष्ट रूप से सीमांकित होता है, उन्हें इसका ज्ञान होता है और गाँव वालों में एक दूसरे के साथ अन्त:क्रिया होती है। निवासियों में गाँव के प्रति एक प्रबल लगाव होता है और वे ग्रामीण समुदाय की सदस्यता को स्वीकारते हैं।

समुदाय से मिलती जुलती दूसरी धारणा पड़ोस की है, परन्तु यह समुदाय के सीमित स्वरूप का संकेत करती है। समुदाय की तरह इसकी भी विशेषताएँ होती हैं। भौतिक रूप से स्पष्ट क्षेत्र, सदस्यों में अपेक्षाकृत अधिक मेल-जोल और अपनेपन का भाव।

विद्यालय और समुदाय के बीच पारस्परिक सम्बन्ध होता है। यह कथन इस सम्बन्ध को स्पष्ट कर देता है : एक अच्छा समाज एक अच्छी विद्यालय व्यवस्था का परिणाम होता है और एक अच्छी विद्यालय व्यवस्था एक अच्छे समाज की उपज होती है। दूसरे शब्दों में एक विद्यालय को अपना शैक्षणिक कार्यक्रम इस प्रकार अपनाना होता है ताकि यह स्थानीय समुदाय को निश्चित सेवा प्रदान कर सके। इसकी कार्य प्रणाली समुदाय की आकांक्षाओं और आशाओं को इंगित करती है। दूसरी ओर समुदाय सभी सम्भव प्रयास करते हैं कि उनका विद्यालय यथासम्भव कार्यकुशल बन सके।

विद्यालय एक समुदाय से इस नाते जुड़ा है कि यह एक सामाजिक संस्था है और इसकी स्थापना इसके निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये की जाती है। अत: यह समाज/समुदाय से केवल लक्ष्य व उद्देश्य ही प्राप्त नहीं करता बल्कि उस समुदाय, जिसमें वह विद्यालय कार्यरत है, की गतिविधियों के अनुसार ही उसकी विषय-सामग्री और पद्धतियाँ निर्धारित की जाती है। समाज/समुदाय गतिशील होता है और

प्रायः बदलती हुई आवश्यकताओं और समाज/समुदाय के विकास के साथ विद्यालय में दी जाने वाली शिक्षा का स्वरूप भी बदल जाता है।

के. जी. सैयदेन के अनुसार जनता का विद्यालय, जनता की आवश्यकताओं और समस्याओं पर आधारित होना चाहिए। इसका पाठ्यक्रम उनके जीवन का सार होना चाहिये। इसके कार्य करने की पद्धति उनके अनुरूप होनी चाहिये। इसमें समुदाय के जीवन का महत्त्व और विशेषताएँ प्रतिबिम्बित होनी चाहिये।

विद्यालय और समुदाय में सम्बन्ध (Relationship between School and Community)

हैविन्गरस्ट के अनुसार विद्यालय और समुदाय के तीन सम्भव सम्बन्ध हो सकते हैं–

- परम्परागत
- विद्यालय समुदाय के आदर्श के रूप में।
- सामुदायिक विद्यालय।

परम्परागत धारणा

इस धारणा के अनुसार, विद्यालय समुदाय से बिल्कुल अलग-अलग होना चाहिये और इसे अपने आप अनिवार्य मानसिक और व्यावसायिक कौशल सिखाने तक सीमित रखना चाहिए।

विद्यालय समुदाय के आदर्श के रूप में (School as ideal of Community)

इस धारणा के अनुसार, विद्यालय समुदाय का सरलीकृत रूप है। बच्चे विद्यालय में रहना सीख कर वयस्क के रूप में रहना सीखते हैं। इस धारणा का अनुसरण करते हुए विद्यालय में विद्यार्थियों को अनुभव प्रदान करने के लिए समुदाय में वयस्कों द्वारा की जाने वाली गतिविधियाँ विद्यार्थियों द्वारा ही क्रियान्वित की जाती हैं। इस प्रकार की गतिविधियों के उदाहरण हैं–प्रभावकारी विद्यार्थी शासन, नाटक एवं संगीत क्लब, सहकारी बैंक तथा कार्यानुभव प्रदान करने वाली विविध

प्रकार की परियोजनायें आदि। इस प्रकार के विद्यालय की एक प्रमुख विशेषता यह होती है कि सभी अनुभव विद्यालय में ही प्रदान किये जाते हैं बाहर समुदाय में नहीं।

सामुदायिक विद्यालय (Community School)

इस धारणा के अनुसार विद्यालय और समुदाय में सम्बन्ध अधिक से अधिक निकटता का होता है। विद्यालय समुदाय की भलाई के लिए शैक्षणिक प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता है। एक सामुदायिक विद्यालय की दो विशेषताएँ होती हैं–

- यह विद्यार्थियों को स्थानीय समुदाय के स्रोतों का अन्वेषण करना, उनको विकसित करना तथा उनका उपयोग करना सिखाता है; और
- यह सामुदायिक विकास का केन्द्र बनकर समस्त समुदाय की सेवा करता है।

भारत जैसे विकासशील देशों में इस धारणा को बहुत महत्त्व दिया जा रहा है क्योंकि सामुदायिक विद्यालय ग्रामीण क्षेत्रों के विकास के लिए धुरी के रूप में भूमिका निभा सकता है।

यह उल्लेखनीय है कि इन तीनों में से किसी भी धारणा का अनुकरण करने वाला विद्यालय, शुद्ध रूप में विरले ही मिलते हैं। आजकल एक विद्यालय में तीनों ही रूपों के तत्त्व मिलते हैं। हालाँकि जिस अनुपात में ये तत्त्व मिले हुए होते हैं वह एक विद्यालय और दूसरे विद्यालय में भिन्न होता है।

अब हम देखें कि किस प्रकार एक समुदाय अपने आपको विद्यालय से सम्बद्ध कर सकता है। **प्रथमतः**, यह विद्यालय के प्रबन्ध, नियुक्ति पद्धति, पाठ्यक्रम आदि पर नियन्त्रण करके और प्रबन्ध समितियों के समस्त माध्यम से जहाँ इसका पर्याप्त प्रतिनिधित्व होता है, इसके विकास को दिशा देकर ऐसा कर सकता है। इनके अलावा, यह शिक्षा के स्तर का निर्धारण करने में अपने को संलग्न कर सकता है।

यह उल्लेखनीय है कि भारत में कुछ वर्गवत् विद्यालयों को छोड़कर विद्यालयों का प्रबन्ध और नियन्त्रण प्राय: समुदाय के हाथ में नहीं होता। इस अभाव को माता-पिता व अध्यापक सभा का संगठन द्वारा किया जाता है जिसमें माता-पिता का पर्याप्त प्रतिनिधित्व होता है। फिर ग्रामीण क्षेत्रों में समुदाय के प्रबन्ध व नियन्त्रण में विद्यालय स्थापित करने की काफी गुंजाइश है। गाँव में इस प्रकार के विद्यालय हमारी प्रजातान्त्रिक संस्था के अनुरूप हैं।

दूसरे, समुदाय विद्यालय की बहुत-सी समस्याएँ हल करने में सहायता कर सकता है : उदाहरणतया, विद्यालयों के पास प्राय: धन का अभाव होता है जिसकी उन्हें अध्यापकों व प्रशासकीय कर्मचारियों के वेतन के आंशिक खर्चे पूरे करने, भवन निर्माण करने, उपकरण सामग्री, पुस्तकें आदि खरीदने और विविध पाठान्तर गतिविधियाँ चलाने के लिए आवश्यकता होती है। इनके अतिरिक्त विद्यालय को समुदाय के कमजोर वर्ग के विद्यार्थियों की सहायता के लिए धन की आवश्यकता होती है। कुछ विद्यालयों में कभी-कभी अध्यापकों व कर्मचारी वर्ग की कमी होती है। कक्षायें पढ़ाने के लिए स्वयं सेवक भेजकर अथवा अस्थायी तौर पर अध्यापक नियुक्त करने के लिए दान देकर समुदाय सहायता प्रदान करता है। **तीसरे**, समुदाय विद्यालय को कई प्रकार से सम्पन्न अध्ययन के स्रोत प्रदान करता है। इसमें प्रमुख निम्न प्रकार से हैं–

समुदाय में बहुत से स्थान ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व के होते हैं। इस प्रकार के स्थानों के कुछ उदाहरण हैं : प्राचीन इमारतें, अजायबघर, महल, मन्दिर, मकबरे, चर्च, स्मारक आदि। इन स्रोतों का प्रयोग इतिहास और सामाजिक अध्ययन पढ़ाते समय किया जा सकता है। इन स्रोतों पर आधारित गतिविधियाँ समुदाय के भूतकाल को वर्तमान के साथ जोड़ने में सहायक होती हैं और उनके द्वारा विद्यार्थियों में सामूहिक भावना को प्रबल बनाती है। इसके अलावा, इस प्रकार की परम्परा उनमें गर्व की भावना भी पैदा करती है।

एक समुदाय के पास कई प्रकार के भौतिक साधन, जैसे खेत,

सिंचाई परियोजनायें, कारखाने, कर्मशालायें (वर्क शॉप) आदि होते हैं जिनका प्रयोग शैक्षणिक उद्देश्यों के लिए किया जा सकता है। इन स्थानों पर जाकर विद्यार्थी उन गतिविधियों तथा उनके आर्थिक और प्रौद्योगिक महत्त्व का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं जो वहाँ चल रही होती हैं। वे स्वयं ही उनकी समस्याओं और समाधान के प्रयासों का पता लगा सकते हैं। इस प्रकार के अनुभव विद्यार्थियों के दृष्टिकोण को व्यापक बनाते हैं और उन्हें विभिन्न विषयों को सीखने के लिए अवधारणात्मक अध्ययन का आधार प्रदान करते हैं।

समुदाय की भौतिक स्थिति और परिवेश विद्यार्थियों के भूगोल शास्त्र और विज्ञान पढ़ने व सीखने के लिए सम्पन्न स्रोत के रूप में काम आता है। इस अवसर के स्रोतों के उदाहरण हैं–पर्वत, वन, चट्टानें, मिट्टी, तालाब, झील,वनस्पति व जीव जन्तु आदि।

सामाजिक व सांस्कृतिक परिवेश विद्यार्थियों के लिए सीखने के एक सम्पन्न स्रोत के रूप में काम आता है। समुदाय द्वारा मनाये जाने वाले बहुत से उत्सव होते हैं जो ऋतुओं, धार्मिक और ऐतिहासिक महत्त्व की घटनाओं से जुड़े होते हैं। इसी प्रकार एक समुदाय के लोकगीत, रीति-रिवाज, पहनावा, परम्परायें, विश्वास, मूल्य आदि होते हैं। ये सभी सीखने के स्रोत के रूप में काम आ सकते हैं। विद्यार्थी इनमें से किसी एक या एक से अधिक को, विस्तार से अध्ययन के लिए परियोजना के रूप में ले सकते हैं और यह केवल ज्ञानात्मक और मनोगत्यात्मक कौशल को ही प्रखर नहीं बनायेगा बल्कि उनकी सांस्कृतिक जड़ों को भी मजबूत बनायेगा।

सामुदायिक विद्यालय द्वारा जुआ खेलना, शराब पीना, दहेज प्रथा, बाल-विवाह, महिलाओं के प्रति दुर्व्यवहार, शिशु कन्यावध, सती प्रथा, समुदाय के कमजोर वर्गों का शोषण आदि सामाजिक बुराइयों क विरुद्ध अभियान छेड़ा जा सकता है। इस प्रकार के अभियानों में अध्यापकों, विद्यार्थियों व समुदाय के प्रबद्ध सदस्यों को शामिल किया जा सकता है।

अन्तिम लेकिन कम महत्त्वपूर्ण नहीं, सामुदायिक विद्यालय विभिन्न व्यवसायों में लगे श्रमिकों के लिए अनौपचारिक व्यावसायिक शैक्षणिक कार्यक्रमों का आयोजन करके उनके कौशल को उन्नत कर सकता है ताकि उनकी उत्पादन क्षमता में वृद्धि हो सके।

विद्यालय समुदाय के विभिन्न वर्गों की शिक्षा और उन्नति के कार्यक्रमों का आयोजन करके अपने आपको इससे सम्बद्ध करता है। विद्यालय निम्न प्रकार से यह कर सकता है–

यह समुदाय के प्रौढ़ सदस्यों को जब यह शैक्षणिक महत्त्व के विभिन्न कार्यक्रमों का आयोजन करता है आमन्त्रित कर सकता है। नाटक, प्रदर्शनी, राष्ट्रीय एवं स्थानीय नेताओं के जन्म-दिन पर जन्मोत्सव, त्योहार, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय दिवस इत्यादि इस प्रकार के कार्यक्रमों के उदाहरण हैं।

सामुदायिक विद्यालय समुदाय को शैक्षणिक उद्देश्यों के लिए अपने स्रोतों व साधनों का उपयोग करने की अनुमति दे सकते हैं। उदाहरण के तौर पर साक्षरता को बढ़ावा देने और ज्ञान वृद्धि के लिए विद्यालय अपनी पुस्तकालय सुविधाओं का तथा समुदाय के कल्याण के लिए किये जाने वाले शैक्षणिक कार्यक्रमों के आयोजन के लिए अपने भवन का उपयोग करने की अनुमति दे सकते हैं।

सामुदायिक विद्यालयों के अध्यापकों और विद्यार्थियों द्वारा प्रौढ़ों के लिए साक्षरता कार्यक्रमों का आयोजन और क्रियान्वयन किया जा सकता है और इस प्रकार उनकी सामान्य क्षमता बढ़ाई जा सकती है।

सामुदायिक विद्यालयों द्वारा समुदाय की भलाई के लिए स्वास्थ्य क्लबों, रेडियो एवं टी.वी. मंचों की स्थापना की जा सकती है। विद्यालय के अध्यापक इनके अध्यक्ष अथवा सचिव बनकर यह सुनिश्चित कर सकते हैं कि जिन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उनकी स्थापना की गई है उन्हें पूरा किया जा सके।

सामुदायिक विद्यालयों के कार्यक्रम (Functions of Community

School)

सामुदायिक विद्यालय दो प्रकार के कार्यक्रमों का आयोजन करते हैं–

* इस प्रकार के कार्यक्रम जो समुदाय के बच्चों को समुदाय द्वारा निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति कराने वाली शिक्षा प्रदान करें।

* समुदाय के विभिन्न वर्गों की शिक्षा व प्रगति के लिए कार्यक्रम।

दूसरे शब्दों में, सामुदायिक विद्यालय न केवल बच्चों की बल्कि समुदाय की भी शैक्षणिक आवश्यकताओं को पूरा करता है। यह औपचारिक तथा अनौपचारिक दोनों प्रकार की आवश्यकताओं को पूरा करता है। यह प्रतिदिन 24 घंटे और वर्ष के बारहों मास कार्य करता है।

सामुदायिक विद्यालय के बच्चों के लिए कुछ कार्यक्रम निम्नलिखित हैं–

* इसमें विद्यार्थियों की अपनी सरकार होती है जिससे वे अपने पर शासन करना सीखते हैं।

* यह सामुदायिक स्त्रोतों का उपयोग बच्चों को शिक्षित करने के लिए करते हैं।

* विद्यार्थी नालियों की अवस्था सुधारने, सामान्य रोगों की रोकथाम की जानकारी देने जैसी परियोजनाएँ सामुदायिक भलाई के लिए चलाते हैं।

* यह प्रारम्भिक अवस्था में अपने पाठ्यक्रम का आयोजन स्थानीय मामलों और विषयों पर केन्द्रित करते हैं।

सामुदायिक विद्यालय द्वारा समुदाय के कल्याण के लिये अपनाये जाने वाले कार्यक्रमों में से कुछ निम्नलिखित हैं :–

* यह समुदाय को विद्यालय का भवन शैक्षणिक और मनोरंजन के उद्देश्य से प्रयोग करने की अनुमति देता है; उदाहरण के तौर पर यह

समुदाय की ज्ञानवृद्धि के लिए विद्यालय के पुस्तकालय क्लब की बैठकें करने के लिए कमरों, चलचित्र दिखाने और सांस्कृतिक कार्यक्रमों आदि के लिए सभा भवन का प्रयोग करने की अनुमति देता है।

* यह प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम का आयोजन करता है।

* यह समान हित की समस्याओं पर काम करने के लिए नौजवानों और प्रौढ़ों को इकट्ठे करता है।

* यह अध्यापकों को सामुदायिक जीवन में साथी और सहकर्मी के रूप में सामने लाता है।

विद्यालय एवं समुदाय के क्षेत्र (Scope of School and Community)

विद्यालय एवं समुदाय उन क्षेत्रों में सहयोग कर सकते हैं, जिसमें वे निश्चित साझे लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए पूरक प्रयास करते हैं। विद्यालय को कुशल एवं प्रभावकारी निष्पादन के लिए आर्थिक स्त्रोतों की आवश्यकता होती है। प्राय: अनुदान तथा शुल्क आदि से प्राप्त धन उनकी आवश्यकता से कम पड़ते हैं। समुदाय विद्यालय के लिए धन इकट्ठा करके अभाव को पूरा कर सकता है। इसके अलावा समुदाय विद्यालय की सहायता शैक्षणिक उद्देश्यों के लिए अपने उपलब्ध स्त्रोतों का प्रयोग करने की अनुमति प्रदान कर सकता है।

जहाँ तक समुदाय का सम्बन्ध है, इसे अपने सदस्यों के शैक्षणिक और कौशल स्तर को ऊँचा उठाने के लिए विद्यालय की आवश्यकता होती है। अत: विद्यालय इसके सदस्यों को प्रौढ़ शिक्षा, सामाजिक शिक्षा, स्वास्थ्य शिक्षा और व्यावसायिक शिक्षा प्रदान करने में समुदाय के साथ सहयोग कर सकते हैं।

सामाजिक गतिशीलता व शिक्षा
(Social Mobility and Education)

समाजशास्त्रियों ने समाजों के दो सामान्य भेद बतलाए हैं। प्रथम प्रकार के वे समाज हैं जो जातियों के आधार पर संगठित होते हैं। इस प्रकार का समाज वंशानुक्रम असमानता पर पूर्णत: आधारित होता है।

इसका सबसे प्रमुख उदाहरण भारत की हिन्दू जातियाँ हैं। ये जातियाँ जन्म पर आधारित हैं। इस कारण व्यक्तिगत कार्य एवं प्रयास किसी व्यक्ति की सामाजिक स्थिति को उसके जीवन-काल में परिवर्तित नहीं कर पाते हैं।

इस कारण इस प्रकार के समाज में सामाजिक गतिशीलता को बहुत कम स्थान प्राप्त है। द्वितीय प्रकार के वे समाज हैं जो अवसर की समानता (Equality of opportunity) पर आधारित हैं। इनमें व्यक्ति की स्थिति स्वयं उनके प्रयासों का परिणाम होती हैं। वह अपनी स्थिति को अभिभावकों की स्थिति के फलस्वरूप प्राप्त नहीं करता है। इस प्रकार के समाज में सामाजिक स्थिति के परिवर्तन के लिए पर्याप्त मात्रा में अवसर प्राप्त रहते हैं। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि इस प्रकार के समाजों में सामाजिक गतिशीलता सम्भव है।

सामाजिक गतिशीलता का अर्थ व परिभाषा
(Meaning and Definition of Social Mobility)

सामाजिक गतिशीलता का अर्थ (Meaning of Social Mobility) : सामाजिक गतिशीलता का अर्थ है– व्यक्ति की किसी सामाजिक ढाँचे (Social Stratification) में गति। इस दृष्टि से सामाजिक गतिशीलता का अर्थ है– किसी सामाजिक ढाँचे में किसी व्यक्ति के सामाजिक पद (Status) या सामाजिक स्थान में होने वाले परिवर्तन। अत: व्यक्ति की सामाजिक स्थिति या पद का उच्च या निम्न हो जाना ही सामाजिक गतिशीलता है।

सामाजिक गतिशीलता की परिभाषा (Definition of Social Mobility) : सामाजिक गतिशीलता के अर्थ को अधिक स्पष्ट करने के लिए कुछ परिभाषाएँ नीचे दे रहे हैं।

मिलर व वूक–"सामाजिक गतिशीलता, व्यक्तियों या समूहों का एक सामाजिक ढाँचे से दूसरे सामाजिक ढाँचे में संचालन है।"

सोरोकिन–"सामाजिक गतिशीलता का अर्थ है–सामाजिक समूहों

तथा स्तर के पुंज में किसी व्यक्ति का एक सामाजिक स्थिति से दूसरी सामाजिक स्थिति में पहुँच जाना।"

सामाजिक गतिशीलता के रूप
(Forms of Social Mobility)

हेरोल्ड एल. **हाडकिंसन** (Harold L. Hodgkinson) ने सामाजिक गतिशीलता के निम्नलिखित दो भेद बताए हैं–

- समतल सामाजिक गतिशीलता (Horizontal Social Mobility)
- शीर्षात्मक सामाजिक गतिशीलता (Vertical Social Mobility)

समतल सामाजिक गतिशीलता (Horizontal Social Mobility): हॉडकिंसन ने समतल सामाजिक गतिशीलता के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है– इसमें भौगोलिक गति होती है। इस प्रकार की सामाजिक गतिशीलता में व्यक्ति के सामाजिक पद में कोई परिवर्तन नहीं होता है; उदाहरणार्थ–किसी छोटे नगर के बैंक का बाबू जब बड़े नगर के बैंक का बाबू बन जाता है तब उसके व्यवसाय में परिवर्तन न होकर केवल भौगोलिक स्थिति में परिवर्तन होता है। व्यवसाय उसका वही रहता है। परन्तु संचालन हो जाता है अर्थात् उसी व्यवसाय से उसकी स्थिति में घटत-बढ़त हो जाती है।

शीर्षात्मक सामाजिक गतिशीलता (Vertical Social Mobility) : शीर्षात्मक गतिशीलता, समतल सामाजिक गतिशीलता से अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें व्यक्ति एक सामाजिक पद या स्थिति से दूसरे सामाजिक पद या स्थिति पर जाता है। इसमें स्थिति या पद का परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन उच्चता की ओर भी हो सकता है और निम्नता की ओर भी। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि यह पद परिवर्तन निम्न समूह से उच्च समूह की ओर भी हो सकता है या उच्च समूह से निम्न समूह की ओर भी हो सकता है। अत: उच्च से निम्न या निम्न से उच्च सामाजिक स्थिति या प्रतिष्ठा वाले सामाजिक स्तरों में व्यक्तियों के आने-जाने को शीर्षात्मक सामाजिक गतिशीलता कहते हैं। **सोरोकिन**

ने इसके अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है–*"शीर्षात्मक गतिशीलता से मेरा अभिप्राय उन सम्बन्धों से है जो किसी व्यक्ति (या सामाजिक वस्तु) के एक सामाजिक स्तर से दूसरे सामाजिक स्तर में जाने के कारण उत्पन्न होते हैं।"*

सामाजिक गतिशीलता वैयक्तिक एवं सामूहिक तथा संरक्षित एवं प्रतिस्पर्द्धात्मक (Contest) प्रकार की भी हो सकती है। जब व्यक्ति अपने जीवन में शीर्षात्मक या समतल रूप में गतिशीलता को प्राप्त करता है तब यह वैयक्तिक गतिशीलता कहलाती है। जब एक समूह या समुदाय समग्र रूप में गतिशीलता को प्राप्त करता है तब वह सामूहिक गतिशीलता कहलाती है। जब कोई व्यक्ति या समूह किसी के संरक्षण में रहकर गतिशीलता को प्राप्त करता है तब वह संरक्षित (Sponsored) गतिशीलता कहलाती है। जब कोई व्यक्ति या समूह परिश्रम एवं संघर्ष करके तथा न्यायोचित प्रयासों से गतिशीलता को प्राप्त करता है तब वह प्रतिस्पर्द्धात्मक गतिशीलता कहलाती है।

सामाजिक गतिशीलता को प्रभावित करने वाले कारक

Affecting Factors Social Nobility

सेमूर एम. लिपसेट रीनहार्ड बेनडिक्स (Seymour M. Lipset and Reinhard Bendix) के अनुसार औद्योगिक समाज में सामाजिक गतिशीलता को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करने वाले अधोलिखित पाँच कारक हैं–

किसी सामाजिक वर्ग में उपलब्ध सामाजिक पदों की संख्या में परिवर्तन (Changes in the Number of Positions available within a given Social Class) वर्तमान शताब्दी के गत डेढ़ दशकों में औद्योगिकी के क्षेत्र में कुछ परिवर्तनों ने हमारे समाज में इंजीनियरों की संख्या में महान् परिवर्तन ला दिया है। इस वृद्धि ने अन्य सामाजिक वर्गों के व्यक्तियों की इंजीनियर की स्थिति में परिवर्तित होने के लिए बहुत-से अवसर प्रदान कर दिए हैं। इस कारण आधुनिक औद्योगिक समाज में सामाजिक गतिशीलता को बहुत प्रोत्साहन मिला।

प्रसवन दर की विविधता (Different Rates of Fertility) प्राय: सभी औद्योगिक देशों में परिवारों के आकार तथा सामाजिक वर्ग-स्थिति (Social class position) में विलोम अनुपात (Inverse ratio) पाया जाता है। निम्न वर्ग के परिवार बड़े होते जाते हैं, जबकि मध्य तथा उच्च वर्गों के परिवार आकार में छोटे होते जाते हैं। इस प्रवृति ने मध्यम वर्गीय पदों की पूर्ति करने के लिए आवश्यक मध्यम वर्गीय युवकों की संख्या में कमी कर दी अर्थात् इसके फलस्वरूप मध्यम वर्गीय युवकों के अभाव में बहुत से मध्य वर्गीय पद रिक्त हो जाते हैं, परन्तु इन पदों की पूर्ति के लिए निम्न वर्ग के लोगों को अवसर प्राप्त हो जाते हैं। अत: निम्न वर्ग के व्यक्तियों द्वारा मध्य वर्गीय पदों के ग्रहण करने पर सामाजिक गतिशीलता को स्थान मिल जाता है।

पदों की स्थिति में परिवर्तन (Change in Status of Positions) आधुनिक परिवर्तनों तथा वैज्ञानिक खोजों ने एक नवीन प्रकार की सामाजिक गतिशीलता को जन्म दिया है, जो कुछ व्यवसायों की सापेक्षिक स्थिति में हुए परिवर्तनों से सम्बन्धित है, उदाहरणार्थ–आधुनिक समाज में वैज्ञानिक तथा न्यूक्लियर भौतिक शास्त्री की स्थिति अन्य व्यवसायों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। राजनीतिज्ञ, चाहे वे केन्द्रीय स्तर के हों या राजकीय स्तर के, उनकी स्थिति सापेक्षिक दृष्टि से निम्न हो गई है।

वंशानुगत सामाजिक पदों की संख्या में परिवर्तन (Changes in the Numbers of Inherited Social Positions) आधुनिक औद्योगिक समाज में वंशानुगत सामाजिक पदों की संख्या में कमी हो गई है। सम्भवत: ऐसा छोटे-छोटे व्यवसायों एवं उद्योगों की अवनति के कारण हुआ है। आधुनिक समाज में ऐसे बहुत से सामाजिक पदों का विकास हुआ जिनको वंशानुगत ढंग से एक के बाद दूसरे को हस्तान्तरित नहीं किया जा सकता है; उदाहरणार्थ– लोक-सेवा आयोग का चेयरमैन, सर्वोच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश का पद, रेलवे बोर्ड का चेयरमैन आदि। इन पदों को अन्य सामाजिक स्तर के व्यक्तियों द्वारा निर्धारित

योग्यताओं की पूर्ति करने पर प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु जो व्यक्ति चेयरमैन के पद को ग्रहण किए हुए है, वह अपने पुत्र या अपने सामाजिक स्तर के अन्य व्यक्ति को स्वयं प्रदान नहीं कर सकता है।

राजनीतिक प्रतिबन्धों में परिवर्तन (Changes in Legal and Political Restrictions) आज प्राचीन तथा मध्यकाल में प्रचलित बहुत-से वैधिक या विधायी तथा राजनीतिक प्रतिबन्धों को समाप्त कर दिया है। इसके फलस्वरूप सामाजिक गतिशीलता को बहुत प्रोत्साहन मिला है; उदाहरणार्थ– अंग्रेजी भारत में अल्पसंख्यकों पर बहुत-से प्रतिबन्ध थे। परन्तु स्वतंत्र भारत में उन पर से बहुत-से प्रतिबन्ध हटा लिए गये, जिसके फलस्वरूप भारतीय समाज में पर्याप्त मात्रा में सामाजिक गतिशीलता को प्रोत्साहन मिला। इसके फलस्वरूप समतल तथा शीर्षात्मक दोनों प्रकार की गतिशीलता देखने को मिलती है। अछूत जातियों के लोग आज उच्च वर्ग के सामाजिक पदों पर दिखाई पड़ते हैं। अत: हमारे समाज में इन बन्धनों के हटने से निम्न से उच्च समूह की ओर सामाजिक गतिशीलता का संचलन हुआ।

सामाजिक ढाँचा (Structure of Society) सामाजिक गतिशीलता को सामाजिक ढाँचे के द्वारा भी प्रभावित किया जाता है। यदि समाज वंशानुगत असमानता पर आधारित है, तो उसे बन्द समाज (Closed Society) के नाम से पुकारा जाता है। इसमें सामाजिक गतिशीलता को बढ़ावा नहीं मिलता। क्योंकि इसमें समाज जातियों तथा वंशों के बन्धनों से बँधा रहता है। यदि इसके विपरीत समाज अवसर की समानता पर आधारित है तो उसमें सामाजिक गतिशीलता को प्रोत्साहन मिलता है। इसमें व्यक्ति एक सामाजिक स्थिति या पद से दूसरी सामाजिक स्थिति में प्रवेश कर सकता है।

आर्थिक समृद्धि (Economic Prosperity) आर्थिक दृष्टि से समाज में तीन वर्ग-धनिक, मध्य तथा गरीब–पाए जाते हैं। इन तीनों वर्गों के खान–पान, रहन–सहन, आचार-विचार, सामाजिक स्तर आदि में अन्तर पाया जाता है। आज समाज में धनिक वर्ग के व्यक्तियों को

अधिक सम्मान मिलता है। इस कारण प्रत्येक व्यक्ति, चाहे उसका सम्बन्ध किसी भी वर्ग से क्यों न हो, अधिक-से-अधिक धन कमाने का प्रयास करता है जिससे उसकी सामाजिक स्थिति उच्च जो जाय और वह समाज की प्रतिष्ठा का अधिकारी बन सके। इस प्रकार एक वर्ग से दूसरे वर्ग में गतिशीलता हो जाती है। अतः आर्थिक सम्पन्नता एक वर्ग से दूसरे वर्ग में सामाजिक गतिशीलता को प्रभावित करती है।

व्यावसायिक प्रतिष्ठा (Occupational Prestige) समाज में सभी व्यवसायों को समान प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं होती है। असमानता ने भी सामाजिक गतिशीलता को बहुत प्रभावित किया है; उदाहरणार्थ- आज भारत में शिक्षण-व्यवसाय- प्रशासन, सैनिक, व्यापार आदि से उच्च एवं प्रतिष्ठित व्यवसाय नहीं माना जाता है। प्रायः देखा जाता है कि प्रशिक्षित शिक्षक अपने व्यवसाय को छोड़कर दूसरे व्यवसायों को ग्रहण कर लेते हैं। इसके सैकड़ों उदाहरण भारतीय समाज में देखने को मिल सकते हैं।

शिक्षा (Education) शिक्षा के प्रसार एवं विकास ने सामाजिक गतिशीलता को बहुत प्रभावित किया है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामाजिक स्थिति को उन्नत बनाने के लिए शिक्षा को आवश्यक साधन स्वीकार करता है, अतः शिक्षा की प्राप्ति व्यक्ति अपनी सामाजिक स्थिति या पद की वृद्धि में संलग्न है। इस संलग्नता ने सामाजिक गतिशीलता को बहुत बढ़ावा दिया है।

शासन-व्यवस्था (Administrative Set-up) देश की शासन-व्यवस्था भी सामाजिक गतिशीलता को प्रभावित करती है। लोकतन्त्रीय शासन-व्यवस्था में अन्य प्रकार की शासन-प्रणालियों की अपेक्षा सामाजिक गतिशीलता को अधिक प्रोत्साहन मिलता है, क्योंकि जनतन्त्र में अवसर की समानता को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया जाता है। इसके अतिरिक्त लोकतन्त्र में व्यक्ति की महत्ता को स्वीकार किया जाता है। इन कारणों से व्यक्ति को अपनी सामाजिक स्थिति को परिवर्तित करने के लिए अवसर प्राप्त हो जाते हैं। इसके फलस्वरूप

समाज में अधिक गतिशीलता पाई जाती है।

महत्त्वाकांक्षा स्तर (Level of Aspiration) मानव की आकांक्षाएँ एवं उनकी दृढ़ता, उच्चता, सामाजिक गतिशीलता को प्रभावित करती है। जिस समाज में जितने अधिक महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति होंगे, उस समाज में उतनी ही अधिक सामाजिक गतिशीलता होगी।

शिक्षा व सामाजिक गतिशीलता
Education and Social Mobility

आदिकालीन समाजों में लोग अपनी सामाजिक स्थिति को दैवी मानते थे। इस कारण उन्होंने प्रचलित सामाजिक ढाँचे को चुनौती नहीं दी। परन्तु आधुनिक समाज वह है जिसमें प्राचीन सामाजिक स्तरों को समाप्त करके खुली गतिशीलता को स्थान प्रदान किया है। इस कारण आधुनिक समाज ने विद्यालय के परम्परागत कार्यों में परिवर्तन किया जिससे वह समाज की गतिशीलता के साथ कदम मिला सके। इस समबन्ध में कार्ल वीनबर्ग ने लिखा है–*"विद्यालय का प्रमुख कार्य, नवीन मार्ग प्रशस्त करना तथा उनको सभी के लिए खोले रखना है जिससे वह सामाजिक गतिशीलता के बदलते हुए ढाँचे के साथ कदम मिला सके। विद्यालय इस कार्य को तभी पूरा कर सकता है जब वह सभी प्रकार के आर्थिक स्तरों के बालकों को अपनी उन्नति करने के लिए व्यापक अवसर प्रदान करेगा।"*

शिक्षा व सामाजिक गतिशीलता का सम्बनध (Relation between Education and Social Mobility) "शिक्षा, सामाजिक गतिशीलता से प्रत्यक्ष रूप में सम्बन्धित है। शिक्षा शीर्षात्मक गतिशीलता को उत्पन्न करती है। आधुनिक युग में शिक्षा को सामाजिक गतिशीलता की प्रमुख धारा माना जाता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि शिक्षा वह साधन है जिसके द्वारा सामाजिक गतिशीलता को लाया जाता है। शिक्षा और सामाजिक गतिशीलता के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए मिलर व वूक ने लिखा है–"औपचारिक शिक्षा, सामाजिक गतिशीलता से प्रत्यक्ष तथा कारणतः सम्बन्धित है। इस सम्बन्ध को सामान्यतः इस रूप

में समझा जाता है। शिक्षा स्वयं शीर्षात्मक सामाजिक गतिशीलता का एक प्रमुख कारण है।"

उक्त सम्बन्ध को उदाहरण द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है। कुछ व्यवसाय; जैसे–डॉक्टरी, वकालत, शिक्षण, इन्जीनियरिंग आदि के लिए कुछ वर्षों की औपचारिक शिक्षा की आवश्यकता है। इस शिक्षा के अभाव में व्यक्ति डॉक्टर, वकील, शिक्षक या इंजीनियर नहीं बन सकता है। अतः शिक्षा व्यावसायिक स्थिति को प्राप्त करने का एक प्रमुख कारण या साधन है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शिक्षा, बालकों की क्षमता एवं कुशलता का विकास करके उन्हें सामाजिक गतिशीलता के लिए तैयार करती है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि शिक्षा वह साधन है जिसके द्वारा सामाजिक गतिशीलता को लाया जाता है। शिक्षा और सामाजिक गतिशीलता के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए मिलर व वूक ने लिखा है– "औपचारिक शिक्षा, सामाजिक गतिशीलता से प्रत्यक्ष तथा कारणतः सम्बन्धित है। इस सम्बन्ध को सामान्यतः इस रूप में समझा जाता है। शिक्षा स्वयं शीर्षात्मक सामाजिक गतिशीलता का एक प्रमुख कारण है।"

उक्त सम्बन्ध को उदाहरण द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है। कुछ व्यवसाय; जैसे–डॉक्टरी, वकालत, शिक्षण, इन्जीनियरिंग आदि के लिए कुछ वर्षों की औपचारिक शिक्षा की आवश्यकता है। इस शिक्षा के अभाव में व्यक्ति डॉक्टर, वकील, शिक्षक या इंजीनियर नहीं बन सकता है। अतः शिक्षा व्यावसायिक स्थिति को प्राप्त करने का एक प्रमुख कारण साधन है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि शिक्षा, बालकों की क्षमता एवं कुशलता का विकास करके उन्हें सामाजिक गतिशीलता के लिए तैयार करती है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि शिक्षा द्वारा बालकों को व्यावसायिक गतिशीलता के लिए तत्पर बनाया जाता है। अतः शिक्षा, सामाजिक गतिशीलता का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। परन्तु शिक्षकों द्वारा छात्रों की गतिशीलता में अन्तर पाया जाता है। नीचे हम इन दोनों की

गतिशीलता पर प्रकाश डाल रहे हैं–

छात्रों की सामाजिक गतिशीलता (Social Mobility of Students) सामान्यत: शिक्षा को समाज में उच्च स्तर या पद प्राप्त करने का महत्त्वपूर्ण साधन माना जाता है। अत: प्रत्येक समाज में प्रत्येक छात्र शिक्षा इसलिए प्राप्त करता है कि वह अपनी क्षमता एवं योग्यता के अनुसार उच्च सामाजिक पद प्राप्त कर सके। परन्तु शिक्षा के विभिन्न तत्व उसकी सामाजिक गतिशीलता को विभिन्न रूप से प्रभावित करते हैं। इन विभिन्न तत्त्वों के प्रभाव को नीचे स्पष्ट किया जा रहा है–

शिक्षा की मात्रा (Quantity of Education) शिक्षा के ढाँचे में विभिन्न स्तरों-प्राइमरी, माध्यमिक, उच्च आदि की शिक्षा को स्थान प्रदान किया जाता है। छात्र जिस स्तर तक की शिक्षा प्राप्त करेगा; वह उस स्तर के योग्य सामाजिक पद को प्राप्त करने में समर्थ हो सकेगा; उदाहरणार्थ–यदि किसी छात्र ने माध्यमिक स्तर तक की शिक्षा प्राप्त की है, तो वह इस स्तर के योग्य किसी सामाजिक पद अर्थात् लोअर डिवीजन क्लर्क, आपरेटर आदि पदों को प्राप्त कर सकता है। वह आई. पी. एस., आई. ए. एस. आदि सामाजिक पदों को प्राप्त नहीं कर सकता है।

शिक्षा की पाठ्य-वस्तु (Content of Education) शिक्षा की पाठ्य-वस्तु भी सामाजिक गतिशीलता को प्रभावित करती है। शिक्षा की प्रत्येक पाठ्य-वस्तु का अलग-अलग महत्त्व है। कोई भी छात्र इंजीनियरिंग की पाठ्य-वस्तु का अध्ययन करके डाक्टर का पद नहीं प्राप्त कर सकता है। अत: सामाजिक गतिशीलता को निर्धारित करने में पाठ्यक्रम, मापदण्ड के रूप में कार्य करता है। आधुनिक युग में पाठ्यक्रम की विभिन्नता ने सामाजिक गतिशीलता को बहुत बढ़ावा दिया है।

विशिष्ट क्षेत्रों की उच्च शिक्षा (Higher Education is Specialized Areas) विशिष्ट क्षेत्रों की उच्च शिक्षा भी सामाजिक गतिशीलता को प्रभावित करती है; क्योंकि जो छात्र किसी विशिष्ट क्षेत्र में उच्च शिक्षा प्राप्त कर लेते हैं, उसने उस क्षेत्र में उच्च पद प्राप्त करने

की सम्भावना बढ़ जाती है।

विशिष्ट कॉलेज या विश्वविद्यालय का महत्त्व (Importance of Particular College or University) किसी विशिष्ट कॉलेज या विश्वविद्यालय द्वारा भी सामाजिक गतिशीलता को प्रभावित किया जाता है। कुछ कॉलेज या विश्वविद्यालयों को अन्य की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। ऐसे कॉलेजों से शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्रों को उच्च सामाजिक पद शीघ्रता से प्राप्त हो जाते हैं; उदाहरणार्थ, इलाहबाद विश्वविद्यालय से शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्रों को आगरा विश्वविद्यालय के छात्रों की अपेक्षा सुविधा से उच्च सामाजिक पद प्राप्त हो जाते हैं। आज भी विश्व में इंगलैंड के ऑक्सफोर्ड तथा केम्ब्रिज विश्वविद्यालयों के छात्रों को वरीयता प्राप्त है।

शिक्षकों की सामाजिक गतिशीलता (Teacher's Social Mobility) शिक्षक अपने सामाजिक पद को शैक्षिक समूहों के अन्तर्गत प्राप्त कर सकते हैं। शैक्षिक समूहों के अन्तर्गत विद्यालय शिक्षक, प्रवक्ता, वरिष्ठ प्रवक्ता, रीडर, प्रोफेसर, प्रिंसीपल, उपकुलपति आदि पद आते हैं। शिक्षक इन्हीं पदों में से किसी पद को प्राप्त करके अपनी प्रतिष्ठा को उच्च कर सकता है। परन्तु अन्य व्यावसायिक पदों की तुलना में आज शिक्षक का पद ऊँचा नहीं माना जाता है। इस परिवर्तित स्थिति के निम्नलिखित कारण है—

- छात्रों की बढ़ती हुई संख्या।
- शिक्षा का विस्तार।
- छात्रों की अनुशासनहीनता।
- अन्य पदों की अपेक्षा कम वेतन।
- दूसरे क्षेत्रों में उच्च पद प्राप्त करने के अवसर।
- सामाजिक प्रतिष्ठा एवं सम्मान का अभाव।

शिक्षा व अधोमुखी गतिशीलता

Education and Downward Mobility

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, शिक्षा उपरिमुखी गतिशीलता (Upward Mobility) को बढ़ावा देती है। परन्तु शिक्षा के अभाव में अधोमुखी गतिशीलता (Downward Mobility) को भी जन्म मिलता है। जो व्यक्ति उचित शिक्षा प्राप्त नहीं कर पाते हैं, उनकी गतिशीलता नीचे की ओर उन्मुख हो जाती है। इस दृष्टि से शिक्षाविहीन बालक चाहे वे उच्च वर्ग से या मध्यम वर्ग से सम्बन्धित हो, उच्च पद प्राप्त करने में असमर्थ रह जाते हैं और उनकी गतिशीलता नीचे की ओर हो जाती है। तथा उनके द्वारा रिक्त किये गये स्थानों को निम्न वर्ग के शिक्षित बालक ग्रहण कर लेते हैं। भारतीय समाज में आज अधोमुखी गतिशीलता पर्याप्त मात्रा में देखने को मिल रही है।

सामाजिक गतिशीलता के गुण व दोष
Merits and Demerits of Social Mobility

सामाजिक गतिशीलता के गुण (Merits of Social Mobility)

- समाज में उचित स्थान या पद पर उचित व्यक्ति की नियुक्ति।
- व्यक्ति का सामंजस्यपूर्ण विकास।
- सामाजिक स्थिरता (Social Stability)।
- कुसमायोजन की समस्या का समाधान।
- सामाजिक प्रगति तथा सामाजिक कुशलता में वृद्धि।
- सन्तोष एवं समृद्धि को प्रोत्साहन।
- राष्ट्र की दृढ़ता एवं समृद्धि में वृद्धि।
- राष्ट्र की जन-शक्ति (Man Power) में वृद्धि।

सामाजिक गतिशीलता के दोष (Demerits of Social Mobility)

- व्यक्ति की अहम् भावना का विकास।
- व्यक्ति की अपनी सामाजिक स्थिति से सदैव असन्तुष्ट रहना।

- व्यक्ति में व्यर्थ का दम्भ उत्पन्न होना।
- नगरीय एवं ग्रामीण समाजों में अव्यवस्था एवं विघटन।

पूर्वाग्रह (Prejudice)

प्रायः समाज में दो प्रकार की प्रक्रियाएँ प्रमुख रूप से दिखाई पड़ती हैं–

(अ) सहयोग (Cooperation) तथा

(ब) प्रतियोगिता या विरोध (Competition or Opposition)।

बालक अपने जन्म से लेकर आगे तक ज्यो-त्यों बड़ा होता जाता है उसे कुछ व्यक्ति प्रिय, सम्पर्क-योग्य प्रतीत होने लगते हैं और इसके विपरीत कुछ अप्रिय, कटु एवं असम्पर्क-योग्य प्रतीत होने लगते हैं। इसका कारण यह है कि बालक उनको प्रिय या रुचिकर मानता है जो उसकी प्रेरणाओं की संतुष्टि में सहायक होते हैं; जो इसमें बाधक होते हैं, वह उनको अप्रिय एवं कटु मानता है। उनके लिये उसमें अप्रिय मनोवृत्ति विकसित हो जाती है।

बालक का जीवन मात्र परिवार तक ही सीमित नहीं रहता है। वह बड़ा होकर समाज के परिवेश में रहने लगता है। वह जिस समाज में रहने लगता है उसके विचार आदर्श, मूल्य, लोकाचार, परम्परा आदि का उस पर गहरा प्रभाव पड़ने लगता है। वह समाज के किसी विशेष अंग से आत्मानुकूलता (Indentification) की अनुभूति करने लगता है। यह आत्मानुकूलता उसकी मानसिकता का निर्माण करती है। यह अनुकूलता या प्रतिकूल धारणा पूर्वाग्रह के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है।

पूर्वाग्रह का अर्थ (Meaning of Prejustice) : पूर्वाग्रह का अर्थ है–पूर्व निर्णय (Prejudgement)। किसी व्यक्ति या विषय के प्रति पहले से ही अनुकूल या प्रतिकूल धारणा या निर्णय बना लेना ही पूर्वाग्रह है। चाहे यह धारणा तार्किक हो या नहीं हो। व्यक्तिगत या जातीय अभिरुचि के कारण पूर्वाग्रह व्यक्ति के विवेक को सुला देता है

और कभी-कभी तो घातक, विद्रोही तथा हिंसक रूप धारण कर लेता है जिसकी अभिव्यक्ति झगड़ों तथा अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों में होती है।

आगबर्न (Ogburn) के अनुसार पूर्वाग्रह ऐसे निर्णयों से बनता है जो निराधार तथा जल्दबाजी में लिये जाते हैं। परन्तु पूर्वाग्रह एक निराधार या जल्दबाजी से भरा निर्णय नहीं होता है वरन् उसमें पुष्ट भावनाएँ भी निहित होती है जो किसी उत्तेजक परिस्थिति में व्यक्ति की अनुकूल या प्रतिकूल, शान्त या विस्फोटक प्रतिक्रिया का नियंत्रण करती है।

किम्बल यंग (Kimball Young) के अनुसार पूर्वाग्रह पौराणिक कथाओं के संगठन से निर्मित होते हैं जिसके आधार पर किसी व्यक्ति या जनसमूह को एक विशेष संज्ञा, प्रकार या वर्ग का माना जाता है।

पूर्वाग्रह उन मनोवृत्तियों तथा विश्वासों से बनता है जो पूर्वधारणा-केन्द्रित व्यक्ति या जाति को हानिकारक परिस्थिति में डाल दें या लाभकारी परिस्थिति का कारण बन जायें। पूर्वाग्रह का विषय कभी-कभी निम्न कोटि का, हेय, पतित तथा असहवास-योग्य समझा जाता है। पूर्वाग्रह व्यक्तिगत तथा जातीय दो प्रकार का होता है। परन्तु दोनों की पृष्ठभूमि में समान प्रेरणाएँ या मानसिक क्रियाएँ कार्य करती हैं।

पूर्वाग्रहों का विकास— पूर्वाग्रहों के निर्माण में कुछ ऐतिहासिक, राजनैतिक, भौगोलिक, वैधानिक तथा आर्थिक कारण कार्य करते हैं। उदाहरणार्थ—अमेरिका में श्वेत तथा हब्शी पूर्वाग्रह क्यों है? सम्भवतः इसका उत्तर कुछ सीमा तक ऐतिहासिक घटनाएँ प्रदान करती हैं। प्रारम्भ में अमेरिकन हब्शी लोगों को पकड़कर लाते थे और उनसे दासों की भाँति अपने खेतों की जुताई, बुवाई आदि का कार्य करवाते थे। इस प्रकार अमेरिकन आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से हब्शियों को हेय दृष्टि से देखने लगे। इसके विपरीत हब्शी वर्ग अमेरिकनों को क्रूर और अत्याचारी मानने लगा। इस प्रकार उनमें पूर्वाग्रह का विकास हो गया।

यद्यपि ऐतिहासिक घटनाएँ पूर्वाग्रहों के निर्माण तथा विकास में योगदान देती हैं परन्तु ऐतिहासिक विश्लेषण पूर्वाग्रह की पूर्ण व्याख्या

नहीं कर पाता। इनके निर्माण एवं विकास में विभिन्न प्रेरणाएँ तथा आवश्यकताओं की संतुष्टि महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। इनका विवेचन इस प्रकार है–

असामान्य व्यक्तित्व (Abnormal Personality) : असामान्य या मानसिक दृष्टि से रुग्ण व्यक्ति अपने असामाजिक एवं हिंसक व्यवहार का पूर्वाग्रहों के माध्यम से विवेकीकरण (Rationalization) कर लेता है। उदाहरणार्थ–मुसलमान अपनी हिंसक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति हिन्दुओं की लूटमार करके करता है। यदि उससे पूछा जाय कि वह ऐसा क्यों करता है तो सम्भवतः वह ऐसा कहेगा कि हिन्दू काफिर है उनके साथ ऐसा व्यवहार करना चाहिए। इस प्रकार असामान्य अबौद्धिक व्यवहार पूर्वाग्रह के आधार पर बुद्धिपरक प्रतीत होने लगता है।

हताश आवश्यकताओं की संतुष्टि (Satisfaction of Frustrated NeeosQ): व्यक्ति में कुछ सहज आवश्यकताएँ होती हैं, जैसे भूख, प्यास, विश्राम, काम आदि की आवश्यकताएँ। यदि इनमें से कोई भी आवश्यकता असंतुष्ट अवस्था में रहती है तो व्यक्ति हताश हो उठता है और उसमें प्रतिहिंसा की ज्वाला फूट उठती है जिससे व्यक्ति को तात्कालिक शान्ति की अनुभूति होती है। कभी-कभी संकलित अचेतन प्रवृत्तियाँ किसी जाति विशेष पर केन्द्रित हो जाती है और इस प्रकार की मनोवृत्तियों और विश्वासों को उत्पन्न कर देती है जो बाद में जातीय या व्यक्तिगत पूर्वाग्रह का रूप ले लेती हैं।

आत्म (स्व) की रक्षा (Defence of the Self) : प्रत्येक व्यक्ति अपने को अन्य व्यक्तियों से उत्कृष्ट दर्शाना चाहता है। परन्तु इस प्रकार की उत्कृष्टता की चाह (Feeling of Superiority) अपनी प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति परोक्ष रूप से अन्तर्जातीय पूर्वाग्रहों द्वारा हो जाती है। उदाहरणार्थ–जर्मन जाति अपने को ज्यू जाति से अधिक उत्कृष्ट, सशक्त, साहसी तथा बुद्धिमान मानती है। इस प्रकार इस पूर्वाग्रह की पृष्ठभूमि में उनकी उत्कृष्टता की चाह की सन्तुष्टि हो रही है।

समाज के साथ अनुरूपता की चाह (Conformity with

Society) : बालक जिस समाज में विकसित होता है उसमें कुछ रीति-रिवाज, आदर्श, प्रचलन, नैतिक नियम तथा अन्धविश्वास होते हैं। बालक की माता तथा अन्य पारिवारिक सदस्य उसको विशेष परिस्थितियों में विशेष प्रकार से व्यवहार करना सिखाते हैं। बालक अपने चारों ओर के सामाजिक परिवेश के प्रचलित आदर्शों तथा सम्भवत: अन्धविश्वासों को ग्रहण कर लेता है। इनसे उसमें पूर्वाग्रहों को जन्म मिल जाता है। उदाहरणार्थ ब्राह्मण परिवार में प्रारम्भ से बालक को यह सिखाया जाता है कि वह शूद्रों का स्पर्श न करें, माँस भक्षण न करें, यज्ञ करें और करवायें आदि। ये विश्वास एवं विचार आगे चलकर पूर्वाग्रहों का रूप ले लेते हैं। अत: अनेक पूर्वाग्रहों की उत्पत्ति इसीलिये हो जाती है कि मनुष्य चाहता है कि वह समाज के अनुकूल व्यवहार करे।

पूर्वाग्रहों को सीखना : पूर्वाग्रहों की उत्पत्ति सीखने या अधिगम द्वारा होती है। इनके निर्माण या विकास में सीखने के दो पक्ष कार्य करते हैं। प्रथम-सामान्यीकरण (Generalization) तथा द्वितीय-विभेद (Disecrimination)। पूर्वाग्रहों की पृष्ठभूमि में सामान्यीकरण की भ्रान्ति क्रिया कार्य करती रहती है। अमेरिकनों को हब्शी अपने से बिलकुल भिन्न प्रतीत होते हैं। उनके रीतिरिवाज, आचरण, रूप-रंग आदि उनको अपने से पूर्ण रूप से भिन्न प्रतीत होते हैं। यह दोनों जातियों में पाया जाने वाला तीक्ष्ण भेद पूर्वाग्रहों की पुष्टि करता है।

पूर्वाग्रहों के निर्माण में सामाजिक परिवेश में रहने वाले व्यक्तियों– साथी, शिक्षक, माता-पिता, पड़ोसी आदि के विश्वासों तथा मनोवृत्तियों की गहन छाप पड़ती है। बहुधा पूर्वाग्रहों का विकास तथा प्रसार इस कारण हो जाता है कि हम एक दूसरे की बातचीत से कुछ ऐसे भ्रमात्मक विश्वासों को ग्रहण कर लेते हैं जो कि नितान्त पूर्वाग्रह का रूप ले लेते हैं।

पूर्वाग्रह के निर्माण में शिक्षक का भी विशेष स्थान है। बालक के लिये उसका शिक्षक आदर्श रूप होता है और इसीलिये बालक के मन पर शिक्षक के भाव तथा विचारों का गहन प्रभाव पड़ता है। इसीलिए

आवश्यक है कि शिक्षक वर्ग स्वयं को जिस सीमा तक पूर्वाग्रहों से मुक्त कर लेगा, उसी सीमा तक उसके शिष्य भी पूर्वाग्रहों से मुक्त हो सकेंगे।

जातीय पूर्वाग्रह वह शक्ति है जो संसार के विनाश का मुख्य कारण है। अत: हमें इससे छुटकारा पाने के लिये शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति के दृष्टिकोण को बदलना होगा। दृष्टिकोण में परिवर्तन लाकर शिक्षा स्वयं को सच्ची शिक्षा कहलाने की अधिकारिणी होगी। साथ ही पूर्वाग्रहों के निर्माण को रोक सकेगी।

पूर्वाग्रह के भेद
KinosQ of Prejudices

जातीय पूर्वाग्रह– ये पूर्वाग्रह जातीय भेद तथा जातियों के भेद के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं।

धर्म पर आधारित पूर्वाग्रह– ये धार्मिक विश्वासों के अन्तर तथा विरोध के कारण उत्पन्न होते हैं।

भाषा पर आधारित पूर्वाग्रह– ये भाषायी विरोध के कारण उत्पन्न होते हैं।

सांस्कृतिक पूर्वाग्रह– प्रत्येक संस्कृति अपनाने वाले व्यक्ति अपनी ही संस्कृति को श्रेष्ठ मानते हैं और अन्य संस्कृतियों को हेय समझते हैं। ये विचार सांस्कृतिक रुचियों आदि की भिन्नता के कारण भी पूर्वाग्रह उत्पन्न होते हैं।

भारत में सामाजिक स्तरीकरण
Social Stratification in India

कोई भी समाज वर्ग-विहीन या अस्तरीय नहीं है। आदिकालीन समुदायों में भले ही आधुनिक वर्ग व्यवस्था न हो वरन् उनमें भी आयु, यौन व रक्त सम्बन्धों की विभिन्नता के आधार पर सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था पायी जाती थी। वहाँ बहादुरी, कप्तानी, गोत्र, पारिवारिक सम्पत्ति आदि के आधार पर स्तरीकरण पाया जाता है। स्तरीकरण व्यक्तियों का एक-दूसरे के सम्बन्ध में ऊँचा या नीचा स्थान है। दूसरे

शब्दों में, यह व्यक्तियों का एक दूसरे के सम्बन्ध में ऊँचा या नीचा स्थान है। दूसरे शब्दो में यह व्यक्तियों का विभाजन है। यह समाज को उच्च तथा निम्न सामाजिक इकाइयों में विभक्त करने का कार्य करती है। भारतीय समाज में इस दृष्टि से तीन सामाजिक वर्ग–उच्च, मध्य तथा निम्न पाये जाते हैं।

सामाजिक स्तरीकरण के आधार–सामाजिक स्तरीकरण के निम्नलिखित आधार हैं–

आयु– इसके आधार पर भारतीय समाज में उच्चता तथा निम्नता के भाव देखने को मिलते हैं। ग्रामीण समाजों में कम आयु के व्यक्ति को अधीनता की स्थिति प्राप्त होती है। वृद्धों का हुक्का समूह वहाँ सामाजिक नियन्त्रण का अधिकारी समूह माना जाता है।

यौन– इस आधार पर पितृ-सत्तात्मक तथा मातृ-सत्तात्मक परिवारों को जन्म मिला। भारतीय समाज में पुरुष की प्रधानता देखने को मिलती है। यहाँ पुत्र को सम्पत्ति का अधिकारी माना जाता था। पुत्री को सम्पत्ति में अधिकार प्राप्त नहीं था। आधुनिक युग में पुत्री को भी सम्पत्ति का अधिकार प्रदान किया गया है। व्यक्ति की सामाजिक स्थिति का निर्धारण इस आधार पर होता था।

आर्थिक स्थिति– सामाजिक वर्गों के निर्माण में आर्थिक स्थिति की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही हैं। इसके आधार पर भारतीय समाज में पूँजीपति एवं श्रमिक, जमींदार, एवं कृषक, भूमिधर एवं भूमिहीन आदि वर्ग देखने को आज भी मिलते हैं। यद्यपि भारत सरकार ने जमींदारी प्रथा को समाप्त कर दिया है। परन्तु जमींदारों की प्रतिष्ठा में अभी कोई खास अन्तर नहीं आया है।

व्यवसाय– सामाजिक स्तरीकरण में व्यवसाय की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। हमारे समाज में प्रशासकीय, इंजीनियरिंग, डाक्टरी आदि व्यवसायों को अन्य व्यवसायों की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण माना जाता है। समाज के विभिन्न लोग इन व्यवसायों से सम्बन्धित लोगों के साथ अपनी लड़की की शादी करने के लिए लालायित रहते हैं। अब से कुछ

समय पूर्व शिक्षण-व्यवसाय से सम्बन्धित लोगों की भारतीय समाज में हीन दशा थी। यहाँ तक कि लोग उनको अपनी लड़की देना पसन्द नहीं करते थे जबकि शिक्षकों को राष्ट्र निर्माता, मनुष्य-निर्माता आदि अलंकरणों से विभूषित किया जाता था।

जाति– प्राचीन काल में भारतीय समाज में चार वर्ण–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र थे। धीरे-धीरे इस व्यवस्था में परिवर्तन हो गया। यह व्यवस्था जन्म तथा व्यवसाय पर आधारित जातियों में विघटित हो गई। जातियाँ प्रतिष्ठा समूह (Status Groupings) हैं। ये वंश-परम्परागत आधार पर विभक्त है। इनमें सामाजिक गतिशीलता के अवसर कम हैं। इनके कारण भारतीय समाज एक बन्द समाज (Closed Society) हो गया है।

अन्त में, हम मुसग्रेव के शब्दों में कह सकते हैं–"विद्यालय, बालक में अत्यधिक आर्थिक महत्त्वाकांक्षा विकसित कर सकता है। इसी प्रकार, वह सामाजिक गतिशीलता के लिए अत्यधिक महत्त्वाकांक्षा को संचालित कर सकता है।"

समाजीकरण

सामाजीकरण का अर्थ व परिभाषा

Meaning and Definition of Socialization

सामाजीकरण का अर्थ : जन्म के समय बच्चा असन्तुलित गतियों का एक समूह होता है जो जैविक जीवन-शक्ति से संघर्ष करते हुए, प्रौढ़ों की सहायता से जीवित रहने की चेष्टा करता है अथवा नष्ट होने के लिए बाध्य है। यह जैविक अनिवार्यता मानव-शिशुओं के उन्नयनकृत समाजीकरण में प्रतिबिम्बित होती है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जो अस्तित्व के लिये जैविक संघर्ष के शब्दों में किसी परिभाषा को स्वीकार नहीं करती, वरन् अन्तिम विश्लेषण में नैतिक एवं सामाजिक अवधारणाओं में, जीवन के उच्च गुणों में स्पष्टीकरण प्राप्त करती है।

यह भी निश्चित है कि शिशु यदि मानवीय प्रभावों से पृथक जानवरों द्वारा या उनके बीच पोषित किया जाय तो स्वयं वह मानवीय

तौर-तरीकों को विकसित नहीं कर सकता है। यहाँ तक कि वह पैर पर सीधे खड़े होकर चलना भी मानव-समूह में ही सीखता है। फलतः व्यापक रूप से सभी मानवीय जानकारी सामाजीकरण की प्रक्रिया का एक अंग मानी जाती है।

व्यक्ति अपने जन्म के समय से ही सामाजिक नहीं होता है। उस समय वह केवल पशु होता है। समाज ही उसे मानव बनाता है। समाज की संस्थाएँ और समितियाँ उसका समाजीकरण करती हैं। इस प्रक्रिया के कारण ही वह सामाजिक प्राणी बनता है। इसके अभाव में उसका सामाजीकरण नहीं हो सकता है। अवेरान (Averon) का जंगली लड़का और अन्ना (Anna) नामक बालिका इसके उदाहरण हैं। समाज से अलग रहने के कारण उनका सामाजिकरण न हो सका। अवेरान का जंगली लड़का तो कभी भी मानव न बन सका, पर अन्ना का धीरे-धीरे सामाजीकरण हो गया। सारांश यह है कि समाज में रहकर व्यक्ति कुछ आदतों, विश्वासों, अभिवृत्तियों आदि को सीखता है। सीखने की इसी प्रक्रिया को 'समाजीकरण' कहते हैं। दूसरे शब्दों में, यह कह सकते हैं कि सामाजीकरण, मानव-समाज की स्वाभाविक और एकीकरण करने वालों की सामाजिक प्रक्रिया है।

सामाजीकरण की परिभाषा (Definition of Socialization) : हम सामाजीकरण के अर्थ को और अधिक स्पष्ट करने के लिए नीचे कुछ परिभाषाएँ दे रहे हैं।

हैरी एम. जॉनसन– "सामाजीकरण सीखने की वह प्रक्रिया है जो सीखने वाले को सामाजिक भूमिकाओं (Role) का निर्वाह करने योग्य बनाती है।"

वाटसन–"सामाजीकरण एक सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है।"

सोरोकिन–"सामाजीकरण सांस्कृतिक तथा वैचारिक कारकों के अन्तरीकरण की प्रक्रिया है।"

ड्रेवर–"सामाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने सामाजिक वातावरण से समायोजन करता है और सामाजिक मान्यता प्राप्त करके वह समाज का मान्य, सहयोगी तथा कुशल सदस्य बनता है।"

किम्बल यंग–"सामाजीकरण का अर्थ यह है कि व्यक्ति जनरीतियों, रूढ़ियों, कानूनों, अपनी संस्कृति की अन्य विशेषताओं तथा अन्य आदतों को सीखता है, जो समाज का क्रियाशील सदस्य बनने में सहायता देती है। वह अपने आपको परिवार, पड़ोस और वर्ग के अनुकूल बनाना सीखता है। सारांश में, सामाजीकरण की सम्पूर्ण, प्रक्रिया, अन्त:क्रिया या सामाजिक कार्य के अन्तर्गत आती है।"

सामाजीकरण का सिद्धान्त
Principles of Socialization

सामाजीकरण के प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं–

व्यवहारवादी परस्पर क्रियावादी सिद्धान्त (Behaviouristic Interactionistic School of Socialization) : इस सिद्धान्त का प्रतिपादन जार्ज सी. होम्स (George C. Homes) ने किया था। होम्स का मत है कि हमारी इसमें रुचि नहीं है कि मानव कैसे सीखता है? क्या सीखता है? हमारी इसमें रुचि है कि सीखने के बाद वह क्या करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रशिक्षण के फलस्वरूप व्यक्ति में होने वाले व्यवहार परिवर्तन को सामाजीकरण कहा जाता है। यह सामाजीकरण किस प्रकार होता है? इसमें उसकी प्रक्रिया का अध्ययन नहीं किया जाता है। इस कारण यह सिद्धान्त अपूर्ण है।

प्रतीकात्मक व्यक्तिपरक सिद्धान्त (Symbolic Subjectivistic School of Socialization) : इस सिद्धान्त का प्रतिपादन सोरोकिन (Sorokin), जार्ज मीड (Gorge Mead), कूले (Cooley) आदि के द्वारा किया गया। इस सिद्धान्त के अनुसार सामाजीकरण मूल्यों को आत्मसात करने या सांस्कृतिक अर्थों, प्रतिमानों, आदतों आदि का संचरण करने की प्रक्रिया है जिसके फलस्वरूप मनुष्य को सामाजिक प्राणी के

रूप में परिवर्तित किया जाता है।

प्रतीकात्मक-परस्पर क्रियात्मक सिद्धान्त (Symbolic-Interactionistic School of Socialization) : इस सिद्धान्त का प्रतिपादन मर्टन (Murton), टालकोट पारसन्स (Talcot Parsons) आदि ने किया था। इस सिद्धान्त के अनुसार सामाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति तथा सामाजिक परिस्थितियों के बीच पारस्परिक क्रिया चलती है जिसके फलस्वरूप मनुष्य समाज समस्त मूल्यों तथा दक्षताओं को अपने व्यक्तित्व का अंग बना लेता है। आजकल यही सिद्धान्त अधिक प्रचलित है।

बालक का सामाजीकरण करने वाले तत्त्व
Factors Leading to the Socialization of the Child

बालक के संस्कृतीकरण को ही सामाजीकरण कहा जाता है। अत: हम कह सकते हैं कि सांस्कृति के विभिन्न रूप बालक के सामाजिक विकास को प्रभावित करते हैं। बालक के सामाजिकता का विकास करने या उनके सामाजीकरण में सहायता देने वाले प्रमुख साधन या तत्त्व निम्नांकित हैं–

परिवार (Family) : किम्बल यंग का कथन है:–"समाज के अन्दर सामाजीकरण के विभिन्न साधनों में 'परिवार' सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।"

कुछ विद्वानों ने 'परिवार को सामाजीकरण का सबसे अधिक स्थायी साधन' माना है। व्यक्ति आजीवन परिवार में रहता है। उसके सभी सदस्यों से उसके सम्बन्ध होते हैं। ये सम्बन्ध, व्यक्ति के सामाजीकरण को स्थायी रूप से प्रभावित करते हैं। बालक के सामाजीकरण में उसके माता-पिता का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। यदि उनका पारस्परिक व्यवहार ठीक है, तो बच्चे का सामाजीकरण ठीक ढंग से हो जाता है। यही बात बच्चे के प्रति माता-पिता के सम्बन्ध के बारे में कही जा सकती है। यदि बच्चे को उनका प्रेम प्राप्त है, तो उसका

सामाजीकरण शान्तिमय रीति से होता है, अन्यथा नहीं।

माता-पिता से कहीं अधिक भाई-बहिन, भाई-भाई या बहिन-बहिन एक-दूसरे के सामाजिक विकास पर प्रभाव डालते हैं। सबसे बड़ा लड़का या लड़की अपने छोटे भाई-बहिनों के प्रति अपने कुछ उत्तरदायित्व समझने लगता है। वह नेता के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है; फलत: उसमें नेता क गुणों का विकास होने लगता है। उसके छोटे भाई-बहिन उनकी आज्ञा का पालन करते हैं।

बच्चे पर उसके सम्बन्धियों का भी प्रभाव पड़ता है। जो बच्चे, बचपन में ही अपने माता या पिता या दोनों को खो बैठते हैं और उनका पालन-पोषण उनके सम्बन्धियों द्वारा किया जाता है, उनका सामाजिक विकास उचित दिशा में नहीं होता है। इस प्रकार का बच्चा अपने सम्बन्धियों के पास एक अनाथ बच्चे के रूप में रहता है और उसके साथ वैसा व्यवहार नहीं किया जाता, जैसा कि सम्बन्धी अपने बच्चों के साथ करते हैं। समय-समय पर उसे डाँट या मार भी खानी पड़ती है। इसलिए उसका विकास कुण्ठित हो जाता है और उसका व्यक्तित्व विकृत हो जाता है।

परिवार की आर्थिक व सामाजिक स्थिति (Economic and Social Conditions of the Family) : परिवार की आर्थिक और सामाजिक स्थिति का भी बच्चे पर प्रभाव पड़ता है। इस सम्बन्ध में प्लाण्ट (J.S. Plant) ने कुछ महत्त्वपूर्ण अध्ययन किये हैं। उनके आधार पर वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि यदि परिवार आर्थिक संकट में होता है, तो बच्चे में सहनशीलता आदि गुणों का विकास होता है। बड़े होने पर ऐसे बच्चे धन जमा करने में बहुत सुख और सन्तोष का अनुभव करते हैं। इन बच्चों में आत्महीनता की भावना का उदय हो जाता है, और वे दूसरों की अपेक्षा अपने को हीन समझने लगते हैं।

शैवियाकोव (Sheciakov) के मतानुसार-इन बच्चों में आत्म-विश्वास का अभाव होता है। उन्हें किसी भी सामाजिक कार्य का उत्तरदायित्व लेने में संकोच होता है। पर यह आवश्यक नहीं कि सब

बच्चे ऐसे ही हों। आर्थिक संकट और निम्न सामाजिक स्तर के परिवारों के बालक ही बड़े होकर जाति-भेद, वर्ग-भेद और सामाजिक बुराइयों को दूर करने का बीड़ा उठाते हैं।

स्कूल (School) : परिवार के बाद 'स्कूल' आता है, जहाँ बच्चे का सामाजीकरण होता है। स्कूल ही उसे मानसिक, सामाजिक और संवेगात्मक विकास के लिए प्रेरणा देता है। स्कूल में ही उसे सामाजिक और सांस्कृतिक आदर्शों और मान्यताओं की शिक्षा प्राप्त होती है। बच्चा समझने लगता है कि परिवार की अपेक्षा स्कूल कहीं अधिक विस्तृत समाज है। अन्य बच्चों के सम्पर्क में आने से उनका सामाजीकरण तीव्र गति से होने लगता है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात जो बच्चा स्कूल में सीखता है, वह है 'प्रतियोगिता'। कक्षा में, खेल के मैदान में, परीक्षा में– सभी जगह प्रतियोगिता होती है। बच्चा इस प्रतियोगिता से आगे निकलना चाहता है, भले ही वह दूसरों को हानि पहुँचाकर ऐसा करे। इसका प्रभाव उसके आगामी जीवन पर अच्छा नहीं पड़ता है।

स्कूल में बच्चे को कुछ नियमों का पालन करना पड़ता है। यदि नियम आवश्यकता से अधिक कठोर हैं, तो उनका बच्चे के सामाजीकरण पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता है। यदि स्कूल का अनुशासन अच्छा नहीं है, तो बच्चा अपने व्यवहार पर नियन्त्रण करना नहीं सीख पाता है। बच्चे के सामाजीकरण को निर्देशित करने वाली स्कूल की अन्य बातें हैं–परीक्षाफल, खेलों में प्रसिद्धि, आर्थिक और सामाजिक स्तर, छात्रों की संख्या, शिक्षक और उनकी योग्यता–आदि।

समुदाय या समाज (Community of Society) : समुदाय या समाज बच्चे के सामाजीकरण को विभिन्न रूपों में प्रभावित करता है। सामाजिक मनोवैज्ञानिकों ने इस सम्बन्ध में अनेक प्रयोग किए हैं। उनके आधार पर उन्होंने लिखा है कि समाज विभिन्न रूपों और विभिन्न विधियों से बच्चे के सामाजीकरण पर प्रभाव डालता है।

समाज ऐसा जिन साधनों के द्वारा करता है, वे अग्रलिखित हैं: (1) संस्कृति, कला, साहित्य और इतिहास; (2) धार्मिक कट्टरता या

उदारता; (3) जातीय और राष्ट्रीय प्रथाएँ तथा परम्पराएँ; (4) समाज का आर्थिक और राजनैतिक संगठन; (5) जातीय पूर्वधारणाएँ; (6) वर्ग और वर्ण; (7) सामाजिक प्रथाएँ और परम्पराएँ; (8) शिक्षा के साध न और सुविधाएँ; (9) मनोरंजन के साधन और सुविधाएँ तथा (10) सामाजिक सुविधाएँ।

जाति (Caste) : 'जाति' सामाजीकरण का प्रमुख साधन है। प्रत्येक जाति की अपनी प्रथाएँ, परम्पराएँ और सांस्कृतिक उपलब्धियाँ होती हैं। प्रत्येक बच्चा अपनी जाति के अनुसार ही उन्हें ग्रहण करता है। इसलिए हर एक जाति के बच्चे का सामाजीकरण भिन्न होता है; उदाहरण के लिए–ब्राह्मण बालक का सामाजीकरण का रूप कर्मकार/स्वर्णकार बालक के सामाजीकरण के रूप के बिल्कुल भिन्न होता है। इस प्रकार, जातीय विभेद बच्चे के सामाजीकरण को एक विशेष दिशा प्रदान करते हैं।

पड़ोस (Neighbourhood): बच्चे पर पड़ोस का काफी प्रभाव पड़ता है। इसलिए अच्छे लोग किराये के लिए मकान लेते समय इस बात का आवश्यक रूप से ध्यान रखते हैं कि पड़ोस कैसा है। पड़ोस के बच्चों या बड़ों की संगति में बच्चा बिगड़ भी सकता है और सुधर भी सकता है। वास्तव में, पड़ोस एक प्रकार का बड़ा परिवार होता है। अतः परिवार के समान पड़ोस भी बच्चे के सामाजीकरण में अत्यधिक योग देता है।

समूह (Group) : बच्चे के सामाजीकरण को प्रभावित करने वाले समूह हैं–मित्र, सहपाठी, मनोरंजन के केन्द्र, धार्मिक समूह आदि।

बालक के सामाजीकरण में बाधा डालने वाले तत्त्व
Factors Impeding the Socialization of Child

मैसलो और मिटिलमैन (Childhood Situations) : ये वे परिस्थितियाँ हैं, जिनमें बच्चा अपने को बाल्यकाल में पाता है; जैसे– माता-पिता के प्रेम का अभाव, उनके द्वारा बच्चे की अस्वीकृति, माता-पिता में सदैव कलह, विधवा माँ, पक्षपात, असुरक्षा की भावना,

एकाकीपन, दुःखपूर्ण अनुभव, अनुचित और अन्यायपूर्ण दण्ड।

सांस्कृतिक परिस्थितियाँ (Cultural Situations) : इसके अन्तर्गत ये परिस्थितियाँ आती हैं–संस्कृति विरोधी तत्त्व, धर्म, वर्ग, वर्ण और जाति से सम्बन्धित पूर्वधारणाएँ, दरिद्रता, अत्यधिक बेकारी।

तात्कालिक परिस्थितियाँ (Immediate Situation) : ये परिस्थितियाँ इस प्रकार हैं–स्कूल की शिक्षा, आत्मनिर्भरता का अभाव, शारीरिक हीनता या न्यूनता, निरन्तरता और साथियों की कमी।

सामाजीकरण की प्रक्रिया में शिक्षक की भूमिका (Teacher's Role in the Process of Socialization)

बालक के सामाजीकरण की प्रक्रिया में परिवार के बाद स्कूल और स्कूल में विशेष रूप से शिक्षक आता है। प्रत्येक समाज के कुछ विश्वास, दृष्टिकोण, मान्यताएँ, कुशलताएँ और परम्पराएँ होती हैं, जिनको 'संस्कृति, के नाम से पुकारा जाता है। यह संस्कृति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित की जाती है और समाज के लोगों के आचरण को प्रभावित करती है। शिक्षक का सर्वश्रेष्ठ कार्य है–इस संस्कृति को बालक को प्रदान करना। यदि वह कार्य नहीं करता है, तो बालक का सामाजीकरण नहीं कर सकता है।

शिक्षक, माता-पिता के साथ बालक के चरित्र और व्यक्तित्व का विकास करने में अति महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। फिर भी, शिक्षक और माता-पिता एक-दूसरे से दूर रहते हैं और सम्पर्क में नहीं आते। परिणाम यह होता है कि शिक्षक, बालक की रुचियों, मनोवृत्तियों आदि को नहीं समझ पाता है। इसलिए वह बालक का सामाजीकरण उचित दिशा में करने में असफल होता है। इस प्रकार से यह अति आवश्यक है कि शिक्षक और माता-पिता एक-दूसरे के घनिष्ठ सम्पर्क में रहें और एक ही प्रकार के विश्वासों और दृष्टिकोणों को अपनाकर बालक का उचित दिशा में सामाजीकरण करें।

कक्षा और खेल के मैदान में, साहित्यिक और सांस्कृतिक

क्रियाओं में शिक्षक सामाजिक व्यवहार के आदर्श प्रस्तुत करता है। बालक अपनी अनुकरण की मूल-प्रवृत्ति के कारण शिक्षक के ढंगों, कार्यों, आदतों और रीतियों का अनुकरण करता है। अतः शिक्षक को सदैव सतर्क रहना चाहिए। उसे कोई ऐसा अनुचित कार्य या व्यवहार नहीं करना चाहिए, जिसका बालक के ऊपर गलत प्रभाव पड़े। जो प्रभाव वह बालक पर डालता है, वह बहुत समय तक बना रहता है। अतः उसे अपने कथनों और कार्यों से केवल उन बातों का सुझाव देना चाहिए, जिन पर समाज की स्वीकृति की छाप लगी है।

सारांश में, हम कह सकते हैं कि शिक्षक-बालक के सामाजीकरण को प्रभावित करता है। शिक्षक के स्नेह, पक्षपात, बुरे व्यवहार, दण्ड आदि का सभी बच्चों पर कुछ-न-कुछ प्रभाव पड़ता है और उसका सामाजिक विकास उत्तम या विकृत हो जाता है। हार्ट (F.W. Hart) ने इस सम्बन्ध में परीक्षण किए हैं। यदि शिक्षक, मित्रता और सहयोग में विश्वास करता है, तो बच्चों में भी इन गुणों का विकास होता है। यदि शिक्षक तनिक-तनिक-सी बातों पर बच्चों को दण्ड देता है, तो उनके सामाजीकरण में संकीर्णता आ जाती है। यदि शिक्षक अपने छात्रों के प्रति सहानुभूति रखता है, तो छात्रों का सामाजीकरण सामान्य रूप से होता रहता है।

पाठ्यक्रम

पाठ्यक्रम शिक्षा का एक अभिन्न अंग है। यह शिक्षक को बताता है कि उसे कक्षा-विशेष को क्या और कितना पढ़ाना है। यह जानकारी प्राप्त करके अपने सम्पूर्ण वर्ष के कार्य का उचित विभाजन करता है और विभिन्न विषयों को पढ़ाने की उचित तैयारी करता है। पाठ्यक्रम के अभाव में उसका शिक्षण-कार्य उद्देश्यविहीन और अव्यवस्थित हो जायेगा। शिक्षक के समान छात्रों को भी पाठ्यक्रम से लाभ होता है। वे जान जाते हैं कि उन्हें कितने विषय पढ़ने हैं और किन पुस्तकों का एक-सा होना असम्भव है।

पाठ्यक्रम का अर्थ एवं परिभाषा

(Meaning and Definition Curriculum)

'करीक्युलम' (Curriculum) शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के 'Currere' 'कुर्रेर' शब्द से हुई है, जिसका अर्थ है–दौड़ का मैदान। करीक्युलम शब्द भी बालक की शिक्षा का दौड़ का मैदान बन गया और कोर्स (Course) के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। कोर्स को कुछ लोग आज भी पाठ्यक्रम कहना पसन्द करते हैं और 'करीक्युलम' शब्द का अंग्रेजी में अर्थ-विस्तार हो गया है, उसी प्रकार हिन्दी शब्द 'पाठ्यक्रम' को भी हम व्यापक अर्थ में प्रयुक्त कर सकते हैं।

पाठ्यक्रम की प्राचीन अवधारणा में तथ्यों के ज्ञान की सीमा निश्चित करना सम्मिलित था। बौद्धिक विषयों के अर्थ में पाठ्यक्रम शब्द बहुत समय से प्रचलित था। परन्तु ये विषय पाठ्यक्रम के केवल अंग हैं, सम्पूर्ण पाठ्यक्रम नहीं। इन विषयों की सामग्री को 'अन्तर्वस्तु' (Content) कहा जाता है। कक्षा में शिक्षण की दृष्टि से शिक्षक की सुविधा के लिए जब इस विषय-सामग्री को व्यवस्थित कर लिया जाता है तो उसे हम पाठ्य-विवरण (Syllabus) कहते हैं।

पाठ्यक्रम शब्द का प्रयोग कभी-कभी भ्रमवश 'सिलेबस' के अर्थ में कर दिया जाता है। परन्तु पाठ्य-विवरण पाठ्यक्रम का अंशमात्र है, न कि सम्पूर्ण पाठ्यक्रम। कोर्स, अन्तर्वस्तु, पाठ्य-विवरण आदि शब्द पाठ्यक्रम की अवधारणा को स्पष्ट करने में असमर्थ हैं। स्वयं पाठ्यक्रम शब्द अर्थ-विस्तार के माध्यम से ही आधुनिक अवधारणा को प्रकट कर पाता है। इसीलिए कुछ शिक्षा-शास्त्री पाठ्यक्रम के स्थान पर **'शिक्षा-क्रम'** अथवा **'पाठ्यचर्या'** पद का प्रयोग करना अधिक उपयुक्त मानते हैं।

पाठ्यक्रम की आधुनिक धारणा विस्तृत एवं व्यापक है। इसके अन्तर्गत कक्षा के अन्दर जो भी अनुभव छात्र प्राप्त करता है, वह तो सम्मिलित है ही; साथ ही कक्षा के बाहर का अनुभव भी शामिल है। सभी बौद्धिक विषय, विविध कौशल, अनेकानेक कार्य, पढ़ना-लिखना, शिल्प, खेल-कूद आदि क्रियाकलाप पाठ्यक्रम के क्षेत्र के अन्तर्गत हैं। इसे क्रिया एवं अनुभव के रूप में समझना चाहिए, न कि अर्जित ज्ञान

या संग्रह किए गए तथ्यों के रूप में।

कक्षा, पुस्तकालय, प्रयोगशाला, क्रीड़ा-क्षेत्र और विद्यालय के प्रांगण में प्राप्त किये जाने वाले समस्त अनुभवों को पाठ्यक्रम अपने आँचल में लपेट लेता है और वैयक्तिक एवं सामाजिक क्षेत्रों के सभी उद्योगों, व्यवसायों, कौशल एवं अभिवृत्तियों को अपनी परिधि में समेट लेता है। परन्तु इसका आशय यह नहीं है कि पाठ्यक्रम इतना व्यापक है जितना कि जीवन। जीवन के उद्देश्यों और तदनुसार शैक्षिक उद्देश्यों की प्राप्ति का यह एक साधन है, न कि स्वयं-साध्य। इसी माध्यम से हम जीवन आदर्शों की प्राप्ति का प्रयास करते हैं।

आज पाठ्यक्रम की धारणा न तो अति संकीर्ण होकर विषय-सामग्री या पाठ्य-विवरणों तक सीमित है, और न इतनी व्यापक है कि इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण जीवन आ जाय। इसीलिए जीवन के सम्पूर्ण अनुभवों को पाठ्यक्रम में सम्मिलित नहीं किया जाता। इसके अन्तर्गत वे ही अनुभव शामिल किए जाते हैं, जिन्हें शिक्षक के निर्देशन में छात्र प्राप्त करता है। ऐसे अनुभव प्रायः विद्यालय प्रांगण में, कक्षा के अन्दर, खेल के मैदान में, प्रयोगशाला या कर्मशाला में, पुस्तकालय में अथवा अन्य शैक्षिक कार्यों के माध्यम से प्राप्त होते हैं। हम पाठ्यक्रम के अर्थ को और अधिक स्पष्ट करने के लिए कुछ परिभाषाएँ दे रहे हैं–

कनिंघम–"पाठ्यक्रम शिक्षक के हाथ में एक साधन है, जिससे यह अपने विद्यालय में, अपने उद्देश्य के अनुसार अपने छात्र को कोई भी रूप दे सकता है।"

मुनरो–"पाठ्यक्रम में वे समस्त अनुभव निहित हैं जिनको विद्यालय द्वारा शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उपयोग में लाया जाता है।"

फ्रोबेल–"पाठ्यक्रम को मानव-जाति के सम्पूर्ण ज्ञान तथा अनुभव का सार समझना चाहिए।"

शिक्षा-आयोग–"विद्यालय पाठ्यक्रम अधिगम-अनुभव की वह समग्रता है जो विद्यालयों द्वारा छात्रों को विद्यालय में या उसके बाहर

की बहुमुखी क्रियाओं द्वारा प्रदान की जाती है। ये समस्त क्रियायें विद्यालय के परिनिरीक्षण में संचालित की जाती हैं।"

प्रचलित पाठ्यक्रम के दोष

माध्यमिक शिक्षा आयोग ने प्रचलित पाठ्यक्रम के अधोलिखित दोषों की ओर संकेत किया है–

- वर्तमान पाठ्यक्रम संकुचित दृष्टिकोण रखता है। इसको मुख्यत: शिक्षा-संस्थाओं में प्रवेश पाने की आवश्यकता की पूर्ति के रूप में ही अनुभूत किया गया है। यही स्थिति अभी तक लागू है, जबकि इसके दोषों को दूर करने के लिए समय-समय पर विभिन्न प्रयास किये गये हैं।

- यह पुस्तकीय ज्ञान पर बल देता है, क्योंकि शिक्षा के सभी स्तरों पर पाठ्य-विषय बहुत-कुछ शास्त्रीय एवं सैद्धान्तिक हैं जो मुख्यत: सूक्ष्म विचारों एवं सामान्यीकरण से ही सम्बन्धित हैं।

- प्रत्येक विषय की पाठ्य-वस्तु को बहुत अधिक तथ्यों एवं सूक्ष्म विचारों से लादने की प्रवृत्ति प्रचलित है। प्राय: ये तथ्य बहुत ही कम महत्त्व के हैं जो स्मरण-शक्ति पर अवांछनीय भार डालते हैं।

- हमारे पाठ्यक्रम बनाने वालों ने 'विशेषज्ञ' के दृष्टिकोण को ग्रहण करके सामान्यत: क्षति उठायी है। इस दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप उन्होंने पाठ्यक्रम एवं पाठ्य-पुस्तकों में अपनी विषय-वस्तु को अधिकाधिक रखने का प्रयास किया और सीखने वालों की आवश्यकताओं, मनोविज्ञान एवं रुचियों की अपेक्षा विषयों के तर्कसंगत एवं वैज्ञानिक तथ्यों पर अधिक ध्यान दिया है।

- यह वैयक्तिक विभिन्नताओं से मेल नहीं खाता है। किशोरावस्था में छात्रों में विभिन्न वैयक्तिक अभिरुचियाँ, तथा अभिवृत्तियाँ तथा विशेष दृष्टिकोण विकसित होते हैं परन्तु वर्तमान पाठ्यक्रम शायद ही वैयक्तिक विभिन्नताओं की ओर ध्यान देता है।

- वर्तमान पाठ्यक्रम परीक्षाओं द्वारा अधिकृत है–यह प्रतिदिन

के अनुभव का विषय है। इसके लिए शिक्षक, माता-पिता तथा बालक सभी प्रमाण प्रस्तुत कर सकते हैं, क्योंकि वे सभी इसके भार से दबे हुए हैं।

- वर्तमान पाठ्यक्रम में तकनीकी तथा व्यावसायिक विषयों अपेक्षाकृत कम स्थान दिया गया है।

- अन्ततः पाठ्यक्रम वास्तविक जीवन से पूर्णतः सम्बन्धित नहीं है। इसीलिए यह बालकों को जीवन के लिए तैयार करने में असफल रहा है। यह बालकों को बाह्य विश्व को समझने की सूझ-बूझ नहीं दे पाता है जिसमें उनको विद्यालय-जीवन के पश्चात् प्रवेश करना है।

शिक्षा-आयोग के विद्यालय-पाठ्यक्रम सम्बन्धी विचार

आयोग का विचार है कि विद्यालय-पाठ्यक्रम सम्पूर्ण विश्व में परिवर्तनशीलता की स्थिति में है। विकसित देशों में भी उसकी आलोचना की जाती है। सामान्यतः इसके विपक्ष में कहा जाता है कि विद्यालय-पाठ्यक्रम अनुपयुक्त एवं प्रचलित स्थितियों के विपरीत है और वह आधुनिक समय की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करता है। संयुक्त राज्य अमरीका में, जो कि शैक्षिक रूप से विकसित है, परम्परागत पाठ्यक्रम को प्रगतिशील शिक्षा के प्रभाव के फलस्वरूप परिवर्तित कर दिया गया। परन्तु आज पुनः बहुत-से विद्वानों तथा विश्वविद्यालयों के प्रतिभाशाली शिक्षकों ने विद्यालय-शिक्षा के पाठ्यक्रम में सुधार लाने के लिए आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया है। पाठ्यक्रम से सम्बन्धित इस असन्तोष के बहुत-से कारण हैं, उनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं-

आधुनिक वर्षों में ज्ञान के विषय तथा भौतिक, जैविक एवं सामाजिक विज्ञानों की मूलभूत धारणाओं के पुनर्निर्माण के परिणामस्वरूप प्रचलित पाठ्यक्रम में बहुत-से दोष आ गये हैं।

शिक्षा-जगत में विभिन्न नवीन विचारधाराओं के परिणामस्वरूप यह माँग की जाने लगी है कि सामान्य माध्यमिक विद्यालयों में प्रदान की जाने वाली शिक्षा की अवधि को बढ़ाया जाय। इसके अतिरिक्त

उसकी (शिक्षा की) प्रकृति को आवश्यकताओं के अनुकूल बनाया जाय।

पिछले कुछ वर्षों से अतिभारित पाठ्यक्रम में कुछ-न-कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य सम्मिलित करने की प्रवृत्ति चल रही थी। इस प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप पाठ्यक्रम और अधिक भारित हो गया। अत: पाठ्यक्रम से इस निरर्थक बोझ को निकाला जाय और इसके स्थान पर गत्यात्मक एवं प्रेरणात्मक तथ्यों को रखा जाये।

राष्ट्रीय पाठ्यक्रम ढाँचा

(National Curiculum Framework)

राष्ट्रीय शिक्षा-नीति, 1986 में राष्ट्रीय पाठ्यक्रम ढाँचे पर एक सामान्य कोर के साथ-साथ अन्य लचीले घटकों पर आधारित एक राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली की परिकल्पना की गई है। राष्ट्रीय शिक्षा-नीति/कार्य-योजना में शिक्षा के लिये बाल-केन्द्रित दृष्टिकोण को अपनाने की परिकल्पना की गयी है। इस परिप्रेक्ष्य में सभी बच्चों के नामांकन को बढ़ावा देने तथा नामांकित किये गये उन सभी बच्चों को 14 वर्ष की आयु तक स्कूलों में रोककर रखने और शिक्षा की कोटि में पर्याप्त सुधार लाने के लिये प्रयास किये जायेंगे। कार्य-योजना, 1992 में इस हेतु निम्नलिखित कदम उठाने पर बल दिया गया है—

(1) पाठ्यक्रम के बोझ को कम करने पर बल दिया जायेगा।

(2) पाठ्यक्रम में संशोधन करने तथा स्कूल प्रणाली में चरणबद्ध ढंग से पाठ्य-पुस्तकें विकसित करने के लिये कदम उठाये जायेंगे।

(3) न्यूनतम शिक्षण स्तर (Minimum Level of Learning-MLL) स्थापित करने के लिये निम्नलिखित कदम उठाये जायेंगे—

न्यूनतम शिक्षण स्तर कार्य नीति में मुख्य ध्यान समग्र आधारित अध्यापन और शिक्षण के विकास पर दिया जायेगा।

मौजूदा स्तरों को जानने के लिये शिक्षण उपलब्धियों का

प्रारम्भिक मूल्यांकन किया जायेगा।

यदि अनिवार्य हुआ, तो स्थानीय उपलब्धियों के अनुकूल बनाने के लिये न्यूनतम शिक्षण स्तरों में संशोधन किया जायेगा।

क्षमता आधारित शिक्षण के लिये शिक्षकों को प्रारम्भिक तथा पुनर्विवेक अनुस्थापन किया जायेगा।

न्यूनतम शिक्षण स्तरों पर आधारि शिक्षण के लिये शिक्षक-प्रशिक्षण पुस्तिकाएँ तैयार की जायेंगी।

छात्रों के सतत् तथा बोधगम्य मूल्यांकन को आरम्भ करना। साथ ही मूल्यांकन परिणामों को उपचारी कार्यवाही के लिये प्रयोग में लाना।

यूनिट परीक्षाएँ तथा अन्य मूल्यांकन सामग्रियाँ तैयार करना।

शैक्षणिक प्रक्रिया को क्रिया-कलाप आधारित और रोचक बनाने के लिये क्षमता आधारित अध्ययन शिक्षण-सामग्रियों का प्रावधान किया जायेगा।

माध्यमिक शिक्षा के स्तर को दो पृथक उप-स्तरों में बाँट दिया गया है। माध्यमिक शिक्षा (कक्ष 10 तक) जो सामान्य शिक्षा का स्तर है और उच्चतर माध्यमिक (कक्षा 11 तथा 12) जो अपनी विशिष्टता तथा विविधता के कारण अलग है। राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली में, जैसा कि राष्ट्रीय शिक्षा-नीति में उल्लेख किया गया है, एक राष्ट्रीय पाठ्यक्रम ढाँचे की आवश्यकता है। माध्यमिक शिक्षा के लिये वह पहले ही तैयार किया जा चुका है। हालाँकि, इसका कार्यान्वयन एक समान नहीं है।

माध्यमिक स्तर के लिये पाठ्यक्रम के संशोधन का काम लगभग सभी राज्य तथा केन्द्र-शासित प्रदेशों में शुरू किया गया था। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान और प्रशिक्षण परिषद ने भी स्कूल शिक्षा के सभी स्तरों के लिये मार्गदर्शी रूपरेखाएँ, पाठ्यक्रमों तथा पाठ्य-पुस्तकों को तैयार किया। तथापि उच्चतर माध्यमिक स्तर के लिये पाठ्यक्रम ढाँचा अभी अधिकृत नहीं किया गया है। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान

और प्रशिक्षण परिषद ने 1988 में एक प्रारूप तैयार कर लिया था परन्तु प्रकाश में आ रहे नये मुद्दों को ध्यान में रखते हुए, उसकी पुनरीक्षा किये जाने की आवश्यकता है। कार्य-योजना 1992 में प्रस्तावित किया गया है कि–

आठवीं योजना में पूरे देश में स्कूल शिक्षा अर्थात् 10 (5+3+2)+2 के एक समान शैक्षिक ढाँचे को नहीं अपनाया जाना सुनिश्चित करने के लिए निम्नलिखित कदम उठाने की परिकल्पना की गयी है–

(i) तात्कालिक कदम के रूप में, जिन राज्यों/संघ-शासित प्रदेशों ने अभी राष्ट्रीय एकरूप शैक्षिक ढाँचे को नहीं अपनाया है उनसे यह सुनिश्चित करने के लिए आग्रह किया जायेगा कि खोले जाने वाले प्रत्येक नये स्कूल में 10 (5+3+2)+2 ढाँचे को अपनाया जाए। जिन राज्यों/संघ-शासित प्रदेशों ने पहले से ही स्कूल प्रणाली में +2 स्तर को लाने की प्रक्रिया शुरू कर दी है उनसे इस सन्दर्भ में प्रयासों को तीव्र करने के लिए कार्य दल का गठन किया जायेगा।

(ii) एक समान ढाँचा अपनाने में आने वाली समस्याओं और कठिनाइयों को दूर करने के लिए राज्यों/संघ-शासित प्रदेशो के शैक्षिक प्राधिकरणों के परामर्श के एक कार्यदल का गठन किया जायेगा।

1988 में राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान और प्रशिक्षण परिषद ने राष्ट्रीय शिक्षा-नीति के पाठ्यक्रम के मुख्य क्षेत्रों सहित प्रमुख लक्ष्यों तथा सिफारिश को ध्यान में रखकर, **"प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यक्रम–एक ढाँचा"** का संशोधित संस्करण निकाला। इसमें शिक्षा की विषय-वस्तु और प्रक्रिया के विभिन्न घटकों को समग्र रूप में तथा माध्यमिक स्तर तक विभिन्न विषय-क्षेत्रों का उल्लेख किया गया है। यह ढाँचा एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा तैयार की गयी विभिन्न विषयों की मार्गदर्शी रूपरेखाओं, पाठ्यक्रमों तथा पाठ्य-पुस्तकों और अन्य शैक्षिक सामग्रियों का आधार है। इस ढाँचे के अनुसार, माध्यमिक शिक्षा जो सामान्य शिक्षा का अन्तिम चरण है, की विषय-वस्तु पाठ्यक्रम के निम्नलिखित क्षेत्रों को ध्यान में रखकर तैयार की गई–

- भाषा (मातृभाषा, हिन्दी, अंग्रेजी)
- गणित
- विज्ञान
- सामाजिक विज्ञान (इतिहास, भूगोल, नागरिकशास्त्र, अर्थशास्त्र)
- कार्य-अनुभव
- कला शिक्षा
- स्वास्थ्य तथा शारीरिक शिक्षा
- मूल्य आधारित शिक्षा
- जनसंख्या शिक्षा।

उच्चतर माध्यमिक (+2) स्तर स्कूल शिक्षा का महत्त्वपूर्ण चरण है क्योंकि इस स्तर के बाद छात्र भविष्य में इंजीनियर, प्रौद्योगिकीविद्, डॉक्टर, शिक्षक बनने के लिए व्यावसायिक पाठ्यक्रमों में प्रतिभागी बनने के लिए अथवा तृतीय चरण पर शैक्षिक कार्यकलाप जारी रखने के लिए पात्रता ग्रहण करता है। इसमें से काफी छात्र कार्य जगत से भी जुड़ जाते हैं। अतः इस स्तर पर ही छात्रों को अलग-अलग विषयों यथा—भौतिकी, रसायनशास्त्र, जीव-विज्ञान, गणित, भूविज्ञान, इतिहास, भूगोल, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, रसायनशास्त्र, दर्शनशास्त्र, मनोविज्ञान, भाषा और कला आदि विषयों की संरचना से अवगत कराया जाना चाहिए।

प्रत्येक विषय की विषय-वस्तु में उस विषय में अद्यतन विकासों को उतनी ही मात्रा में स्थान प्रदान किया जाना चाहिए जितना +2 स्तर के लिए प्रासंगिक हो तथा प्रत्येक विषय की आवश्यक आधार भी प्रदान की जानी चाहिए ताकि इन विषयों के सम्बन्ध में विभिन्न व्यावसायिक पाठ्यक्रमों तथा उनकी आगामी शिक्षा के अन्य क्षेत्रों की आवश्यकताओं को पूरा किया जा सके।

उच्चतर माध्यमिक शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यक्रम ढाँचे को

शीघ्रातिशीघ्र अन्तिम रूप दिया जायेगा। मार्च 1993 के अन्त तक इस काम को पूरा करने के लिए एन.सी.ई.आर.टी. से कहा जायेगा। इस ढाँचे की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता उच्चतर माध्यमिक शिक्षा का सेमेस्टरीकरण होगी। विभिन्न विषय क्षेत्रों में ज्ञानाधार की बढ़ती हुई महत्ता तथ सभी विषयों में मिलने वाली आवश्यक दक्षता को यह ढाँचा परिलक्षित करेगा। 'पाठ्यक्रम ढाँचे' को ध्यान में रखते हुए एन.सी.ई.आर.टी. चरणबद्ध ढंग से मार्गदर्शी रूपरेखाएँ,पाठ्यचर्या और शैक्षिक पैकेज भी विकसित करेगा। आठवीं योजना की समाप्ति से पूर्व नये ढाँचे का कार्यान्वयन शुरू करने के लिए राज्यों/संघ-शासित प्रदेशों के शैक्षिक प्राधिकरणों को सलाह दी जायेगी।[1]

पाठ्यक्रम-निर्माण के सिद्धान्त
(Principles of Curriculum Construction)

उपयोगिता का सिद्धान्त Curriculum : पाठ्यक्रम-निर्माण का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि उनमें जिन विषयों को स्थापन दिया जाय, वे बालक के भावी जीवन के लिए उपयोगी होने चाहिए। इस सम्बन्ध में नन (Nunn) ने लिखा है–*"साधारण मनुष्य सामान्यत: यह चाहता है कि उसके बच्चे केवल ज्ञान के प्रदर्शन के लिए कुछ व्यर्थ की बातों को ही न सीखें, परन्तु समग्र रूप से वह यह चाहता है कि उनको वे बातें सिखाई जायें जो भावी जीवन के लिए उपयोगी हों।"*

रचनात्मक कार्य का सिद्धान्त (Principle of Creative Activity) : प्रत्येक बालक में किसी-न-किसी क्षेत्र में रचनात्मक कार्य करने की कुछ-न-कुछ योग्यता अवश्य होती है। अत: पाठ्यक्रम को ऐसे अवसर अवश्य देने चाहिए जिनसे रचनात्मक कार्य की यह योग्यता व्यक्त हो सके। बालक को अपनी रचनात्मक शक्तियों का प्रयोग करने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। सम्भव है कि प्रारम्भ में उसे अधिक सफलता न मिले। पर यदि उसे उचित निर्देशन दिया जायेगा, तो उसकी रचनात्मक शक्तियों का विकास अवश्य होगा। रेमॉन्ट (Raymont) का कथन है–*"जो पाठ्यक्रम, वर्तमान और भविष्य की आवश्यकताओं*

के लिए उपयुक्त है, उसमें निश्चित रूप से रचनात्मक विषयों के प्रति निश्चित सुझाव होना चाहिए।"

विविधता और लचीलापन का सिद्धान्त (Principle of Variety and Elasticity) : माध्यमिक शिक्षा-आयोग का विचार है- "पाठ्यक्रम में काफी विविधता और लचीलापन होना चाहिए, जिससे कि वैयक्तिक विभिन्नताओं और वैयक्तिक आवश्यकताओं एवं रुचियों का अनुकूलन किया जा सके।"

पाठ्यक्रम में विविधता और लचीलेपन की आवश्यकता का कारण यह है कि उसे छात्रों की रुचियों, विभिन्नताओं, दृष्टिकोणों, मनोवृत्तियों और आवश्यकताओं के अनुकूल बनाया जा सके। बालकों पर अनुपयुक्त विषयों को लादने का प्रयत्न नहीं किया जाना चाहिए। इससे उनमें निराशा की भावना उत्पन्न होती है। साथ ही उनके सामान्य विकास में बाधा पड़ती है। इसके विपरीत, ज्ञान, कुशलता और मूल्यांकन के कुछ ऐसे विस्तृत क्षेत्र हैं, जिनके सम्पर्क में बालकों को लाया जाना चाहिए। अत: पाठ्यक्रम में इनको प्रथम स्थान दिया जाना चाहिए। पर इसको ऐसी मात्रा में रखा जाय कि वे छात्रों की शक्तियों और क्षमताओं से परे न हो जायें।

सामुदायिक जीवन से सम्बन्ध का सिद्धान्त (Principle of Relationship with Community Life) : 'माध्यमिक शिक्षा-आयोग' के अनुसार-"पाठ्यक्रम सामुदायिक जीवन से सजीव की ओर आँगिक रूप में सम्बन्धित होना चाहिए।"

पाठ्यक्रम का सामुदायिक जीवन से स्पष्ट सम्बन्ध होना चाहिए। पाठ्यक्रम को इस जीवन की महत्त्वपूर्ण विशेषताओं की व्यवस्था करनी चाहिए और बालकों को इसकी कुछ महत्त्वपूर्ण क्रियाओं के सम्पर्क में लाना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि पाठ्यक्रम में उत्पादक कार्य को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाना चाहिए, क्योंकि यह कार्य व्यवस्थित मानव-जीवन का आधार है। इसके अतिरिक्त, पाठ्यक्रम स्थानीय आवश्यकताओं और परिस्थितियों को ध्यान में रखकर बनाया

जाना चाहिए।

आवश्यकता का सिद्धान्त (Principle of Need) : पाठ्यक्रम का निर्माण बालक की आवश्यकतानुसार किया जाना चाहिए। बालक की आवश्यकताएँ सभ्यता एवं संस्कृति तथा विकास की अवस्थाओं के अनुसार भिन्न होंगी। साथ ही उसकी आवश्यकताएँ सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं धार्मिक पर्यावरण तथा क्षमताओं के अनुसार भी निश्चित होती है। अत: प्रभावी पाठ्यक्रम के निर्माण के लिये बालक की आवश्यकताओं को आधार बनाया जाये। इलिक्कर (Elicker) एवं उसके सहयोगियों ने छात्रों की आवश्यकताओं का अध्ययन किया और उन्होंने इस मुख्य आवश्यकताओं की एक सूची तैयार की, जो इस प्रकार है–

- आर्थिक सफलता हेतु विक्रेय कौशलों (saleable skills) तथा अवबोध (understanding) व अभिवृत्ति (attitude) का विकास करना।

- स्वास्थ्य तथा शारीरिक उपयुक्तता को विकसित करना और उन्हें स्थायी बनाये रखने के लिये ज्ञान तथा विभिन्न आदतों का निर्माण करना।

- योग्य नागरिकता के लिये आवश्यक अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का ज्ञान प्राप्त करना तथा अभिवृत्तियों को समझना।

- पारिवारिक जीवन की सफलता हेत आवश्यक स्थितियों को समझना।

- एक बुद्धिमान उपभोक्ता बनने के लिये उपयुक्त स्थितियों एवं ढंगों को जानना।

- आधुनिक जीवन से सम्बन्धित ज्ञान एवं विज्ञान को समझना। साथ ही उन विधियों को जानना जिनसे आधुनिक जीवन को सफलीभूत किया जा सकता है।

- नैतिक सूझ-बूझ का विकास करना।

- तार्किक चिन्तन का विकास करना।
- सौन्दर्यानुभूति का विकास करना।
- वैयक्तिक तथा सामाजिक उत्थान के लिये अवकाश का उपयोग करना।

रुचि का सिद्धान्त (Principle of Interest) : अनुसन्धानों ने यह सिद्ध कर दिया है कि छात्र की रुचि का शैक्षिक उपलब्धि से गहन सम्बन्ध होता है। इसका कारण है–रुचि और ध्यान का सम्बन्ध। बच्चे जिस बात में रुचि लेते हैं उस पर उनका ध्यान बिना किसी प्रयास के केन्द्रित हो जाता है जबकि अरोचक विषय-वस्तु की ओर बच्चों का ध्यान आकर्षित करना एक अत्यन्त जटिल कार्य है। अत: पाठ्यक्रम में बालक की रुचियों से सम्बन्धित विषय-वस्तु का समावेश किया जाना चाहिये। इसके लिये बच्चों की रुचियों का सर्वेक्षण किया जाना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में जिमर (Zimmer), बोयटन (Boynton) आदि के कार्य महत्त्वपूर्ण हैं। उनके कार्यों से जो तथ्य उभर कर सामने आये हैं, वे इस प्रकार हैं–

- लड़के व लड़कियों की रुचियों में भिन्नता होती है।
- रुचियाँ आयु तथा कक्षा के अनुसार परिवर्तित होती रहती हैं।
- छोटी कक्षाओं में विज्ञान की ओर रुचि अधिक होती है और बड़ी कक्षाओं में छात्र वैयक्तिक व सामाजिक सम्बन्धों में रुचि रखते हैं।
- रुचि निम्न तत्वों द्वारा प्रभावित होती है–
- योग्यता व कौशल,
- शिक्षण-विधि,
- मान्यताएँ एवं मूल्य।

अत: पाठ्यक्रम का निर्माण करते समय उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखा जाना चाहिये। जॉन ड्यूवी (John Dewey) ने शिकागो विश्वविद्यालय में एक 'एलीमेण्टरी स्कूल' की स्थापना की। उसने इस

विद्यालय के पाठ्यक्रम का निर्धारण अधोलिखित चार प्रकार की रुचियों के आधार पर किया–

वार्तालाप एवं विचार-विनिमय में रुचि (Interest in Conversation and Communication),

खोज में रुचि (Interest in inquiry),

रचना में रुचि (Interest in Construction),

कलात्मक अभिव्यक्ति में रुचि (Interest in artistic expression)।

ड्यूवी ने उपर्युक्त रुचियों के आधार पर पाठ्यक्रम में भाषा, गणित, विज्ञान, इतिहास, भूगोल, सिलाई, बागवानी, ड्राइंग, कला, संगीत आदि को स्थान प्रदान किया।

पाठ्यक्रम के प्रकार
(Types of Curriculum)

विषय-केन्द्रित पाठ्यक्रम (Subject Centred Curriculum) : इस प्रकार के पाठ्यक्रम में विषय को आधार मानकर पाठ्यक्रम को नियोजित किया जाता है। विषय-केन्द्रित पाठ्यक्रम का सूत्रपात प्राचीन ग्रीक तथा रोम के विद्यालयों में हुआ। यह पाठ्यक्रम निश्चित बौद्धिक विशिष्टताओं की एक सूची है जिसका योग यथार्थता का समग्र चित्र प्रस्तुत करने पर बल दिया जाता है।

बाल-केन्द्रित पाठ्यक्रम (Child Centred Curriculum) : आधुनिक युग में सबसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि विषय-केन्द्रित शिक्षा का स्थान बाल-केन्द्रित शिक्षा ले लिया है। अब पाठ्यक्रम का आयोजन बालक को केन्द्र बनाकर किया जाने लगा है। यह पाठ्यक्रम प्रयोगवादी विचारधारा (Philosophy of Experimentalism) पर आधारित है। इस विचारधारा के प्रमुख प्रतिपादक फलॉम (Flaum) का मत है कि "अनुभव किसी व्यक्ति के वातावरण की भाँति स्थिर नहीं है इस कारण पाठ्यक्रम में पूर्व निर्धारित पाठ्यवस्तु को आधार न

बनाकर छात्र की रुचियों एवं आवश्यकताओं को केन्द्र बनाया जाये। इस प्रकार के पाठ्यक्रम में छात्र की रुचियों एवं आवश्यकताओं को केन्द्र बनाया जाये। इस प्रकार के पाठ्यक्रम में छात्र की परिवर्तित आवश्यकताओं, अभिप्रायों, संवेगों आदि को आधार बनाया जाता है। शिक्षा जगत इस प्रकार के पाठ्यक्रम के लिए जॉन डीवी के 'लेबोरेटरी' स्कूल का भी ऋणी है। यह पाठ्यक्रम गत्यात्मक (Functional) होता है जो सीखने वालों को साभिप्रायी अनुभव (Purposeful Learning) प्रदान करता है। इसके द्वारा सीखने का उत्तरदायित्व छात्रों पर ही डाला जाता है।

क्रिया-प्रधान पाठ्यक्रम (Activity Centred Curriculum) : क्रिया-प्रधान पाठ्यक्रम कार्य या क्रिया को आधार बनाता है। इस पाठ्यक्रम के लिए भी शिक्षा-जगत डॉ. जॉन ड्यूवी का ऋणी है। ड्यूवी ज्ञान को क्रिया का परिणाम मानता है। उसके अनुसार अनुभव, ज्ञान या सीखना क्रिया के परिणाम है। इस कारण उसके इस पाठ्यक्रम को 'अनुभव-प्रधान' पाठ्यक्रम (Experience-Centred Curriculum) के नाम से भी पुकारा जाता है।

केन्द्रिक-पाठ्यक्रम (Core Curriculum) : कोर-पाठ्यक्रम विषय-केन्द्रित पाठ्यक्रम और बाल-केन्द्रित पाठ्यक्रमों के विरुद्ध प्रतिक्रिया के फलस्वरूप विकसित हुआ। इसका प्रचलन अमेरिका के विद्यालयों में बहुत अधिक है। इसका प्रमुख कारण आधुनिक युग की सामाजिक व्यवस्था है। यह पाठ्यक्रम इस बात पर बल देता है कि विद्यालय अधिक सामाजिक दायित्वों को ग्रहण करें और सामाजिक रूप से कुशल व्यक्तियों का निर्माण करें। यह पाठ्यक्रम छात्रों के सामान्य विकास पर केन्द्रित है। यह छात्र की व्यक्तिगत तथा सामाजिक समस्याओं में निहित होता है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति तथा कोर पाठ्यक्रम
(National Policy on Education, 1986 and Core Currriculum)

राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली के अन्तर्गत सम्पूर्ण देश के लिये 10+2+3 की संरचना को स्वीकार किया गया है। इस ढाँचे के पहले दस वर्षों के सम्बन्ध में यह प्रयास किया जायेगा कि उसका विभाजन इस प्रकार हो–प्रारम्भिक शिक्षा में 5 वर्ष का प्राथमिक स्तर तथा 3 वर्ष का उच्च प्राथमिक स्तर तथा उसके बाद 5 वर्ष का हाईस्कूल।

राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली पूरे देश के लिये एक राष्ट्रीय पाठ्यक्रम के ढाँचे पर आधारित होगी जिसमें एक 'सामान्य कोर' (Common core) होगा और अन्य तत्त्वों के बारे में लचीलापन होगा जिन्हें स्थानीय पर्यावरण तथा परिवेश के अनुसार ढाला जा सकेगा।

'सामान्य कोर' में भारतीय स्वतन्त्रता का आन्दोलन, संवैधानिक जिम्मेदारियाँ (Constitutional obligations) तथा राष्ट्रीय अस्मिता (National identity) से सम्बन्धित तत्त्व होंगे। इन तत्त्वों को इस प्रकार से सँजोया जायेगा जिससे राष्ट्रीय मूल्यों को विकसित किया जा सके। इन राष्ट्रीय पाठ्चर्या के केन्द्रिक बिन्दु में निम्नलिखित बातें शामिल की गई है–

- भारत की समान सांस्कृतिक धरोहर या विरासत,
- लोकतन्त्र,
- धर्म निरपेक्षता,
- स्त्री–पुरुषों के बीच समानता (Equality of the sexes),
- पर्यावरण का संरक्षण,
- सामाजिक अवरोधों को दूर करना,
- सीमित परिवार के महत्त्व को समझना,
- वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास, तथा
- समतावाद (Egalitarianism)।

संदर्भ

1- "Education is an agent for change. What in simpler societies

was done by the family, the religious, social and political institutions has to be done by educational institutions today." -Dr. S. Radhakrishnan: Occasional Speeches in Writing, pp. 246-47.

3- "Cultural change is social change, since all culture is social in its origin, meaning and usage." -Dawson and Gettys

4. "Social change means that large number of persons are engages in activities that differ from those which they or their immediate forefathers engaged in some time before. When human behaviour is the process of modification, this only another way of indicating that social chage is occuring." -Merrill and Eldridge

5. "Social change is a process responsive to many types of changes, to change in the man-made conditions of living, to change in the attitudes of man, and changes that go beyond human control to the biological and physical nature to things." -Mac Iver and Page

6. "Social change is social evolution." -Spencer

7. "Social change is some change in social behaviour and in the social structure." -B. Kupposwamy

8. "Social change is only such alterations as occur in social organization, that is in the structure and functions of society." -Kingslya Dawn

9. "The general awakening of modern India World not have been possible without significant changes in the educational ideas." -Majumadar, Raychandhuri and Datta : An Advanced History of India, P. 960

10. "The most powerful factor in this process of social change and disintegration has been the development of science."

11. "Along with cultural adaptation goes educational change." "A.K.C. Ottaway : op. cit., p.51

12. "Social Mobility is a movement of individuals or groups from one social class stratum to another."-H.L. Miller and R.K. Woock

13. "By Social Mobility is meant and transition of an individual from one position to another in a constellation of social group and strata." -P. Sorokin

14. "By Vertical Mobility I mean the relations involved in a transition of an individual (or social object) from one social stratum to another." -P. Sorokin
15. "The function of the school in keeping pace with the changing structure of social mobility has been to open channels and keep them open. This is accomplished by providing widespread opportunities to children of all economic states to advance their position. -Carl Weinberg
16. "Formal education is directly and causally related to Social Mobility. This relationship is generally understood to be one in which formal education itself is a cause or one of the causes of vertical Social mobility." -Miller and Woock
17. "The school could inculcate excess economic ambition into a child in the same way that excess aspiration for social mobility may be generated." -T.W. Musggrave
18. "Socialization is social and psychological process."-Watson
19. "Socialization is a process of internalisation of ideological and cultural factors." -Sorokin
20. "Socialization is a process by which the individual adapts to his social environment and becomes a recognized cooperative and efficient member of that environment."
21. "Socialization means that the individual learns the folkways, mores, laws and other features of his culture, as well as skills and other necessary habits, which enable him to become a functioning member of society. He learns to identify himself with the aims and values of his life, neighbourhood, class and community: In short, the whole process of socialization falls within the scope interaction of the social act." -Kimball Young
22. "Of the various agencies of Socialization within the society the 'family' is the most important." -Kimbal Young
23. "If (Curriculum) is a tool in he hands of the artist (teacher) (objective) in his studio (school)". -Cunningham
24. "Curriculum embodies all the experiences which are utilized by school to attain the aims of education."
25. "Curriculum should be conceived as an epitome of the rounded whole of the knowledge and experience of the human

race." -Frobel

26. "Curriculum is the totality of learning experience that the school provides for the pupils through all the manifold activities in the school or outside, that are carried on under its supervision." -Education Commission (1946-66)

27. 'कार्य-योजना' 1992, मानव संसाधन विकास मन्त्रालय, शिक्षा विभाग, पृ. 134-35

[4]

पर्यावरण शिक्षा
(Environment Education)

पर्यावरण का अर्थ
(Meaning of Environment)

पर्यावरण दो शब्दों 'परि' एवं 'आवरण' के योग से बना है। परि का अर्थ है 'चारों ओर' और आवरण का अर्थ है 'ढकना'। अत: पर्यावरण वह है जो हमें चारों ओर से घेरे हुए हैं। इस प्रकार जो भी बाह्य तत्त्व हमारे चारों ओर विद्यमान है और हम पर प्रभाव डालते हैं, वे पर्यावरण का हिस्सा है।

वुडवर्थ के शब्दों में, "वे सभी बाह्य तत्त्व जो व्यक्ति के जीवन को शुरूआत से प्रभावित करते हैं, वे पर्यावरण का भाग हैं।" जीन्स के अतिरिक्त मनुष्य को प्रभावित करने वाले सभी तत्त्व पर्यावरण कहलाते हैं।

डगलस के विचार में, "वे सभी बाह्य तत्त्व जो व्यक्ति के विकास, वृद्धि, परिपक्वता, व्यवहार, स्वभाव एवं जीवन को प्रभावित करते हैं, पर्यावरण है।"

आधुनिक युग में 'पर्यावरण' शब्द एक बहुत ही प्रचलित शब्द है। सभी जगह पर्यावरण के सुधार एवं सुरक्षा की चर्चा सुनने और पढ़ने को मिलती है। लेकिन जिस क्षण हम पर्यावरण के सुधार एवं सुरक्षा को चर्चा करते हैं उसी क्षण एक अन्य शब्द की चर्चा जरूरी हो जाती है वह शब्द है प्रदूषण। प्रदूषण आज विश्व के लिए एक भारी खतरा बन गया है इसलिए हमें प्रदूषण शब्द का अर्थ जानना जरूरी है।

प्रदूषित का अर्थ है। अशुद्ध या अपवित्र। प्रदूषण का अर्थ है–प्रदूषित करना या अयोग्य करना या उपयोग के योग्य न रहने देना।

जो तत्त्व या पदार्थ किसी वस्तु को दूषित करते हैं उन्हें हम प्रदूषक कहते हैं। उदाहरण के लिये यदि किसी नदी के पानी में नाले का पानी मिल जाता है तो इसे जल प्रदूषण की संज्ञा दी जाएगी। नदी का पानी प्रदूषित हो गया है और इसका प्रदूषक है नाले का गंदा पानी। इसी प्रकार हमारे पर्यावरण में विभिन्न प्रकार के प्रदूषक विद्यमान है जो पर्यावरण के विभिन्न घटकों को प्रदूषित करते हैं। इस पर्यावरण प्रदूषण का लोगों के जीवन पर विपरीत प्रभाव पड़ता है।

भोपाल गैस दुर्घटना (1984) इसी प्रकार के प्रदूषण का एक दुःखदायी उदाहरण है। घरेलू उपयोग की गैस भी यदि रिसने लगे तो मानव जीवन पर इसका विपरीत प्रभाव पड़ सकता है।

यह सब कुछ हमें सोचने पर बाध्य करता है कि पर्यावरण का हमारे जीवन में बड़ा महत्त्व है। पर्यावरण की शुद्धता को बनाए रखना परम आवश्यक है। दुर्भाग्यवश हम इस ओर उतना ध्यान नहीं दे रहे हैं। कारण या तो अज्ञानता है या भौतिकता कीं अंधी दौड़। हम रोज पर्यावरण को विभिन्न तरीकों से अशुद्ध कर रहे हैं और फलस्वरूप अपने शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को हानि पहुँचा रहे हैं।

यहाँ यह बहुत जरूरी है कि पर्यावरण वृद्धि और प्रदूषण की रोकथाम के प्रति जन चेतना का विकास करें। शिक्षा को इस दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान देना है। हमें यह देखना होगा कि पर्यावरण के विभिन्न घटक कौन से हैं। उनका प्रदूषण किस प्रकार होता है और उनके प्रदूषण की रोकथाम किस प्रकार की जा सकती है।

आरंभ में दी गई विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पर्यावरण–

- एक बाहरी शक्ति है
- यह व्यक्ति के चारों ओर विद्यमान है।
- यह व्यक्ति के विकास, वृद्धि, व्यवहार एवम् स्वभाव को प्रभावित करती है।

• यह व्यक्ति के शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य को प्रभावित करता है।

• यह व्यक्ति के जन्म के बाद से नहीं बल्कि जन्म के पहले से ही उसे प्रभावित करना शुरू कर देता है।

• यह केवल वर्तमान पीढ़ी को ही नहीं बल्कि आने वाली पीढ़ियों को भी प्रभावित करता है जैसे कि जापान के हिरोशिमा और नागासाकी में हुआ।

पर्यावरण के प्रकार (Types of Environment)

पर्यावरण का अर्थ केवल जल, वायु और भूमि ही नहीं है। इसके अन्तर्गत हमारे चारों ओर वास करने वाले लोग और समाज भी आता है। इस प्रकार पर्यावरण के दो प्रकार है–

- भौतिक पर्यावरण
- सामाजिक पर्यावरण

भौतिक पर्यावरण (Physical Environment)

प्राकृतिक पर्यावरण में वे सभी प्राकृतिक तत्त्व आते हैं जिन्होंने हमें चारों ओर से घेर रखा है और जो हमें प्रभावित करते हैं। इनके विभिन्न प्रकार हैं जिन्हें हम दो तरह से वर्गीकृत कर सकते हैं।

नवीनीकरण के योग्य

ये वो तत्त्व हैं जिन्हें उपयोग के बाद दुबारा हासिल किया जा सकता है जैसे–

- जल,
- वायु,
- भूमि और
- वन।

नवीनीकरण के अयोग्य

ये वो घटक हैं जिनके बनने में बहुत अधिक समय लगता है। वे जल्दी और आसानी से पैदा नहीं किए जा सकते हैं, जैसे–

- खनिज,
- पर्वत, और
- पेट्रोल।

जैवकीय पर्यावरण

ये पर्यावरण के सजीव तत्त्व हैं। इनके तीन भाग हैं :–

उपभोक्ता– इन तत्त्वों को अपने भोजन के लिए दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है, जैसे–मनुष्य, पक्षी, मछली।

उत्पादक– ये अपना भोजन स्वयं उत्पन्न करके अपना पोषण कर लेते हैं। वन एवं अन्य पेड़ पौधे इस श्रृंखला में आते हैं।

उपभोक्ता– ये तत्त्व पेड़, पौधों या मनुष्यों एवं पशुओं के मृत शरीरों और सड़े, गले पदार्थों का उपयोग करते हैं। विनाश करके उन्हें कार्बनिक तथा अकार्बनिक रूप में पर्यावरण को लौटा देते हैं।

अजैवकीय पर्यावरण

इसके अन्तर्गत वे पदार्थ आते हैं जो पर्यावरण के मूल कार्बनिक एवं अकार्बनिक तत्त्व हैं, जैसे–कार्बनडाइ-ऑक्साइड, ऑक्सीजन, नाइट्रोजन, कैल्शियम, सल्फर, फास्फोरस। ये हमें वायु, भूमि और जल से प्राप्त होते हैं।

सामाजिक पर्यावरण
(Social Environment)

सामाजिक पर्यावरण की व्यक्ति की वृद्धि एवं विकास में बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। महान् दार्शनिक अरस्तू ने कहा था कि जो व्यक्ति समाज से अलग रहता है वह या तो ईश्वर है या पशु, परन्तु वह मनुष्य नहीं हो सकता। समाज

मनुष्य के जीवन की दिशा निर्धारित करता है। समाज की कई छोटी बड़ी इकाइयाँ होती हैं। इन सभी इकाइयों का समाज पर गहरा प्रभाव होता है। इन इकाइयों का आपसी सहसंबंध और इन इकाइयों तथा व्यक्ति का आपसी सहसंबंध व्यक्ति और समाज के व्यवहार तथा विचार को निश्चित करने में भूमिका अदा करता है। ये इकाइयाँ हैं–(अ) परिवार, (ब) स्कूल, (स) राज्य, एवं (द) अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ। यदि हम सामाजिक रूप से प्रदूषित हो जाएँ तो पूरी मानवता प्रदूषित हो जाएगी। इसलिए सामाजिक पर्यावरण के विभिन्न घटकों को प्रदूषण से बचाना आवश्यक है।

अब हम यह देखेंगे कि पर्यावरण का प्रदूषण कैसे और क्यों होता है और इसे रोकने के क्या उपाय हैं।

पर्यावरण प्रदूषण
(Environment Pollution)

पर्यावरण के प्रदूषण का अर्थ है कि इसके साथ इस प्रकार का हस्तक्षेप किया गया है या उसका विनाश किया गया है कि वह अपनी भूमिका निभाने योग्य नहीं रह गया है। जिस प्रकार एक विकलांग हाथ से लिखने योग्य नहीं रहता, एक विकलांग पैदल यात्रा नहीं कर सकता, एक टेढ़ी-मेढ़ी छुरी ठीक से सब्जी नहीं काट सकती उसी प्रकार यदि पर्यावरण प्रदूषित हो गया हो तो वह मानवता का पोषण, रक्षण और सुरक्षा नहीं कर सकता बल्कि वह मानव जाति के लिए विनाश व दुख का कारण बन जाएगा। पर्यावरण में विद्यमान विभिन्न प्रकार के प्रदूषक पर्यावरण को अयोग्य बना देते हैं। मनुष्य पानी के बगैर कुछ घंटे क्या दिन भी निकाल सकता है परन्तु प्रदूषित पानी को पीकर वह कुछ मिनटों में ही प्राण त्याग सकता है। इसलिए प्रदूषण पर्यावरण को अयोग्य ही नहीं बनाता वरन् हानिकारक भी बनाता है। हम इन सभी घटकों की एक-एक करके चर्चा करेंगे कि वे किस प्रकार प्रदूषित होते हैं।

भौतिक पर्यावरण का प्रदूषण
(Pollution of Physical Environment)

इसके अन्तर्गत हम जल, वायु, भूमि और ध्वनि प्रदूषण का वर्णन करेंगे।

जल प्रदूषण (Water Pollution)

यदि नदी, झरने, कुएँ, तालाब आदि का पानी इस हद तक दूषित हो जाए कि वह पीने योग्य न रह जाए और हानिकारक हो जाए कि कई प्रकार की बीमारियों को जन्म दे दे तो उसे जल प्रदूषण कहते हैं। यदि समुद्र का पानी प्रदूषित हो जाए तो जलवायु एवं वनस्पतियाँ जो प्रोटीन और अन्य पोषक तत्त्व प्रदान करती हैं नष्ट हो जाएँगी। जल जीवन है, परन्तु केवल शुद्ध जल, अशुद्ध जल तो विष है। प्रदूषण के कारणों में मुख्य है औद्योगीकरण, जनसंख्या, बम-विस्फोट तथा मल निष्कासन व्यवस्था। जल प्रदूषण के विभिन्न कारणों को जाने बगैर हम उनकी रोकथाम के उपाय नहीं कर सकते।

घरेलू कूड़ा करकट

शहर के निवासियों को नदी से पीने का पानी मिलता है। नदियों के जल को प्रदूषित भी ये लोग स्वयं ही करते हैं। लोग घरेलू कूड़ा-करकट का रूप परिवर्तित करने या उसे सही तरह से नष्ट करने के बजाए इधर-उधर फैंक देते हैं। यह किसी प्रकार नदी के जल में मिलकर उसे दूषित करता है। नदी का दूषित जल समुद्र में मिलकर उसे दूषित कर देता है और इन लोगों के स्वास्थ्य को हानि पहुँचाता है जो नदी के दूषित जल को पीते हैं। समुद्र के जल प्रदूषण का कुप्रभाव जलचरों एवं वनस्पतियों पर पड़ता है। पिछले बीस सालों में समुद्र प्रदूषण के कारण जलचरों एवं वनस्पतियों का विनाश 80 प्रतिशत तक पहुँच चुका है।

सीवेज का गन्दा पानी

सीवेज का गन्दा पानी भी नदियों, झरनों, नहरों आदि में

मिलकर जल प्रदूषण का कारण बनता है। वह गन्दा पानी भूमि प्रदूषण करता है और कुएँ का जल भी प्रदूषित हो जाता है।

औद्योगिक कूड़ा-करकट

आज के वैज्ञानिक एवं तकनीकी युग में औद्योगीकरण विस्तार पर है। मनुष्य के विकास एवं आधुनिकीकरण में औद्योगीकरण का बड़ा महत्त्व है। लेकिन ये फैक्टरियाँ और मिलें पर्यावरण को भारी खतरा पहुँचा रही हैं। कपड़ा मिलों, कागज मिलों तथा अन्य मिलों का गन्दा पानी और कूड़ा-करकट भारी जल प्रदूषण पैदा कर रहे हैं।

स्नान एवं कपड़े धोना

नदियों में नहाना और कपड़े धोना एक आम प्रचलन है। यहाँ तक कि शवों को भी नदियों में प्रवाहित कर दिया जाता है। परन्तु इन सबसे जल प्रदूषण को बढ़ावा मिलता है।

पेस्टीसाइड और बायोसाइड

आज हम विभिन्न प्रकार के विषैले कीटनाशक, जैसे–डी.डी.टी., पारा आदि इस्तेमाल करते हैं। ये सब कूड़े-करकट के साथ जल में मिल जाते हैं और नदियों तथा समुद्र के जल को प्रदूषित करते हैं।

फर्टिलाइजर

कृषि में उत्पादन वृद्धि के लिए विभिन्न फर्टिलाइजर इस्तेमाल किए जाते हैं। इन रसायनों के उपयोग से उत्पादन में तो निःसन्देह वृद्धि हुई है, परन्तु इनसे जल प्रदूषण भी अवश्य होता है, नाइट्रेट इसी प्रकार का एक प्रदूषक है।

धूलकण

पानी में धूलकण बहुत अधिक मात्रा में मिल जायें तो प्रदूषक बन जाते हैं।

डिटर्जेंट

कपड़े धोने आदि सफाई के अन्य उपयोगों के लिए काम में

लाए जाने वाले रसायन भी प्रदूषक है। यह जल में फास्फेट की मात्रा इकट्ठा कर देते हैं जो अन्ततः एक प्रदूषक बन जाता है।

एस्बेस्टस

यह भी एक प्रदूषक है। पानी में इसके मिलने से आँतों, फेफड़ों, उदर का रोग, विशेषकर कैंसर की बहुत सम्भावना रहती है।

जल प्रदूषण एक गंभीर समस्या है। गंभीर बात यह है कि भूमि की ऊपरी सतह का जल ही प्रदूषित नहीं होता, भीतरी धरातल में स्थित जल भी प्रदूषित हो जाता है। क्योंकि सतह का गंदा पानी धीरे-धीरे नीचे तक पहुँचकर भूमिगत शुद्ध जल को भी प्रदूषित कर देता है।

वायु प्रदूषण (Air Pollution)

आदमी पानी के बिना तो थोड़ी देर जीवित रह सकता है परन्तु वायु के बिना तो जीवित रह ही नहीं सकता। ऑक्सीजन रूपी शुद्ध वायु जीवनदायिनी है तो अशुद्ध वायु प्राण लेवा। वायु प्रदूषण कई बीमारियों को जन्म देता है। आज के आधुनिकीकरण एवं औद्योगीकरण के युग में वायु प्रदूषण बहुत ही खतरनाक रूप ले रहा है। भोपाल गैस दुर्घटना इसका ज्वलन्त उदाहरण है। आधुनिक उपकरण-गैस, धुंआ, कोयला, बिजलीघर, सब वायु प्रदूषण के जिम्मेदार हैं। जापान इसका उदाहरण है। वहाँ हालत यह हो गई है कि हर व्यक्ति को जालीदार मुखौटे पहनने पड़ते हैं-वायु प्रदूषण से बचने के लिए। मथुरा तेल शोधक कारखाने से होने वाले वायु प्रदूषण से ताजमहल, भरतपुर का वन्य जीवन रक्षण केन्द्र तथा अन्य स्थान क्षतिग्रस्त हो रहे हैं।

वायु प्रदूषण के कारण

वायु प्रदूषण के कारण निम्नलिखित हैं-

ईंधन

ईंधन के आविष्कार के साथ ही प्रदूषण आरंभ हो गया था। कोयला जलाने से कार्बनडाइ-ऑक्साइड गैस वातावरण में मिल जाती है। आज की घरेलू कुकिंग गैस भी वायु प्रदूषक है।

औद्योगीकरण

रोज नई फैक्टरियाँ देश में खुल रही हैं। इन फैक्टरियों से निकलने वाला धुआं और गैस प्रदूषण पैदा करती है। सल्फाइड, सल्फेट, क्लोराइड, धूल आदि अन्य विषैली गैसें वायुमण्डल में मिलकर वायु को प्रदूषित करती हैं।

यातायात के साधन

रेलें, मोटर गाड़ियाँ, ट्रक, कारें, बस, मोटर-साइकिल और यातायात के अन्य साधन वायुमण्डल को कार्बन मोनो-ऑक्साइड नाइट्रोजन ऑक्साइड, सीसा आदि से प्रदूषित करते हैं। अनुमान है कि मोटर कार नौ सौ आठ किलोमीटर चलकर इतनी ऑक्सीजन खर्च कर लेती है जितना एक व्यक्ति वर्ष भर में करता है।

कीटनाशक दवायें

इन दवाओं का छिड़काव वायुमण्डल में मिलकर उसे दूषित कर देता है।

जनसंख्या विस्फोट

साधनों की कमी और जनसंख्या की वृद्धि ने विश्व में अनेक समस्याओं को जन्म दिया है। भीड़ भरे आवास ने पशुओं और मनुष्यों को जन्म दिया है। भीड़ भरे आवास पशुओं और मनुष्यों के मिले जुले आवास, एक सही स्थान पर बहुत लोगों की श्वास प्रश्वास, प्रक्रिया वायु प्रदूषण का जबरदस्त कारण है। भूमि का अभाव होता जा रहा है। पेड़-पौधे कटते जा रहे हैं इसलिए शुद्ध वायु की कमी होती जा रही है।

वन-नाश

सर्वविदित है कि पेड़-पौधे हमें ऑक्सीजन प्रदान करते हैं और वायुमण्डल में से कार्बनडाइ-ऑक्साइड को चूस लेते हैं। वन नाश के कारण कार्बनडाइ-ऑक्साइड हवा में अधिक मात्रा में विद्यमान रह जाती है। जो वायु का प्रदूषण करती है।

आज के युग में वायु प्रदूषण मानव जाति के लिए जबरदस्त

खतरा है।

भूमि प्रदूषण (Soil Pollution)

भूमि का हमारे जीवन में गहरा महत्त्व है। यह हमें आधार प्रदान करती है। हम हवा में आवास नहीं बना सकते। भूमि हमें खाना, आवास, वस्त्र तीनों ही मुख्य आवश्यकतायें प्रदान करती हैं। यह हमें विभिन्न प्रकार की सुविधायें प्रदान करती हैं। आज वही भूमि प्रदूषित हो रही है।

भूमि प्रदूषण के कारण

भूमि प्रदूषण के कारण निम्नलिखित हैं–

विभिन्न रसायन

ये रसायन उत्पादन को बढ़ाते हैं परन्तु ये भूमि की निहित उत्पादन क्षमता का ह्रास करते हैं।

वन-विनाश

इसके कारण भूमि का कटाव हो रहा है जो कि उद्योग और कृषि दोनों के लिए हानिकारक है।

जनसंख्या वृद्धि

कृषि और घास के लिए निश्चित भूमि को भी हम आवासीय टुकड़ों में काट रहे हैं। कारखानों और मकानों के नित नये निर्माण भूमि की उर्वरा शक्ति का विनाश कर रहे हैं।

जल प्रदूषण

इसके फलस्वरूप भूमि में लवण की अधिकता हो जाती है जो उर्वरा शक्ति के लिए हानिकारक है। जल प्रदूषण भूमि में गहरे बैठकर भूमि की निचली सतह को भी प्रदूषित कर देता है।

विभिन्न विस्फोट एवं प्रयोग

हाईड्रोजन बमों का विस्फोट परमाणु, अणु शक्ति परीक्षण, भूमि की उर्वरा शक्ति को हानि पहुँचाते हैं।

जल की कमी

भूमि की निचली सतह जलहीन या जल की कमी होने से भूमि का स्वभाव परिवर्तित होता है। उसकी उर्वरा शक्ति का नुकसान होता है और रेगिस्तान बढ़ते हैं।

इस प्रकार भूमि प्रदूषण भूमि के लिए हानिकारक होने के साथ-साथ कई अन्य समस्याओं को भी जन्म देता है।

ध्वनि प्रदूषण (Sound Pollution)

पर्यावरण में सुनाई पड़ने वाली प्राकृतिक ध्वनियाँ जैसे चिड़ियों का चहचहाना, नदी की कल-कल, पत्तों का खड़खड़ाना, वर्षा की रिमझिम आदि भी प्रदूषित हो रही है। औद्योगीकरण और यातायात के साधनों को इस हद तक बढ़ावा दिया है कि कुछ समय बाद शायद कोई भी व्यक्ति ध्वनि उपकरण के बगैर सुनने की शक्ति नहीं रखेगा। आज के युग में शोर सुनते-सुनते हमारे कान इतने अभ्यस्त हो चुके हैं कि हम स्वाभाविक, प्राकृतिक मधुर ध्वनि को ग्रहण नहीं कर पा रहे हैं। विभिन्न प्रदूषक ध्वनि प्रदूषण के लिए जिम्मेदार हैं।

शोर (Noise)

जो ध्वनि हमारे कानों को अप्रिय लगे और जो सामान्य से ऊँची आवाज में हमारे कानों से टकराए वह शोर है। शोर के कारण ध्वनि प्रदूषण उत्पन्न होता है। यह इस हद तक प्रदूषण पैदा कर सकता है कि हम में बहरापन आ सकता है।

यातायात के साधन

यातायात के विभिन्न साधन विशेषकर बड़े शहरों में ध्वनि प्रदूषण जिम्मेदार है। ये साधन इतना कर्ण-कटु शोर उत्पन्न करते हैं कि सुनने की शक्ति का ह्रास होता है।

भारी औद्योगीकरण

इनके द्वारा भी तीव्र ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं जो मनुष्य की सामान्य श्रवण शक्ति का ह्रास करती हैं।

लाउड स्पीकर

आज के युग के लाउड स्पीकर एक भारी प्रदूषक है।

इस प्रकार हमने देखा कि विभिन्न प्रकार के प्रदूषक पर्यावरण के विभिन्न घटकों का प्रदूषण करते हैं।

प्रदूषण के कु-प्रभाव

प्राकृतिक पर्यावरण की विकलांगता के भयानक दुष्परिणाम हो रहे हैं। मनुष्य जीवन इन प्रदूषणों के कारण खतरे में पड़ गया है और कुत्सित हो रहा है।

जल प्रदूषण के कु-प्रभाव

इसके कारण विभिन्न समस्याओं का जन्म हो रहा है जैसे :–

समुद्री वनस्पति एवं जलचरों का नाश।

बीमारियाँ–जल प्रदूषण के फलस्वरूप विभिन्न बीमारियों का शिकार होना पड़ता है।

विभिन्न दुष्परिणाम–भूमिगत एवं ऊपरी सतह के जल प्रदूषण का कु-प्रभाव उर्वरा शक्ति पर पड़ता है।

वायु प्रदूषण के कु-प्रभाव

आज विश्व के प्रायः सभी देश इस समस्या से पीड़ित हैं।

जलवायु का दूषित होना

जलवायु दूषित हो जाती है जिसमें आदमी ठीक से सांस भी नहीं ले पाता। पिछले सौ वर्षों से कार्बनडाइ-ऑक्साइड में 16 प्रतिशत की वृद्धि हो गई है।

फलतः वातावरण दूषित हो गया है और शुद्ध वायु का अभाव होता जा रहा है।

दृष्टिगोचरता का ह्रास

वायु में धूलकणों की उपस्थिति, धुआँ और कोहरा दृष्टिगोचरता

को कमजोर बनाते हैं।

भौतिक पदार्थों का प्रभाव

भवनों को नुकसान होता है। उन पर एक काला आवरण और धूमिलता आती है और उनकी चमक तथा सुन्दरता को क्षति पहुँचती है। अन्य भौतिक पदार्थों का भी नुकसान होता है।

कृषि पर कु-प्रभाव

कृषि का नुकसान होने के साथ-साथ भूमि की उर्वरा शक्ति में भी क्षीणता आती है। पौधों और पेड़ों की वृद्धि को वायु प्रदूषण से हानि पहुँचती है।

मनुष्य का प्रभाव

मनुष्य पीढ़ी-दर-पीढ़ी तक विकलांगता और कई बीमारियों का शिकार बन जाता है।

वातावरण में ओजोन की परत का ह्रास

भूमि प्रदूषण के दुष्प्रभाव

भूमि प्रदूषण के दुष्प्रभाव निम्नलिखित हैं-

– अन्न, घास एवं कृषि की भूमि की कमी,

– भूमि कटाव,

– भूमि को क्षति,

– कृषि का स्थानान्तरण,

– उर्वरा शक्ति का ह्रास,

– भूमि की शुष्कता के कारण वातावरण में असन्तुलन,

– पीने के पानी और कृषि के लिए पानी में कमी, एवं

– कुएँ के पानी का प्रदूषण।

ध्वनि प्रदूषण के दुष्परिणाम

आज मानवता को ध्वनि प्रदूषण से विशेष खतरा है। जैसे:-

बहरापन

शोर बहरापन उत्पन्न करता है। अनुमान है कि कुछ समय बाद लोगों में श्रवण शक्ति का नाश हो जाएगा।

गर्भवती महिलाओं पर प्रभाव

बच्चों का गर्भस्थ विकास इससे प्रभावित होता है और गर्भवती महिलाओं को इससे नुकसान पहुँचता है।

दुर्घटनाओं में वृद्धि

ध्वनि प्रदूषण के फलस्वरूप लोग विभिन्न ध्वनियों में अन्तर नहीं समझ पाते और फलस्वरूप दुर्घटनाओं में वृद्धि होती है।

विभिन्न बीमारियाँ

उच्च रक्त-चाप, मानसिक तनाव, चिड़चिड़ापन, हृदय रोग, झुर्रियाँ आदि के पीछे स्नायविक तनाव होते हैं। ये ध्वनि प्रदूषण से उत्पन्न होते हैं।

मनुष्य की योग्यता का ह्रास

प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि ध्वनि प्रदूषण लोगों की कार्य-क्षमता पर उल्टा असर डालती है।

वन विनाश के दुष्परिणाम

वन विनाश हमारे लिए विभिन्न प्रकार की समस्यायें उत्पन्न करता है। आज वन विनाश बीस हैक्टेयर प्रति मिनट यानी 1-10 करोड़ हैक्टेयर प्रतिवर्ष की गति से हो रहा है। जनसंख्या वृद्धि औद्योगीकरण के कारण वन विनाश में वृद्धि होती जा रही है। इसके भयंकर दुष्परिणाम हैं।

बाढ़

पेड़ों और वनों के अभाव में वर्षा का पानी बिना किसी रुकावट के तेज गति से प्रवाहित होकर नदियों में बाढ़ लाता है।

मरुस्थलों में वृद्धि

भूमि में शुष्कता और आर्द्रता की कमी वन विनाश के कारण आती है। इससे मरुस्थलों में वृद्धि होती है।

उर्वरता में कमी

वर्षा के पानी के तीव्र गति से प्रवाहित होने के साथ भूमि के ऊपरी सतह के उर्वरक तत्त्व भी घुल जाते हैं। फलस्वरूप भूमि की उर्वरक शक्ति क्षीण होती जाती है।

भूमि में जल की कमी

वनों के पेड़ जिनकी जड़ें भूमि में काफी अन्दर तक फैली रहती हैं वर्षा के पानी को सोख कर उन्हें भूमि में जमा कर देते हैं। इस प्रकार निचली परतों को पानी मिल जाता है। भूमि में वनों के अभाव मे जल की कमी हो जाती है।

वायु प्रदूषण

पेड़ों के अभाव में ऑक्सीजन की कमी और कार्बनडाइ-ऑक्साइड की अधिकता होने के कारण वायु प्रदूषण को बढ़ावा मिलता है।

भूमि कटाव

पेड़ों के कारण भूमि में कटाव कम होता है परन्तु वन न होने पर भूमि कटाव बढ़ जाता है।

दुर्लभ प्रजातियों के अस्तित्व को खतरा

बहुत से पशु, पक्षी वनों में ही निवास करते हैं। वनों के कटने के साथ-साथ कई प्रकार के पशु, जैसे-सिहं, तेंदुए, हिरन, साँप आदि नष्ट होते जा रहे हैं।

इन सबसे पर्यावरण का संतुलन बिगड़ता है।

इस प्रकार हमने देखा कि प्रदूषण के बहुत से दुष्परिणाम हैं। हमें इसे रोकना बहुत जरूरी है। अब हम उन उपायों का तथा शिक्षा के उन कार्यों का वर्णन करेंगे जिनके द्वारा विभिन्न प्रदूषणों की रोकथाम की

जा सकती है।

प्रदूषण दूर करने के उपाय

प्रदूषण दूर करने के लिए निम्नलिखित उपाय किये जा सकते हैं।

शिक्षा की यहाँ पर बहुत बड़ी भूमिका है और उस पर बहुत बड़ा दायित्व है। हर प्रकार के प्रदूषण को दूर करने के लिए यदि हर व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों और दायित्वों को भली प्रकार समझ ले तो यह समस्या दूर हो सकती है और विश्व को विनाश से बचाया जा सकता है।

पर्यावरण शुद्धता के प्रति जन-चेतना उत्पन्न करना

यह पर्यावरण शिक्षा के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। यूनेस्को इस दिशा में काफी कार्य कर रहा है। तरह-तरह की कक्षायें, सेमिनार और अन्य प्रचारों के माध्यम से यूनेस्को जन साधारण तथा विशेषकर विद्यार्थियों में जागरूकता उत्पन्न करने के सतत् प्रयास में लगा हुआ है।

जनसंचार माध्यम की भूमिका

प्रचार के विभिन्न साधनों, जैसे–टी.वी., रेडियो, सिनेमा, अखबार, मैगजीन आदि के द्वारा जन-साधारण तक यह संदेश पहुँचाना आवश्यक है कि पर्यावरण दूषित हो रहा है और उसे बचाया जा सकता है।

उद्योगों की स्थापना शहर से दूर करना

– पेस्टीसाइड, रासायनिक खाद, कीटनाशकों आदि के प्रयोग में कमी लाना।

– घरेलू एवं औद्योगिक कूड़ा करकट का रूप परिवर्तित करके उन्हें उपयोगी बनाना।

– वायु शुद्धिकरण के उपायों को काम में लाना।

– जल शुद्धिकरण के विभिन्न उपायों को काम में लाना।

फैक्ट्रियों पर कानून लगाना और उन्हें कानून का पालन करने के लिए बाध्य करना।

जनसंख्या शिक्षा का प्रचार करना

इसके द्वारा जनसंख्या पर नियंत्रण करके पर्यावरण को बचाया जा सकता है।

वनों का विकास

अनुसंधान, वन सप्ताह, वृक्षारोपण को बढ़ावा देकर वनों का विकास किया जा सकता है।

– सही ईंधन का प्रयोग।

– शोर पर प्रतिबन्ध लगाना।

– शोर के खिलाफ कानून बनाना और लागू करना।

– पर्यावरण सुरक्षा, पर्यावरण प्रदूषण एवं अन्य विषयों पर साहित्य सृजन करना।

– बांधों के निर्माण द्वारा।

– बाढ़ नियंत्रण समितियों का निर्माण करना।

– नहरों को पक्का करना।

– भूमि कटाव में अनुसंधान करना।

– परमाणु शक्ति का सृजनात्मक प्रयोग करना।

– गर्म और गंदे पानी के नदियों में प्रवाहित होने पर नियंत्रण करना।

– परमाणु अस्त्रों पर नियंत्रण करना।

– ध्वनि संबंधी विभिन्न उपकरणों का प्रयोग करके ध्वनि प्रदूषण को रोकना।

– साईलेंसर का प्रयोग, लाउड स्पीकरों के प्रयोग पर नियंत्रण, शोर मचाने वाली मिलों को शहर से दूर ले जाना इत्यादि इसके अन्तर्गत

आते हैं।

इस प्रकार प्राकृतिक पर्यावरण को शिक्षा द्वारा प्रदूषण से बचाया जा सकता है।

सामाजिक पर्यावरण (Social Environment)

केवल प्राकृतिक पर्यावरण ही नहीं वरन् सामाजिक पर्यावरण भी मानवता के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। भविष्य में प्राकृतिक सम्पदा तो विरल और अधिक से अधिक प्रदूषित होती जाएगी। सामाजिक पर्यावरण को ही इस असन्तुलन को ठीक करना होगा और प्राकृतिक पर्यावरण की इस क्षति की पूर्ति करनी होगी। यू.एन.ओ. द्वारा नियुक्त विशेष समिति (अप्रैल 25 से अप्रैल 29, 1983) का भी यही विचार है। युद्ध, सामाजिक घृणा, सामाजिक अज्ञानता आदि को दूर करना होगा। अब यहाँ सामाजिक पर्यावरण के प्रदूषकों के विषय में जानने का प्रयत्न करेंगे।

परिवार प्रदूषण (Family Pollution)

आज के युग में संयुक्त परिवार टूट चुके हैं और इनका स्थान एकल परिवारों ने ले लिया है। संयुक्त परिवारों में पनपने वाले कई सामाजिक गुणों, जैसे—त्याग, सहयोग, परस्पर सामंजस्य आदि का आज नाश हो गया है। आज तो परिवारों में कटुता, ईर्ष्या, दूसरों के लिए असम्मान, कमजोर व्यक्तियों का शोषण आदि दुर्गुणों ने गुणों का स्थान ले लिया है।

आर्थिक प्रदूषण (Economic Pollution)

सभी का आज के युग में भौतिकवादी दृष्टिकोण हो गया है। फलस्वरूप कृत्रिम अभाव, स्मगलिंग, जमाखोरी, बेईमानी, धन जमा करने के गलत तरीकों का आज ताण्डव नृत्य हो रहा है।

राजनैतिक प्रदूषण (Political Pollution)

आज वोटों के लिए भी राजनैतिक पार्टियाँ और नेतागण हर गलत तरीके का इस्तेमाल कर रहे हैं। चरित्र हनन, एक दूसरे पर

छींटाकशी और अन्य गलत तरीकों का इस्तेमाल हो रहा है। आज के युग में यही राजनैतिक उपलब्धि है।

मानसिक प्रदूषण (Mental Pollution)

आज लोगों के मस्तिष्क विकृत हो गए हैं। वे अच्छे बुरे की पहचान करने में असमर्थ हैं। उग्रवादी भी अपने कुकृत्यों के समर्थन में तर्क पेश कर रहे हैं। आज लोगों की मानसिक स्थिति इतनी विकृत हो चुकी है कि वे हर गलत काम को सही और सही काम को गलत मानते हैं।

धार्मिक प्रदूषण (Religious Pollution)

निहित स्वार्थ से प्रेरित लोग और संस्थाएँ धर्म की आड़ में बुरे-से-बुरे काम करने को तत्पर हैं। धर्म के मूल सिद्धांतों का पालन तो किया नहीं जा रहा परन्तु उसे एक हथियार के रूप में जरूर इस्तेमाल किया जा रहा है।

नैतिक प्रदूषण (Moral Pollution)

आज हमारे लिए शाश्वत मूल्यों का भी कोई अर्थ नहीं रह गया। स्वार्थपरता और अवसरवादिता जैसे मूल्यों को प्रश्रय मिल रहा है। सच तो यह है कि आज मूल्यों से हम बंधन मुक्त हो चुके हैं और हर व्यक्ति अपनी सुविधा के अनुसार मूल्यों का निर्माण करने को मुक्त हो चुका है।

सामाजिक प्रदूषण (Social Pollution)

भ्रष्टाचार, पिछड़ापन और रूढ़िवादिता के चंगुल में से भी हम नहीं निकल पाये हैं और आधुनिक अवसरवादिता एवं भौतिकता की अंधी दौड़ में भी हम लगे हुए हैं।

सांस्कृतिक प्रदूषण (Cultural Pollution)

आज हमारी स्थिति यह हो गई है कि न तो इस प्राचीन संस्कृति से जुड़े हुए हैं और न पाश्चात्य संस्कृति को अपना पाए हैं।

शैक्षिक प्रदूषण (Educational Pollution)

शिक्षा अपना उद्देश्य पूर्ण नहीं कर पा रही है। मूल्यांकन के गलत तरीके इस्तेमाल किए जा रहे हैं और सही मूल्यों का प्रतिपादन हम शिक्षा के द्वारा नहीं कर पा रहे हैं। इस प्रकार का प्रशिक्षण दिया जा रहा है जिसका इस्तेमाल वास्तविक जीवन में नहीं हो पाता।

इन विभिन्न प्रदूषकों को रोकना अति आवश्यक है और यहाँ पर शिक्षा एक बहुत बड़ी भूमिका अदा कर सकती है।

सामाजिक प्रदूषण दूर करने के उपाय

सामाजिक प्रदूषण दूर करने के निम्नलिखित उपाय किये जा सकते हैं–

– शाश्वत मूल्यों में आस्था का विकास।

– सामाजिक न्याय की स्थापना।

– आर्थिक न्याय की स्थापना।

– भ्रष्टाचार का उन्मूलन।

– राष्ट्रीय सद्भावना का विकास।

– धर्म को पुनःपरिभाषित करना।

– योजनाबद्ध सामाजिक परिवर्तन।

– राजनैतिक आदर्शों की स्थापना।

– दैनिक जीवन के तनाव को दूर करना!

– राष्ट्रीय स्वार्थ के हित में व्यक्तिगत स्वार्थों का त्याग।

– विद्यार्थियों में उनके द्वारा समाज में वैचारिक उदारता का विकास।

– सामाजिक प्रदूषकों के विषय में जानकारी देना।

यहाँ पर शिक्षक को बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी है। विभिन्न पाठ्यक्रम संबंधी एवं पाठ्य सहगामी क्रियाओं के द्वारा उपरोक्त

उपायों को लागू करना होगा। एन.एस.एस. कार्यक्रम, फिल्मों, प्रदर्शनियों, सेमिनार, कार्यशालायें तथा अन्य माध्यमों के इस्तेमाल से इन उपायों को बढ़ावा देना होगा। कानून असफल हो सकता है परन्तु शिक्षा असफल नहीं हो सकती क्योंकि यह एक निरन्तर विकासशील प्रक्रिया है।

[5]

जनसंख्या शिक्षा
(Population Education)

जनसंख्या की अवधारणा

आज पूरे विश्व में जनसंख्या जिस दर से बढ़ रही है, उसे देखते हुए एक अनुमान के अनुसार इस सदी के अन्त तक पृथ्वी पर उस आबादी के बसाने के लिए हर व्यक्ति को केवल खड़े भर रहने की ही जगह दी जा सकती है। भारत में भी जनसंख्या की भयंकर समस्या मुँह फाड़े खड़ी है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् हमारे देश की जनसंख्या अनियमित तथा अनियंत्रित रूप से बढ़ रही है और इसी दर से यदि जनसंख्या बढ़ती रही तो सन् 2020 ई. में यह जनसंख्या बढ़कर लगभग 150 करोड़ हो जाएगी। जरा अनुमान लगाइए कि इतने लोगों के जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं (रोटी, कपड़ा और मकान) को पूरा करना कितना कठिन कार्य होगा।

जनसंख्या की तीव्र गति से वृद्धि देश की सारी प्रगति को निगल रही है। यह एक अभिशाप बनी हुई है। इसने राष्ट्र के विकास सम्बन्धी सभी योजनाओं को विफल कर दिया है। अगर हम जनसंख्या सम्बन्धी आँकड़ों पर एक नजर डालें तो हम देखेंगे कि जनसंख्या के आधार पर हमारे देश का विश्व में चीन के बाद दूसरा स्थान है। भारतवर्ष में विश्व की 15.5% जनसंख्या रहती है और इसकी भूमि का क्षेत्रफल 2.4% है। भारत की जनसंख्या प्रति वर्ष 1 करोड़ 30 लाख बढ़ जाती है। यह वृद्धि देश की अर्थव्यवस्था, जीवन स्तर, विकास कार्यों तथा पंचवर्षी योजनाओं को सफल नहीं होने देती। विश्व का प्रत्येक छठा व्यक्ति भारतवासी है।

आंकड़ों को देखने से पता चलता है कि भारत की जनसंख्या 1921 ई. में लगभग 25 करोड़ थी, 1941 में लगभग 31.8 करोड़, 1961 में 43.1 करोड़, 1971 में 54 करोड़ और 1981 में यह

जनसंख्या बढ़कर लगभग 68.4 करोड़ हो गई। 1991 में 84.39 करोड़ तथा 2001 में 10,316.3 करोड़ हो गई। 1971 में हमारे देश की मृत्यु दर 15.6 प्रति हजार थी। 2001 और 2011 में वैज्ञानिक प्रगति और नई-नई औषधियों के अनुसंधान के फलस्वरूप मृत्यु दर कम होकर 8.4 प्रति हजार रह गई। इसका अर्थ यह हुआ कि मृत्यु दर की अपेक्षा जन्म दर अधिक है जो देश की जनसंख्या बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रही है। इस जनसंख्या वृद्धि का प्रभाव मानव के सुख, स्वास्थ्य, मासिक आय, राष्ट्र की प्रगति, समृद्धि, राष्ट्रीय आय, सुरक्षा, विश्व-शांति तथा अन्तर्राष्ट्रीय संतुलन पर भी पड़ता है। इस वृद्धि ने मानव जाति के भविष्य को संकट में डाल दिया है। इस बढ़ती हुई जनसंख्या की बाढ़ को रोकने के लिए शिक्षा-शास्त्रियों, अर्थ-शास्त्रियों और समाज-शास्त्रियों ने आपस में विचारविमर्श करके यह निष्कर्ष निकाला कि देश के लोगों के दृष्टिकोणों में परिवर्तन लाया जाना चाहिए, जो कि जनसंख्या शिक्षा के माध्यम से ही संभव है। जनसंख्या विस्फोट की समस्या के समाधान के लिए जनसंख्या शिक्षा को एक सशक्त बनाना आज के युग में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

जनसंख्या शिक्षा का अर्थ और परिभाषाएँ (Meaning and Definitions of Population Education)

कुछ वर्ष पूर्व इस धारणा को व्यक्त करने के लिए यौन शिक्षा, परिवार नियोजन, पारिवारिक जीवन शिक्षा, परिवार कल्याण शिक्षा आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता था। परन्तु डॉ. सलोन आर. वेयलैण्ड, कोलम्बिया विश्वविद्यालय, कोलम्बिया, के प्रोफेसर ने इसे जनसंख्या शिक्षा का नाम दिया, जो कि अपने आप में शिक्षाप्रद तथा प्रेरणात्मक भी है और यही शब्द आज भी अत्यन्त उपयुक्त माना जाता है। प्रोफेसर बर्लसन, हारवर्ड विश्वविद्यालय तथा अमेरिका के अन्य विद्वानों ने सुझाव दिया कि जनसंख्या शिक्षा के स्थान पर जनसंख्या जागृति शब्द का प्रयोग करना अधिक उचित रहेगा, परन्तु जनसंख्या शिक्षा शब्द अधिक प्रचलित हो गया है और लगभग सभी शिक्षित लोग इसका अर्थ

समझने लगे हैं। अतः इस शब्द को ही सभी देशों में मान लिया गया है।

सितम्बर, 1970 में यूनेस्को की ओर से बैठक में आयोजित की जाने वाली 'जनसंख्या शिक्षा संगोष्ठी' में इस शब्द की निम्न परिभाषा दी गई—"जनसंख्या शिक्षा एक शैक्षिक कार्यक्रम है, जिसमें परिवार, समाज, राष्ट्र एवं विश्व की जनसंख्या की स्थिति का अध्ययन किया जाता है। इस अध्ययन का उद्देश्य छात्रों में इस स्थिति के प्रति विवेकपूर्ण तथा उत्तरदायित्वपूर्ण दृष्टिकोणों एवं व्यवहार का विकास करना है।"

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण केन्द्र के अनुसार, "जनसंख्या शिक्षा केवल जनसंख्या सम्बन्धी जागरूकता नहीं है अपितु यह मूल्यों और दृष्टिकोणों का विकास है, जो जनसंख्या के संख्यात्मक एवं गुणात्मक संदर्भ में है।"

जनसंख्या शिक्षा, जनसंख्या की सम्पूर्ण संरचना एवं विश्लेषण करके उसे राष्ट्रीय हित में नियोजित करने की प्रक्रिया है।

जनसंख्या शिक्षा प्रत्येक व्यक्ति के दृष्टिकोण, जीवन मूल्यों तथा धारणाओं में परिवर्तन लाने वाली शिक्षा है, जो देश की समस्याओं का समझने तथा उनका समाधान खोजने के लिए प्रत्येक को प्रेरित करती है।

डॉ.वी.के.आर.वी.राव के अनुसार, "जनसंख्या शिक्षा प्रमुख रूप से ऐसी प्रेरणा शक्ति है, जो परिवार की सीमा तथा परिवार नियोजन की आवश्यकताओं के प्रति दृष्टिकोण उत्पन्न करती है।"

अतः जनसंख्या शिक्षा नागरिकों को दी जाने वाली वह शिक्षा है, जो उनमें देश की विभिन्न समस्याओं को समझने की शक्ति उत्पन्न करती है तथा उन्हें इन समस्याओं का समाधान करने की प्रेरणा भी देती है।

जनसंख्या शिक्षा का महत्त्व (Importance of Population Education)

किसी भी प्रकार का परिवर्तन लाने में शिक्षा महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। यही कारण है कि शिक्षा-शास्त्रियों, समाज-सेवक, समाज-शास्त्रियों तथा अर्थ शास्त्रियों का यह मत है कि लोगों के दृष्टिकोणों में परिवर्तन लाने के लिए जनसंख्या शिक्षा दी जाए, जिससे वे इस समस्या से उत्पन्न होने वाले भयंकर परिणामों को समझ सकें। जनसंख्या शिक्षा का महत्त्व निम्नलिखित कारणों से है :

देश की जनसंख्या अनियमित तथा अनियंत्रित रूप से बढ़ रही है, इसे नियंत्रित करने के लिए जनसंख्या शिक्षा अनिवार्य है।

देश की तथा प्रति व्यक्ति की औसत आय बढ़ाने के लिए, जिससे जीवन स्तर ऊँचा उठ सके, जनसंख्या शिक्षा देना आवश्यक है।

'छोटा परिवार सुखी परिवार' की धारणा को सभी को समझाया जा सकता है, जिससे सभी व्यक्तियों को परिवार नियोजन की तरफ आकर्षित किया जा सकता है।

विवाह की आयु हमारे देश में कम है, अतः देश के युवकों और युवतियों को विवाह से पूर्व विद्यालयी स्तर पर ही जनसंख्या विस्फोट से उत्पन्न होने वाली समस्याओं से अवगत कराया जाना आवश्यक है।

प्रत्येक राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने राज्य में रहने वाले लोगों के स्वास्थ्य, कल्याण और विकास का पूरा ध्यान रखे। यह तभी संभव है, जब सभी नागरिकों की जनसंख्या वृद्धि के दुष्परिणामों को बता दिया जाए, जो जनसंख्या शिक्षा द्वारा संभव है।

आधुनिक परिस्थितियों में जो आय होती है, उससे तो रोटी, कपड़ा और आवास की सुविधाएँ उपलब्ध करवाना ही कठिन हो जाता है। अतः परिवार को सीमित रखकर बचत करने की शिक्षा दी जा सकती है।

जनसंख्या शिक्षा यदि जन आन्दोलन के रूप में अपनाकर दी जाए तो देश प्रगति के पथ पर निरन्तर आगे बढ़ सकता है जो रूस तथा

अमेरिका जैसे विकसित देशों के स्तर को प्राप्त कर सकता है।

डॉ. वी. पी. लूला और डॉ. एस. के. मूर्ति ने जनसंख्या शिक्षा के पक्ष में आठ तर्क दिए हैं जो निम्नलिखित हैं : –

परिवार के आकार का नियंत्रण

हमारे देश में क्योंकि, किसलिए और किस प्रकार परिवार के आकार को सुधारने व अच्छा जीवन स्तर बनाने के लिए पूर्ण और सही दृष्टिकोण विकसित करने की आवश्यकता है।

जनसंख्या समस्याओं के बारे में समझना

कई अन्य देशों की परिस्थितियों की तुलना में भारत में विवाह की उम्र सबसे कम है। इसलिए जनसंख्या समस्याओं के बारे में समझ और सुनियोजित मातृ-पितृत्व, विद्यालयी पाठ्यक्रम का एक भाग होना चाहिए।

जनसंख्या समस्याओं के प्रशिक्षण

हमारी जनसंख्या का पचास प्रतिशत भाग अट्ठारह वर्ष से कम आयु का है। यह युवा वर्ग सन्तानोत्पत्ति की अवस्था में है तथा इन्हें जनसंख्या समस्या का सही ज्ञान नहीं है।

मूलभूत मानव अधिकार

प्रत्येक व्यक्ति को जीने और उसे तथा उसके परिवार को प्रसन्नतापूर्वक रहने का आधारभूत मौलिक अधिकार है, जिसके लिए भारत भी पूर्ण रूप से उत्तरदायी है।

प्रत्येक नागरिक का विकास

किसी भी आधुनिक राज्य का, जिसमें हमारा देश भी शामिल है, नैतिक दायित्व उसके प्रत्येक नागरिक का कल्याण, स्वास्थ्य व पूर्ण विकास है। यह जनसंख्या नियंत्रण के बिना संभव नहीं हो पाएगा।

जीवन के खतरे

भारतीय शिक्षा व्यवस्था प्रजातांत्रिक मूल्यों पर आधारित है।

इसका दायित्व है कि भावी नागरिकों को भविष्य में आने वाले खतरों और संभावनाओं का ज्ञान कराए। जनसंख्या समस्या भावी जीवन के प्रति एक बड़ा खतरा है।

संदर्भ सूचना

हमारी शिक्षा के वर्तमान पुस्तकीय कार्यक्रम में, जीवन के संदर्भ की कमी है और बर्लसन के सुझाव के अनुसार जनसंख्या शिक्षा जीवन के लिए बहुत महत्त्वूपूर्ण शिक्षा है।

शिक्षा द्वारा सामाजिक परिवर्तन

नियम, कानून के द्वारा अनिवार्यता के बजाय जनसंख्या के संदर्भ में सामाजिक परिवर्तन का माध्यम जनसंख्या शिक्षा अधिक उपयुक्त है।

जनसंख्या विस्फोट के प्रमुख कारण
(Main Causes of Population Explosion)

भारत में जनसंख्या की तीव्र वृद्धि में धार्मिक धारणाएँ, व्यवसाय, जलवायु, मनोरंजन के साधनों का अभाव इत्यादि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। जनसंख्या वृद्धि के प्रमुख कारण इस प्रकार हैं–

पुत्र कामना

भारत के लोग अन्ध-विश्वास तथा धार्मिक भावनाओं से प्रेरित होकर पुत्र लालसा में परिवार के सदस्यों की संख्या बढ़ाते रहते हैं, क्योंकि उनका विश्वास है कि पुत्र ही उनके वंश को आगे बढ़ाता है और उसी के द्वारा अन्तिम कपाल क्रिया करने पर माता-पिता को मोक्ष की प्राप्ति होती है।

छोटी आयु में विवाह

भारत में लगभग सभी माता-पिता अपने बच्चों का छोटी आयु में ही विवाह कर देते हैं, जिससे उनके प्रजनन-काल में वृद्धि हो जाती है और बच्चे अधिक पैदा होते हैं।

मनोरंजन के साधनों की कमी

मनोरंजन के साधनों की कमी होने के कारण अधिकांश लोग बच्चे पैदा करके ही अपना मनोरंजन करते हैं, फलस्वरूप जनसंख्या में वृद्धि हो जाती है।

परिवार को सीमित करने में धर्म का हस्तक्षेप

भारत के लोग अधिकतर रूढ़िवादी तथा अन्धविश्वासी हैं और उनका विचार है कि बच्चे तो भगवान की देन हैं। उनके जन्म में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप करना धर्म के विरुद्ध है। गर्भपात करवाना पाप है। अतः ये धारणाएँ जनसंख्या वृद्धि में सहायक है।

बड़े परिवार की धारणा

बड़े परिवार को अधिक आय का स्रोत माना जाता है। अधिकतर ग्रामीण परिवारों का यह विचार है कि परिवार में जितने अधिक सदस्य होंगे, परिवार की आय उतनी ही अधिक होगी। यह धारणा भी अधिक जनसंख्या का एक कारण है।

जनसंख्या विस्फोट के कारण उत्पन्न समस्याएँ

भारत स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् आत्म-निर्भर होने के भरसक प्रयत्न कर रहा है। इस उद्देश्य की पूर्ति भी हो जाती है, यदि भारत की जनसंख्या दिन दुगुनी रात चौगुनी न बढ़ती। इस जनसंख्या विस्फोट के कारण ही आज हमारे देश को कई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरे देशों पर निर्भर रहना पड़ता है। जनसंख्या की अनियंत्रित वृद्धि ने भारतवर्ष के सामने अनेक समस्याएँ खड़ी कर दी हैं।

हमारा देश एक महान प्रजातांत्रिक देश है। इसलिए इसका यह कर्त्तव्य है कि यह अपने देश के लोगों को उच्च स्तर का अच्छा जीवन व्यतीत करने के लिए हर सुविधा प्रदान करें। परन्तु बढ़ती हुई आबादी के कारण हमारा देश अपने निवासियों के खाने के लिए भोजन, रहने के लिए मकान तथा पहनने के लिए कपड़े तक मुश्किल से जुटा पाता है, जो जीवन की तीन मूल-भूत आवश्यकताएँ हैं।

आखिर क्यों? ऐसा इसलिए है कि यद्यपि हर वर्ष, उत्पादन में वृद्धि होती है, चाहे वह खाद्य पदार्थों का उत्पादन हो या फिर अन्य वस्तुओं का। रहने के लिए हर वर्ष, पहले वर्ष की अपेक्षा अधिक मकानों का इंतजाम किया जाता है, परन्तु इससे कहीं अधिक संख्या में आबादी बढ़ जाती है। इतना उत्पादन नहीं बढ़ता जितना कि उसे उपयोग में लाने वाले व्यक्तियों की संख्या बढ़ जाती है और इसी वजह से हमारी रोटी, कपड़ा और मकान की माँग में संतुलन बिगड़ जाता है, तो हमें महँगाई का मुँह देखना पड़ता है। प्रतिदिन काम आने वाली वस्तुओं की, जैसे—फल, सब्जियाँ, वस्त्र, दूध इत्यादि की माँग जब अधिक होगी और ये वस्तुएँ बाजार में कम मिलेंगी तो इन सब वस्तुओं की कीमत बढ़ जाएगी, जैसे—आजकल देखने में आ रहा है। यही कमी काला बाजारी को भी जन्म देती है।

साथ ही बढ़ती आबादी ने अपने रहने के लिए मकान बनाने के लिए, ईंधन के लिए लकड़ी प्राप्त करने के लिए वनों को काटना शुरू कर दिया है, जिससे प्राकृतिक संतुलन बिगड़ जाता है और बाढ़, अकाल, सूखा इत्यादि जैसी भयानक अवस्थाओं का सामना करना पड़ता है।

प्रजातंत्र की सफलता लोगों को वोट देने के अधिकार पर निर्भर करती है। यदि सभी लोग पढ़े लिखे होंगे तो अपने वोट के अधिकार का उचित प्रयोग कर सकेंगे तथा उपयुक्त उम्मीदवार को चुन सकेंगे। इसी तथ्य को सामने रखकर हमारे संविधान लागू होने के दस वर्षों के अन्दर 6 से 14 वर्ष के सभी बालकों को निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा देने का प्रावधान रखा था। उन दस वर्षों में तो क्या, हम आज तक भरसक प्रयत्नों के बावजूद भी अपने इस उद्देश्य को प्राप्त करने में असफल रहे हैं।

प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम भी कुछ विशेष परिणाम नहीं ला पा रहा है जिसके फलस्वरूप अभी भी लोग अनपढ़ होने के कारण शोषित होते हैं, बंधुआ मजदूर प्रणाली अभी भी चल रही है। आखिर ऐसा क्यों हो

रहा है? क्या हमारी सरकार इस दिशा में निष्क्रिय है? ऐसा नहीं है, इसकी जड़ में भी वही गंभीर समस्या है : बढ़ती हुई आबादी। हम जितने विद्यालयों का आयोजन करते हैं, बच्चे उनसे कहीं अधिक संख्या में हमारे सामने खड़े हो जाते हैं। अतः अभी भी सभी को शिक्षा देना एक समस्या बनी हुई है। यही बात कालेजों पर भी लागू होती है, जिससे विद्यार्थियों को उच्च शिक्षा में प्रवेश लेने में अत्यधिक कठिनाई होती है।

एक तरफ तो हम सभी व्यक्तियों को शिक्षा नहीं दे पा रहे और दूसरी तरफ कितने ही शिक्षित व्यक्ति बेरोजगार भटक रहे हैं। एक खाली स्थान के लिए सौ-सौ आवेदन पत्रों का आना इस समस्या का वास्तविक रूप हमारे सामने लाता है।

हमारे देश की केवल तीन प्रतिशत जनता ही उच्च स्तर का जीवन व्यतीत करती है। जब जीवन की सुख सुविधाएँ चन्द मुट्ठी भर लोगों के पास होंगी तो बाकी लोग किसी भी तरह से उन्हें प्राप्त नहीं करना चाहेंगे, जिससे अपराधों के बढ़ने का भय रहता है।

सिर्फ यही नहीं, जनसंख्या अधिक होने से प्रदूषण की समस्या, सामाजिक, नैतिक व आध्यात्मिक मूल्यों में गिरावट तथा सुविधाओं की कमी की समस्या भी उत्पन्न हो जाती है। आज कहीं भी जाना हो, तो बसों और गाड़ियों में जगह नहीं मिलती, बसों में खड़े होकर यात्रा करनी पड़ती है, कई बार तो बस में इतनी भीड़ होती है कि उसमें चढ़ना भी मुश्किल हो जाता है। प्रतिदिन सड़कों पर ट्रैफिक जाम मिलता है, गाड़ी में आरक्षित सीट लेने के लिए कई दिनों तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। मगर ध्यान से सोचा जाए तो इन सबका कारण जनसंख्या का अधिक होना ही है।

इस तरह से जनसंख्या विस्फोट ने देश के सामने अनेक समस्याएँ खड़ी कर दी हैं। जो निम्नलिखित हैं :-

- निरक्षरता की समस्या
- खाद्य पदार्थों की कमी की समस्या

– पौष्टिक तथा संतुलित आहार उपलब्ध करवाने की समस्या

– मकानों की कमी की समस्या

– विद्यालयी शिक्षा, उच्च शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा तथा तकनीकी शिक्षा, जैसे : मेडिकल तथा इंजीनियरिंग शिक्षा इत्यादि उपलब्ध कराने की समस्या

– स्त्री शिक्षा की समस्या

– शिक्षण स्तर में गिरावट की समस्या

– आर्थिक विकास की समस्या

– गरीबी की समस्या

– जन-शक्ति की समस्या

– बेरोजगारी की समस्या

– शिक्षित बेरोजगारी की समस्या

– भाई-भतीजावाद की समस्या

– जीवन स्तर के गिरने की समस्या

– सुविधाओं और अवसरों की कमी की समस्या

– यातायात की समस्या

– अधिक बिजली के उत्पादन की समस्या

– नैतिक मूल्यों में पतन की समस्या

– तस्करी की समस्या

– करों की चोरी की समस्या

– काले धन की समस्या

– वन-विनाश की समस्या

– प्राकृतिक पर्यावरण तथा सामाजिक प्रदूषण की समस्या

– धन के अनुचित विभाजन की समस्या

इस तरह हम देखते हैं कि हमारे देश की लगभग सभी प्रमुख समस्याओं की जड़ है अनियंत्रित जनसंख्या वृद्धि। यदि जनसंख्या नियंत्रित कर लेते हैं तो यह सभी समस्याएँ अपने आप ही सुलझ जायेंगी।

जनसंख्या शिक्षा के प्रमुख उद्देश्य (Main Objectives of Population Education)

बढ़ती हुई जनसंख्या को नियंत्रित करने के लिए शिक्षा के कुछ उद्देश्य निर्धारित किए गए हैं, जिससे जनसंख्या सम्बन्धी ज्ञान सभी लोग प्राप्त कर सकें और अधिक जनसंख्या से उत्पन्न होने वाली समस्याओं के समाधान में यथासंभव सहयोग दे सकें।

राष्ट्रीय सेमिनार, जनसंख्या शिक्षा, मुम्बई, अगस्त 1969 के अनुसार, "जनसंख्या शिक्षा का उद्देश्य, छात्रों में यह समझने की योग्यता उत्पन्न करना है कि परिवार का आकार नियंत्रित किया जा सकता है। जनसंख्या का सीमांकन, राष्ट्र के जीवन को उत्तम बनाने में सहायक है तथा साथ ही परिवार का छोटा आकार प्रत्येक परिवार के जीवन स्तर को भी ऊँचा उठाने में महत्त्वपूर्ण भमिका निभा सकते हैं।"

उपरोक्त कथन से दो बातों की ओर विशेष ध्यान जाता है :

– परिवार का आकार नियंत्रित किया जा सकता है।

– परिवार का छोटा आकार जीवन स्तर को ऊँचा उठाने में सहायता करता है।

जनसंख्या शिक्षा के अन्य मुख्य उद्देश्य ये हैं :–

– विद्यार्थियों को संसार की इस प्रमुख समस्या का ज्ञान प्राप्त कराना तथा उसका समाधान करने में सहायता करने के लिए प्रेरित करना।

– छात्रों को जनसंख्या वृद्धि के कारण उत्पन्न होने वाली अनेक समस्याओं से अवगत कराना, जैसे : रोटी, कपड़ा और मकानों

की कमी होना, आर्थिक स्तर का गिरना, धन की कमी के कारण सामाजिक कुरीतियों और अपराधों को बढ़ाना, रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार इत्यादि का बढ़ाना इत्यादि।

– कम आय के कारण होने वाली असुविधाओं से छात्रों को अवगत कराकर, उनमें छोटे परिवार सम्बन्धी धारणा उत्पन्न करना।

– अधिक जनसंख्या के कारण परिवार, समाज, देश तथा विश्व पर पड़ने वाले संकट का ज्ञान प्रदान करके, इसकी वृद्धि को रोकने के लिए प्रेरित करना।

– देश की विभिन्न जनसंख्या सम्बन्धी शिक्षा नीतियों और कार्यक्रमों से अवगत करवाना।

– छात्रों को विश्व और देश की जनसंख्या की वृद्धि दर तथा जनसंख्या संरचना का ज्ञान देकर, इसे नियंत्रित रखने के लिए अपने आप विचार करने के लिए प्रोत्साहित करना।

– छात्रों को मानसिक रूप से इस प्रकार तैयार करना कि उनका जनसंख्या के प्रति उचित दृष्टिकोण बन सके और वे न केवल अपने जीवन में ही छोटे परिवार की भावना को अपनाएँ, अपितु अपने आस-पास के सभी लोगों की भी छोटे परिवार के लाभों को बताकर जनसंख्या वृद्धि को रोकने में सक्रिय सहयोग दें।

– छोटे तथा सीमित परिवार के विभिन्न फायदों, जैसे : उच्च जीवन स्तर, माँ और बच्चे का अच्छा स्वास्थ्य, इत्यादि को समझाना।

– परिवार नियोजन के कार्यक्रमों को पूरे विश्व और अपने देश की आवश्यकता के संदर्भ में समझना।

जनसंख्या शिक्षा प्रदान करने हेतु सुझाव
(Suggestion for Imparting Population Education)

तीव्र दर से बढ़ती हुई जनसंख्या से उत्पन्न समस्याओं के समाधान के लिए 'जनसंख्या शिक्षा' को एक सशक्त माध्यम मान लेने के बाद प्रश्न यह उठता है कि जनसंख्या शिक्षा किस स्तर पर और

किस विधि से दी जाए?

इस सम्बन्ध में सभी शिक्षा शास्त्रियों का मत है कि यह शिक्षा प्राथमिक स्तर से ही प्रारंभ कर देनी चाहिए क्योंकि शिक्षा के सार्वभौमीकरण के कारण लगभग सभी बच्चे जो 6 से 14 वर्ष के बीच के आयु वर्ग में आते हैं, इस शिक्षा से प्रभावित हो सकते हैं और इसी स्तर पर बच्चे जो दृष्टिकोण तथा जीवन मूल्य बना लेते हैं, वे जीवनपर्यन्त कायम रहते हैं। प्राथमिक स्तर पर 'जनसंख्या शिक्षा' प्रत्यक्ष रूप से न दी जाकर, अप्रत्यक्ष रूप से दी जानी चाहिए, जैसे : किसी कहानी इत्यादि के माध्यम से। इसका कारण यह है कि इस स्तर के बालकों का मानसिक स्तर इतना विकसित नहीं होता कि वे प्रत्यक्ष रूप से जनसंख्या नियंत्रण की शिक्षा प्राप्त कर सकें और साथ ही हमारा समाज अभी भी संकीर्णताओं से घिरा होने के कारण 'जनसंख्या शिक्षा' जिसमें यौन शिक्षा का भी समावेश है, प्राथमिक स्तर पर देने की अनुमति नहीं देता।

माध्यमिक स्तर पर जनसंख्या शिक्षा प्रत्यक्ष रूप में दी जा सकती है क्योंकि इस स्तर पर बच्चों का मानसिक विकास, शारीरिक विकास, संवेगात्मक विकास तथा सामाजिक विकास हो जाता है। इस स्तर पर वे अपने आस-पास के वातावरण तथा सम्बन्धित समस्याओं को समझने लगते हैं जिससे उन्हें जनसंख्या विस्फोट के दुष्परिणामों से 'जनसंख्या शिक्षा' द्वारा अवगत कराया जा सकता है तथा 'छोटा परिवार सुखी परिवार' की शिक्षा दी जा सकती है।

स्नातक स्तर पर तथा स्नातकोत्तर स्तर एक ऐसा मोड़ है, जिसके पश्चात् विद्यार्थी वैवाहिक जीवन का प्रारंभ करते हैं और यदि उनकी धारणा सीमित परिवार की बन गई तो वे परिवार को सीमित रखेंगे और देश की प्रगति में सहयोग देंगे।

'जनसंख्या शिक्षा' को अध्यापकों के सेवा-पूर्व प्रशिक्षण और सेवारत प्रशिक्षण का एक अभिन्न अंग बनाया जाना चाहिए ताकि वे जनसंख्या शिक्षा को मिशनरी भावना के रूप में समझें और विद्यार्थियों के मस्तिष्क में सही निर्णय लेने के लिए आवश्यक मनोवैज्ञानिक आधार

तैयार कर सकें।

सेवा पूर्व प्रशिक्षण में बी.एड. के स्तर पर 'जनसंख्या शिक्षा' को एक ऐच्छिक विषय के रूप में रखा जा सकता है। साथ ही भारतीय शिक्षा की समस्याओं से सम्बन्धित अनिवार्य प्रश्न-पत्र के पाठ्यक्रम के साथ जोड़ा जा सकता है, जिससे सभी प्रशिक्षणार्थी 'जनसंख्या शिक्षा' ग्रहण कर सकें। इससे सम्बन्धित पाठ्य-सहगामी क्रियाओं के आयोजन से भी 'जनसंख्या शिक्षा' के कुछ उद्देश्यों की प्राप्ति की जा सकती है।

एम.एड. के स्तर पर भी यह ऐच्छिक प्रश्न-पत्र के रूप में रखा जा सकता है। ऐसा कई विश्व विद्यालयों ने अपने पाठ्यक्रम में अपना भी लिया है।

शिक्षा में अनुसंधान स्तर पर भी इसे बढ़ावा दिया जा सकता है। सेवारत प्रशिक्षण के लिए आयोजित किए गए अभिविन्यास कार्यक्रमों द्वारा भी अध्यापकों को इससे सम्बन्धित प्रशिक्षण दिया जा सकता है।

शिक्षा के उद्देश्य, देश की बदलती परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार बदलते रहते हैं। जनसंख्या शिक्षा के उद्देश्य भी वर्तमान परिस्थितियों को सामने रखकर निर्धारित किए गए हैं। अब प्रश्न इन उद्देश्यों की प्राप्ति के माध्यम तथा कार्यक्रम का आता है। इन्हें प्राप्त करने के लिए पाठ्यक्रम, विद्यालय, विश्वविद्यालय तथा अध्यापकों की सहायता लेनी होगी।

पाठ्यचर्या द्वारा (By Curriculum)

किसी भी उद्देश्य को शिक्षा के माध्यम से प्राप्त करने के लिए पाठ्यचर्या एक महत्त्वपूर्ण साधन है। जनसंख्या की शिक्षा एक अलग विषय के रूप में भी दी जा सकती है तथा सभी विषयों में सम्मिलित करके भी दी जा सकती है। इसके अतिरिक्त पाठ्य सहगामी क्रियाओं तथा अनुगामी क्रियाओं द्वारा भी जनसंख्या शिक्षा दी जा सकती है, जिससे विद्यार्थियों में इस समस्या के प्रति जागरूकता उत्पन्न हो सके। पाठ्य सहगामी क्रियाओं में विषय सम्बन्धी कविता पाठ, भाषण प्रतियोगिता, नाटक, वाद-विवाद प्रतियोगिता, सेमिनार, कठपुतली का नाच, शैक्षिक

भ्रमण, निबन्ध प्रतियोगिता, प्रदर्शनी तथा अन्य सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन करना चाहिए। चार्ट, मॉडल द्वारा भी यह शिक्षा दी जा सकती है।

विद्यालय द्वारा (By School)

विद्यालय समाज का एक लघु रूप माना जाता है और बच्चा विद्यालय के सामाजिक वातावरण में ही शिक्षा प्राप्त करता है। आज के युग में शिक्षा एक सामाजिक आवश्यकता बन गई है। जनसंख्या सम्बन्धी समस्या का निवारण करने के लिए स्कूलों को अपने शैक्षिक कार्यक्रमों में निम्नलिखित बातों को सम्मिलित करना चाहिए:–

– अन्य विषय पढ़ाते समय उनका सहसम्बन्ध जनसंख्या शिक्षा से किया जाना चाहिए।

– जनसंख्या सम्बन्धी पाठ्य सहगामी और अनुगामी क्रियाओं का आयोजन भी विद्यालय में समय-समय पर किया जाना चाहिए।

– विद्यालय तथा समाज वास्तव में एक दूसरे के पूरक और सहायक सिद्ध होने चाहिए। अत: समाज के मूल्यों का स्कूल पूर्ण रूप से प्रचार करे और समाज में परिवर्तन लाने में सहायता करे।

– विद्यालय विद्यार्थियों को विद्यालय की सभी गतिविधियों में सक्रिय भाग लेने के लिए प्रेरित करें तथा उनकी प्रगति से उनके माता-पिता को भी अवगत कराएँ ताकि बच्चे स्कूल के कार्यक्रमों में अधिक से अधिक सहयोग दें।

अध्यापक की भूमिका (Role of the Teacher)

अध्यापक को राष्ट्र का निर्माता कहा जाता है। विद्यार्थियों के लिए अध्यापक एक जीवित आदर्श भी है। वे अपने जीवन में उसी के आदर्शोंका पालन करते हैं। जो जीवन मूल्य अध्यापक अपने विद्यार्थियों में उत्पन्न कर देता है, वे उसके जीवन का एक हिस्सा बन जाते हैं। तभी कहा गया है कि अध्यापक के आदर्श बहुत ऊँचे होने चाहिए, क्योंकि वह बच्चों का एक आदर्श है, जिसका वे अनुकरण करते हैं।

अध्यापक जनसंख्या शिक्षा के लिए एक उचित वातावरण उत्पन्न कर सकता है, जिससे यह शिक्षा प्रभावी होगी, जैसे :–

– वह पढ़ाते समय शिक्षण विधियों के माध्यम से जनसंख्या शिक्षा भी देता रहे।

- उसे विशाल दृष्टिकोण वाला होना चाहिए।
- वह समाज से सदा सहयोग प्राप्त करे तथा जनसंख्या शिक्षा के कार्यक्रम को सफल बनाए।
- वह इतना सजग हो कि छात्रों के मानसिक स्तर को समझ सके तथा वातावरण उत्पन्न करके ही उन्हें जनसंख्या शिक्षा दे, जिससे इसका प्रभाव स्थाई रूप से छात्रों पर पड़े।
- उसका राष्ट्र की जनसंख्या नीति में पूर्ण विश्वास होना चाहिए।
- पाठ्य सहगामी क्रियाओं के आयोजन में उसे उत्साह दिखाना चाहिए।
- उसे जनसंख्या सम्बन्धी समस्याओं का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए जिससे जनसंख्या शिक्षा के लक्ष्यों की प्राप्ति में वह पूर्ण रूप से भागीदार बने।

इस प्रकार पाठ्यचर्या, विद्यालय, विश्वविद्यालय तथा अध्यापकों द्वारा जनसंख्या शिक्षा दी जा सकती है और इसके उद्देश्यों की प्राप्ति भी की जा सकती है। शिक्षा अधिकारियों, शिक्षा निदेशकों, मुख्याध्यापकों, राज्य सरकारों तथा समाज के सहयोग से इस कार्यक्रम को अधिक सफल बना सकते हैं। परन्तु वे लोग जो स्कूल नहीं जाते, जो निरक्षर, रूढ़िवादी और अंधविश्वासी हैं, उन्हें किस प्रकार जनसंख्या शिक्षा दी जाए, यह बात भी विचारणीय है। इसके लिए सरकार ने जन-संचार माध्यमों को चुना है और इनके द्वारा सीमित परिवार की शिक्षा दी जा रही है। कृषि भूमि के बंटवारे को किस प्रकार से रोका जा सकता है, यह बात भी भारत के किसानों को समझ आने लगी है।

जनसंख्या शिक्षा एक ऐसा परिवार है, जिसके द्वारा देश में नये विचारों की क्रांति लानी है, जिससे लोगों के जीवन-मूल्यों, सोचने-विचारने के ढंगों, जीवन-दर्शन तथा दृष्टिकोण में परिवर्तन लाया जा सके और जनसंख्या शिक्षा के मूलभूत विचार को समझ कर देश की इस भीषण समस्या को सुलझाने में सक्रिय सहयोग दे सकें।

[6]

राष्ट्रीय विकास और शिक्षा
(National Development and Education)

प्राचीन काल में शिक्षा का उद्देश्य चरित्र एवं ज्ञान का विकास था। परन्तु समय के परिवर्तन और समाज की जटिलता के साथ-साथ उद्देश्यों में परिवर्तन आ गया। प्राचीन काल में प्राकृतिक सम्पदा की कोई समस्या नहीं थी। भारत दूध की नदियों और सोने की चिड़ियों का देश कहा जाता था। भारतवासियों को अभाव का पता नहीं था। परन्तु आज भारत निर्धनता और भूख से पीड़ित है। फलत: शिक्षा के उद्देश्य भी बदल गए हैं। शिक्षा भौतिक रूप से अर्थ-पूर्ण और लक्ष्य-पूर्ण होनी चाहिए। आज शिक्षा को अपने आपको व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के विकास के साथ जुड़ा होना चाहिए। इसके लिए शिक्षा की सही योजना होनी चाहिए ताकि वह प्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रीय विकास में योगदान दे सके।

राष्ट्रीय विकास की अवधारणा
(Concept of National Development)

एक व्यक्ति के विकास की भाँति ही राष्ट्र का भी चतुर्मुखी विकास होना आवश्यक है। राष्ट्रीय विकास का अर्थ है 'आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एव राजनैतिक विकास।' यह एक गतिशील एवं विकासशील प्रक्रिया है। यह एक प्रक्रिया है जो व्यक्तियों को अपनी महत्त्वाकांक्षाएँ पूरी करने के अवसर प्रदान करती है। यह एक ऐसी कार्य योजना है जिसके अन्तर्गत राष्ट्र की विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ राष्ट्रीय विकास की दिशा में एकजुट होकर उन्मुख हो जाती हैं। इसका मतलब है कि राष्ट्र के विकास के लिए उत्तरदायी विभिन्न कारकों एवं शक्तियों

में हम एकात्मकता पैदा करें। इसका अर्थ है उद्योग एवं कृषि के बीच में एक संतुलित समझौता।

जॉन डीवी के अनुसार, "राष्ट्रीय विकास समस्त नागरिकों का सम्मिलित प्रयास है और इसके अतिरिक्त शक्ति, ज्ञान, कौशल तथा समस्त मानवीय एवं प्राकृतिक साधनों का विकास है।"

सन् 1921 में यू.एन.ओ. ने अपनी सामान्य सभा में राष्ट्रीय विकास के निम्नलिखित तत्त्व बताए थे–

- सबके लिए सामान्य जीवन स्तर
- सबकी लाभ में समान भागीदारी
- आय एवं धन का समान वितरण
- शिक्षा, स्वास्थ्य, पोषण, निवास एवं कल्याण सम्बन्धी सुविधा का विस्तार
- पर्यावरण की सुरक्षा

संयुक्त राष्ट्र संघ की रिपोर्ट में विकास का अर्थ इन शब्दों में दिया गया है "विकास का अर्थ है वृद्धि एवं परिवर्तन। यह परिवर्तन, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक होता है। यह गुणात्मक भी हो सकता है परिमाणात्मक भी।"

जिस क्षण हम राष्ट्रीय विकास की बात करते हैं हमें इस बात की पुष्टि होनी चाहिए कि हमारा देश अविकसित या अर्द्धविकासशील देशों की गिनती में तो नहीं आता। अक्सर हम विकास एवं आधुनिकीकरण को एक समझ लेते हैं, परन्तु वास्तव में ये भिन्न हैं। विकास आधुनिकीकरण से उसी प्रकार भिन्न है जिस प्रकार अविकसित पिछड़ेपन से। ये बिन्दु निम्नलिखित हैं–

पूँजी का अभाव

इसका अर्थ है कि सामानों को पूँजी में परिवर्तित नहीं किया जा रहा है। हमें विभिन्न सामानों की पूँजी में परिवर्तित करना होगा।

पिछड़ी तकनीकी

यदि हम अपने उद्योगों में नई विकसित मशीनों तथा उचित रूप से प्रशिक्षित तकनीकी कौशल का उपयोग नहीं करते तो हमारी तकनीकी पिछड़ी हुई कही जायेगी।

स्थिर अर्थ व्यवस्था

हमारी अर्थ-व्यवस्था में यदि विकास नहीं होता और वह वहीं की वहीं स्थिर रहती है जहाँ दस साल पूर्व थी तो राष्ट्र का विकास नहीं हो सकता।

विकास के समुचित उपयोग का अभाव

जो हमारी सम्पदा और तकनीक है उसे हम विकास की दिशा में किस हद तक लगा पाते हैं उस पर हमारा विकास बहुत निर्भर करता है। इनका समुचित प्रयोग करने वाले देश ही विकसित राष्ट्रों की गिनती में आ पाते हैं।

पूँजी का अभाव

वृद्धि एवं विकास तीन विभिन्न रूपों में घटित होते हैं:–

विकासशील वृद्धि– जनसंख्या की वृद्धि के अनुपात में राष्ट्रीय आय की अधिक वृद्धि।

पिछड़ी वृद्धि– जनसंख्या वृद्धि के अनुपात में राष्ट्रीय आय की कम वृद्धि।

स्थिर वृद्धि– जनसंख्या और राष्ट्रीय आय की समान अनुपात में वृद्धि।

परन्तु राष्ट्रीय विकास के लिए विकासशील वृद्धि की आवश्यकता है।

अविकसित प्राकृतिक सम्पदा

प्राकृतिक सम्पदा यदि बहुलता में हो तब भी वह अपने आप विकास में योगदान नहीं दे सकती। प्राकृतिक सम्पदा को दो तरीकों से

आर्थिक मूल्य प्राप्त कराया जा सकता है। प्रथमतः प्राकृतिक सम्पदा को पूरक कारक उचित मूल्यों एवं प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होना चाहिए। यदि प्राकृतिक सम्पदा का सही प्रयोग नहीं किया जाता तो राष्ट्र का विकास संभव नहीं।

अर्थ का अभाव

अ्रथ के रूप में पूँजी का अभाव हो तो विकास प्रक्रिया के कई कार्य ढीले पड़ जाते हैं। अर्थाभाव में हम सफल कुशल श्रम तथा उच्च तकनीक का प्रयोग नहीं कर पाते।

पूँजी का अर्द्ध उपयोग

कृषि में यह सबसे अधिक हो रहा है जितनी सम्पदा का इस्तेमाल करते हैं उतना उत्पादन नहीं हो पाता।

निर्यात पर निर्भरता

कच्चे माल का निर्यात करके पूँजी बनाया या आय प्राप्त करना विकास की निशानी नहीं है। यह राष्ट्रीय विकास के लिए खतरनाक है। कच्चे माल का प्रयोग स्वयं करना चाहिए। तैयार माल का निर्यात विकास की निशानी है जबकि कच्चे माल का निर्यात अविकसित राष्ट्र की पहचान है।

जनसंख्या

जनसंख्या वृद्धि और जनसंख्या विभाजन का राष्ट्रीय विकास में बहुत बड़ा महत्त्व है। जनसंख्या कई तरीकों से राष्ट्रीय विकास के लिए महत्त्वपूर्ण है :–

- जनसंख्या का गुण– विशेषकर शिक्षा और स्वास्थ्य के क्षेत्र में।
- विशेषकर श्रम करने वालों की संख्या।
- जनसंख्या वृद्धि की गति।
- जनसंख्या की संरचना– विशेषकर पुरुष, स्त्रियों, बच्चों और वृद्धों का अनुपात।
- शहरी और ग्रामीण इलाकों में जनसंख्या का विभाजन।

बेरोजगारी

बेरोजगारी राष्ट्रीय विकास की बड़ी बाधा है। इससे व्यक्ति का नैतिक पतन होता है। मानव शक्ति का पूर्ण सदुपयोग राष्ट्र के विकास के लिए निहायत जरूरी है। हर योग्य वयस्क को राष्ट्र के प्रति अपना योगदान देने के लिए अपेक्षित निश्चित घंटों तक काम करना ही चाहिए। बेरोजगारी कई प्रकार की हो सकती है।

छिपी बेरोजगारी अपने आपको दो तरीकों में दर्शाती है– (1) योग्यता से कम उत्पादक कार्यों में लगाना, (2) किसी व्यवसाय विशेष में अपेक्षित संख्या से अधिक लोगों का लगाना। पहली प्रकार की छिपी बेरोजगारी उद्योग में तथा दूसरी प्रकार की कृषि में पाई जाती है।

सीज़नल बेरोजगारी के कारण मानव और भौतिक दोनों ही पूँजियों का पूर्ण उपयोग नहीं हो पाता।

औद्योगिक बेरोजगारी तब होती है जब मनुष्य का स्थान मशीन ले लेती है। यदि बेरोजगार श्रमिकों की कुशलता का उचित उपयोग किसी और जगह कर लिया जाए तो इससे विकास में बाधा नहीं पहुँचती।

पिछड़े मानव संसाधन

कुपोषण, अस्वास्थ्य, अशिक्षा, प्रशिक्षण का अभाव, गतिशीलता में कमी आदि मानव संसाधन की योग्यता को कम करते हैं। मानव संसाधन के उचित उपयोग के लिए इन सबको दूर करना परम आवश्यक है।

एन्टरप्रेनियरशिप का अभाव

राष्ट्रीय विकास के लिए एन्टरप्रेनियरशिप का होना अति आवश्यक है। अविकसित देशों में इतनी तरह की भ्रान्तियाँ, अलगाव एवं मिथ्या मान्यताएँ हैं कि किसी प्रकार के नए परीक्षण एवं विकास हेतु किए गए कार्यों को हीन भावना से देखा जाता है।

अत्यधिक आदर्शवादिता

अत्यधिक आदर्शवादिता भी विकास की राह में रोड़े अटकाती है। आत्मसंतुष्टि एवं महत्त्वाकांक्षाओं का अभाव व्यक्ति को आर्थिक विकास के पथ पर बढ़ने नहीं देता।

असल में जब हम राष्ट्रीय विकास की बात करते हैं तो हम आर्थिक विकास की बात करते हैं। जिस राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था निर्धन होगी, वहाँ के मस्तिष्क भी धीरे-धीरे निर्धन हो जाते हैं। ऐसे राष्ट्र का सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक विकास भी रुक जाता है।

आर्थिक विकास में योजना का महत्त्व
(Importance of Planning in Economic Development)

आर्थिक विकास (Economic Development)

आज के प्रतियोगिता वाले युग में अन्ततः आर्थिक विकास ही मुख्य भूमिका निभाता है। आर्थिक दिवालियापन राजनैतिक भ्रष्टाचार, सामाजिक पिछड़ापन, मनोवैज्ञानिक असंतुलन एवं सांस्कृतिक ह्रास की दिशा प्रदान करता है। आत्म-निर्भरता विकास की पहली शर्त है। किसी राष्ट्र के विकास, स्वतंत्रता, एवं मान मर्यादा की रीढ़ की हड्डी है आर्थिक विकास। आर्थिक विकास के विभिन्न घटक निम्नलिखित हैं–

पूँजी निर्माण

वर्तमान सम्पदा के उस भाग को हम पूँजी कहते हैं जिन्हें हम आगे के उत्पादन के लिए इस्तेमाल करते हैं। जिन सम्पदाओं को उपभोग करके समाप्त कर दिया जाए उन्हें हम पूँजी नहीं कह सकते। यह पूँजी तीन प्रकार की हो सकती है जैसे–(अ) भौतिक पूँजी : जैसे–जमीन, खनिज, जल, कच्चा माल, अर्थ (ब) अभौतिक पूँजी : जैसे–स्वास्थ्य, ज्ञान, कौशल, शिक्षा जो मानव संसाधन में निहित है (स) विदेशी मुद्राः यह भी पूँजी है परन्तु यह स्थाई पूँजी नहीं है। स्थाई पूँजी का निर्माण आर्थिक विकास हेतु आवश्यक है।

उच्च तकनीक

आर्थिक विकास का यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण घटक है। इसके बगैर सम्पदा को पूँजी में परिवर्तित नहीं किया जा सकता। उच्च तकनीक का अर्थ विदेशी तकनीक और तकनीशियनों का निर्यात नहीं वरन् उनका अपनी परिस्थितियों में उपयोग है। उचित प्रशिक्षण, अनुकूल परिस्थिति, शिक्षित जनता, प्रचुर धन एवं बड़ी संख्या में प्रशिक्षकों की उपलब्धि न हो तो विदेशी तकनीकी ज्ञान और मशीनें लाभ के बजाए नुकसान कर सकती हैं। अपने राष्ट्र की मूल्य व्यवस्था, पर्यावरण, मौसम आदि के अनुकूल जब तक विदेशी ज्ञान और मशीनों को ना ढाला जाए विकास असंभव है।

साधनों का विभाजन

साधनों का उचित विभाजन विकास की पहली शर्त है। पूँजी का पुनः प्रयोग, सीमित साधनों का बार-बार प्रयोग, साधनों को कहाँ लगाना है ताकि उनका उचित लाभ मिल सके, इत्यादि अधिक आय के लिए बहुत ही आवश्यक है।

पूर्ण रोजगार

सभी को उसकी क्षमता और योग्यता के अनुसार पूर्ण रोजगार मिलना आवश्यक है।

जनसंख्या की सही वृद्धि और विभाजन

मानव शक्ति आर्थिक आय के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। परन्तु यदि यही आवश्यकता से अधिक हो जाए तो यह बाधक बन जाती है। जनसंख्या की सीमा, गुण, संरचना, आदि महत्त्वपूर्ण कारक हैं।

भूमि

भूमि का अर्थ है प्राकृतिक सम्पदा। भूमि का स्वरूप, वन सम्पदा, खनिज, जल ऊर्जा, वर्षा, तापक्रम और भौगोलिक परिस्थितियाँ सभी किसी राष्ट्र के आर्थिक विकास को प्रभावित करती हैं।

श्रम

श्रम का प्रकार, संख्या, कुशलता, उनकी बहुलता या अभाव, उनका स्थान, विभाजन, ये सब आर्थिक विकास के प्रमुख कारक हैं।

एन्टरप्रेनियरशिप

विशेषकर औद्योगीकरण के लिए इसका बड़ा महत्त्व है। अविकसित देशों में मुख्य भूमिका सरकार की होती है जबकि विकसित देशों में इनकी होती है।

योजना

यह सबसे मुख्य घटक है। योजना के अभाव में न तो श्रम विभाजन हो सकता है न मूल्य निर्धारण, न तो माल की खपत हो सकती है न माल की उपलब्धि। यदि आर्थिक फैसले लेने वाले अच्छे योजनाकार हैं तो आर्थिक विकास अवश्यंभावी है।

इस प्रकार हमने देखा कि वे कौन से कारक हैं जो आर्थिक विकास में बाधक हैं। हमें उन्हें दूर करने का प्रयास करना होगा।

आर्थिक विकास की बातें

आर्थिक विकास की बातें निम्नलिखित हैं–

संरचनात्मक परिवर्तन

देश की पूरी संरचना और व्यवस्था में कुछ परिवर्तन लाने की जरूरत है। हमें परिवर्तन इन दिशाओं में लाने होंगे–

- कृषि में लगी हुई जनसंख्या को सीमित करना।
- औद्योगिक क्षेत्रों में मानव शक्ति की वृद्धि।
- साधनों के विभाजन में परिवर्तन, जो भी उपलब्धि हैं, उन सबका उचित प्रयोग करना।

अनूकूल वातावरण

प्रतिकूल वातावरण में पूँजी एवं साधन दोनों का ह्रास होता है। लोगों में, कानून में, धार्मिक, राजनैतिक संस्थाओं इत्यादि सभी में आर्थिक विकास की इच्छा होनी चाहिए।

विकास की संभावना में विश्वास

जब तक लोगों में इस संरचना के प्रति विश्वास नहीं होता, किसी भी प्रकार के विकास कार्य को शुरू करना व्यर्थ हो जाता है।

रूढ़ियों एवं गलत परम्पराओं का नारा

रूढ़ियाँ एवं गलत परम्पराएँ बहुत से नवीन प्रयोगों को रोक देती हैं। मशीनीकरण और नई-नई शोधों का प्रयोग इनकी उपस्थिति में असंभव हो जाता है।

सहायक सामाजिक मूल्यों का निर्माण

श्रम विभाजन, शारीरिक श्रम का महत्त्व एवं आदर, शिक्षा का महत्त्व आदि मूल्यों का होना निहायत आवश्यक है।

कानून एवं व्यवस्था

इसके अभाव में तो विकास असंभव है।

इस प्रकार हमने देखा कि आर्थिक विकास किस प्रकार लाया जा सकता है। अब हम आगे की चर्चा में ये देखेंगे कि योजना से हमारा क्या अभिप्राय है और आर्थिक विकास में योजना का क्या महत्त्व है।

राष्ट्र के अधिकतम लाभ के लिए राष्ट्र की वर्तमान भौतिक, मानसिक एवं आर्थिक शक्तियों का सर्वोत्तम उपयोग करने के लिए सोच समझकर उनको इस्तेमाल में लाने के नए तरीकों का निर्माण करना योजना है। योजना का अर्थ है मानव पूँजी का सही इस्तेमाल तथा मानव एवं भौतिक संसाधनों की गुणवत्ता बढ़ाना प्राकृतिक साधनों का वैज्ञानिक विभाजन एवं उपयोग, सर्वोत्तम लाभ पाने के लिए मानवीय तथा भौतिक साधनों का समझौता है। अनियोजित व्यवस्था की अपेक्षा सुनियोजित अर्थ व्यवस्था में आर्थिक विकास की संभावना अधिक होती है।

भारत में राष्ट्रीय योजना विकास का गठन पण्डित नेहरू की अध्यक्षता में सन् 1937 में हुआ था। परन्तु द्वितीय विश्व युद्ध के कारण इसका कोई लाभ नहीं हुआ। श्री जे.पी. नायक के शब्दों में-"यह पहली संस्था थी जिसने सामाजिक, आर्थिक विकास के हिस्से के रूप में

शैक्षिक योजना के विषय में विचार किया।" सन् 1944 में जॉन सारजेन्ट ने एक वृहत् शिक्षा योजना तैयार की थी जिसे केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार समिति ने मान्यता दी थी। परन्तु उसके बाद हमें स्वतंत्रता मिली और इसी शिक्षा योजना को आगे दूसरे रूप में इस्तेमाल किया गया। सही अर्थों में राष्ट्रीय योजना आयोग का गठन सन् 1949 में हुआ। यह मंत्रिमण्डल की एक सलाहकार समिति है।

शैक्षिक विकास के लिए योजना में कुछ निश्चित कदम होते हैं। जो निम्नलिखित हैं–

- राष्ट्रीय विकास के लक्ष्यों को निर्धारित करना।
- इन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए शैक्षिक योजना बनाना।
- शिक्षा संस्थाओं के लिए निश्चित उद्देश्यों का निर्धारण।
- इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए कार्य योजना का निर्धारण।
- योजना को कार्यान्वित करने की रूपरेखा प्रदान करना।
- लगातार मूल्यांकन करना।
- मूल्यांकन के आधार पर पुनः योजना बनाना।

अब तक भारत में नौ पंचवर्षीय योजनायें लागू हो चुकी हैं। दसवीं पंचवर्षीय चल रही है। हम उनकी उपलब्धियों का एक-एक करके वर्णन करेंगे।

प्रथम पंचवर्षीय योजना (1951-52 से 1955-56)

इस योजना में शिक्षा के विस्तार 159.66 करोड़ रुपयों की व्यवस्था की गई थी। पहली बार सामाजिक एवं वयस्क शिक्षा को महत्त्व दिया गया था।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना (1956-57 से 1960-61)

इसने पहली बार शिक्षा को आर्थिक विकास से जोड़ने की बात की। इसमें कृषि से हटकर उद्योग पर जोर दिया गया और आखिर में कहा गया कि आर्थिक विकास जन साधारण के कल्याण के लिए पूरी

तरह काम कर सके, इसके लिए आवश्यक है कि शिक्षा आर्थिक विकास के आगे चले। इस योजना में 307 करोड़ रुपये की व्यवस्था शिक्षा के लिए की गई थी और पहली बार उच्च शिक्षा पर बल दिया गया।

तृतीय पंचवर्षीय योजना (1961-62 से 1965-66)

राष्ट्र के आर्थिक एवं तकनीकी विकास के लिए इसने शिक्षा को महत्त्वपूर्ण माना। इसमें भारी उद्योगों पर बल दिया गया। कृषि के विकास पर भी ध्यान दिया गया और भारी उद्योगों की स्थापना भी की गई। तकनीकी शिक्षा का भी प्रबन्ध किया गया। इस योजना के दौरान राष्ट्रीय आय में 20 प्रतिशत की वृद्धि हुई।

चौथी पंचवर्षीय योजना (1969-70 से 1973-74)

बीच में कुछ समय मंदेपन का दौर आया। इस योजना ने तकनीकी और औद्योगिक विकास पर बल दिया। शिक्षा का व्यावसायीकरण किया गया। राष्ट्र के सामाजिक एवं आर्थिक उद्देश्यों को शिक्षा से जोड़ा गया। इसके लिए 822.66 रुपयों की व्यवस्था की गई।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना (1974 से 1979)

कुछ अनुमानित खर्च 1450 करोड़ से बढ़कर 2287 करोड़ आंका गया। जनता पार्टि की सरकार के राज्य में पहले तीन वर्षों की अपेक्षा उपलब्धियाँ बेहतर रहीं। कार्य, अनुभव, शिक्षक प्रशिक्षण और अनौपचारिक शिक्षा पर जोर दिया गया।

छठी पंचवर्षीय योजना (1980 से 85)

मुख्य महत्त्व दलित वर्ग के उत्थान को दिया गया। परिवार नियोजन का रूप परिवर्तित करके इसे लागू किया गया। जनसंख्या शिक्षा पर जोर डाला गया। ग्रामीण विकास एवं बीस सूत्री कार्यक्रम को कारगर करने की दिशा में कदम उठाए गए। परिमाण से अधिक गुण पर ध्यान दिया गया। शिक्षा को संस्कृति और राष्ट्रीय एकता का माध्यम माना गया।

सातवीं पंचवर्षीय योजना (1986 से 1990)

1986 में शिक्षा की राष्ट्रीय योजना प्रकाशित हुई। विभिन्न क्षेत्रों में मूल्यांकन की आवश्यकता समझी गई। 6382.65 करोड़ रुपये की व्यवस्था शिक्षा के लिए की गई। तकनीकी एवं औद्योगिक विकास पर इस योजना में जोर डाला गया है।

आठवीं पंचवर्षीय योजना (1992-97)

इस योजना में ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी दूर करने, उत्पादक रोजगार जुटाने, औद्योगिक तथा विज्ञान प्रौद्योगिकी विकास पर विशेष बल दिया गया। इस योजना में 7,98,000 करोड़ रुपये के कुल परिव्यय का प्रावधान रखा गया। इसमें उच्च शिक्षा की जगह प्राइमरी शिक्षा पर जोर दिया गया तथा देश से निरक्षरता दूर करने का संकल्प लिया गया।

नौवीं पंचवर्षीय योजना (1997-2002)

इस योजना में व्यावसायिक शिक्षा और प्राथमिक शिक्षा पर विशेष बल दिया गया। कौशल प्रशिक्षण और उच्च शिक्षा के प्रचार-प्रसार हेतु मुक्त विश्वविद्यालय खोलने और शिक्षा की गुणवत्ता सुधार पर विशेष बल देने की बात कही गई। इस योजना में रोजगार के पर्याप्त अवसर पैदा करने तथा गरीबी उन्मूलन हेतु कृषि तथा ग्रामीण क्षेत्रों को प्राथमिकता दी गई। इसके अतिरिक्त महिलाओं और सामाजिक दृष्टि से उपेक्षित समूहों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति ऊँची करने, पंचायती राज संस्थाओं को अधिक मजबूत बनाने तथा इनमें लोगों की भागीदारी सुनिश्चित करने को प्राथिमिकता दी गई।

दसवीं पंचवर्षीय योजना (2002-2007)

दसवीं योजना में गरीबी के अनुपात में कमी करने के लक्ष्यों, स्कूलों व बच्चों के सार्वभौमिक, दाखिले, साक्षरता दर बढ़ाये जाने, शिशु और मातृ-मृत्यु दर में कमी लाने, रोजगार व विकास दर बढ़ाने, साफ पीने के पानी की दृष्टि से गाँव की संख्या में सुधार लाने, साक्षरता और मजदूरी दरों के मामलों में लिंग भेद में कमी करने, प्रमुख प्रदूषित नदियों

की सफाई, वन क्षेत्र बढ़ाने और जनसंख्या दर में कमी करने आदि पर विशेष बल दिया गया।

ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना (2007-2012)

ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना में प्राथमिक शिक्षा में नामांकन दर बढ़ाये जाने, शिशु मृत्युदर में कमी लाने, विकास दर बढ़ाने, कृषि, वानकी, स्वास्थ्य, पेय जल की समस्या के दूर करने विद्युत परियोजनाओं के साथ शिक्षा के प्रत्येक अंत में अभियान चलाने पर बल दिया गया। व्यावसायिक शिक्षा, उद्योगपरक शिक्षा को बढ़ावा दिया गया। विश्व विद्यालयों की स्वायत्तता को सुनिश्चित करते हुए नये केन्द्रिय विश्वविद्यालयों की स्थापना पर विशेष ध्यान दिया गया।

योजना आर्थिक एवं राष्ट्रीय विकास के रीढ़ की हड्डी है। बगैर सही और उत्तम योजना के विकास हो ही नहीं सकता।

अब हम देखेंगे कि आर्थिक विकास में शिक्षा क्या भूमिका निभाती है।

आर्थिक विकास में शिक्षा की भूमिका
(Role of Education in Economic Development)

शिक्षा के अभाव में राष्ट्रीय योजनाएँ न तो बन सकती हैं, न लागू हो सकती हैं। आर्थिक विकास योजना के बगैर अधूरा है और योजना शिक्षा के बिना असंभव। इस तरह आर्थिक विकास की योजना में शिक्षा महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

राष्ट्रीय योजनाओं का निर्माण

विभिन्न क्षेत्रों में विशेषज्ञों के बगैर योजनाएँ नहीं बन सकतीं। कृषि का विशेष ज्ञान रखने वाला व्यक्ति ही कृषि संबंधी योजनाओं का निर्माण कर सकता है। अतः केवल एक शिक्षाशास्त्री ही शैक्षिक विकास की योजनाएँ बनाने के लिए सही व्यक्ति है।

राष्ट्रीय योजनाओं की सफलता

योजनाओं की सफलता शिक्षा पर निर्भर करती है। इन योजनाओं

का कार्यन्वयन शिक्षा के अभाव में नहीं हो सकता। इन योजनाओं के बारे में ज्ञान प्रदान करने के तरीके भी शिक्षा ही विकसित कर सकती है।

योजनाओं का मूल्यांकन

ये योजनाएँ ठीक हैं या नहीं, इनमें कुछ सुधार की आवश्यकता है या नहीं, इन सबका पता शिक्षा से ही लग सकता है। इन योजनाओं की व्याख्या और मूल्यांकन के लिए शिक्षा आवश्यक है।

विकास के विभिन्न क्षेत्रों में अनुसंधान

ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में अनुसंधान करना शिक्षा का ही काम है। इन अनुसंधानों का विकास के लिए बड़ा महत्त्व है।

उत्पादन में वृद्धि

शिक्षा नई तकनीकी विधियों का विकास करके, इन विधियों में लोगों को प्रशिक्षित करके, इन विधियों को अपनी परिस्थितियों में ढाल कर और उनमें उचित संशोधन करके, उत्पादन में वृद्धि करती है।

राष्ट्रीय आय का उचित विभाजन

यह शिक्षित ही कर सकता है।

शिक्षा एक अप्रत्यक्ष पूँजी का काम करती है

यह मानव संसाधन को पूँजी में परिवर्तित करती है।

मानव शक्ति का निर्माण

प्रशिक्षण द्वारा शिक्षा विभिन्न क्षेत्रों में काम करने के लिए मानव शक्ति का निर्माण करती है।

अपनी आय में वृद्धि

एक शिक्षित व्यक्ति हमेशा अपनी आय में वृद्धि करना चाहता है और फलस्वरूप राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है।

व्यवसाय की अधिक संभावनाएँ

शिक्षा द्वारा मनुष्य में गतिशीलता आती है और लोग सांस्कृतिक ठहराव के बंधन से मुक्त हो जाते हैं। वे दूसरे स्थानों पर व्यवसाय करने को तैयार हो जाते हैं। इस प्रकार व्यवसाय के नए आयाम खुल जाते हैं।

आर्थिक शोषण का मुकाबला

एक शिक्षित व्यक्ति का आर्थिक शोषण आसानी से नहीं हो सकता। शिक्षित व्यक्ति को अपने फायदे-नुकसान की समझ होती है और उसका शोषण करना आसान नहीं होता।

उच्च जीवन स्तर

शिक्षित लोग अपना जीवन स्तर ऊँचा रखना चाहते हैं, उनमें महत्त्वाकांक्षा होती है, इनको पूरा करने के लिए आय में वृद्धि करनी ही होगी।

विकास के अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न करना

शिक्षा विकास के अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न करती है। क्योंकि इसके द्वारा विचारों की उदारता और बहुमुखी प्रतिभा का विकास होता है।

सामाजिक परिवर्तन लाना

शिक्षा सामाजिक परिवर्तन में सहायता पहुँचाती है। शिक्षा गलत परम्पराओं और मान्यताओं को दूर करती है। मानव मूल्यों का निर्माण एवं सांस्कृतिक विकास भी शिक्षा द्वारा होता है।

शिक्षा एक लागत है

शिक्षा पर किया जाने वाला व्यय राष्ट्रीय आय की वृद्धि के लिए एक प्रकार की लागत है।

शिक्षा पूँजी

शिक्षा द्वारा मानवीय, सामाजिक एवं बौद्धिक पूँजी प्राप्त होती है और उपयोग द्वारा यह समाप्त भी नहीं होती। शिक्षा एक मानव पूँजी है।

प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप में आर्थिक विकास में सहायक है तथा शिक्षा एवं विकास में सहसंबंध है।

शिक्षा एक मानवीय पूँजी के रूप (Education as a Human Capital)

हम उत्पादन बढ़ाने के लिए, विभिन्न प्रकार के सुधारों के लिए, विकास की विभिन्न प्रक्रियाओं के लिए योजनाएँ बनाते हैं। प्रश्न यह उठता है कि राष्ट्रीय विकास कैसे होगा, किसके माध्यम से होगा, उसके कार्यान्वयन के लिए कार्यविधि का विकास कौन करेगा? राष्ट्रीय योजनाओं के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए मानव रूपी साधन ही आवश्यक है। मशीनों और अन्य उपकरणों का महत्त्व है, परन्तु उनको इस्तेमाल करने वाले हाथों के अभाव में मशीनें कुछ नहीं कर सकतीं। शिक्षा के द्वारा मनुष्य की क्षमताओं का पता लगाकर उन्हें विकसित और कार्य योग्य बनाकर समाज के विभिन्न क्षेत्रों का विकास संभव है।

यूनेस्को ने बड़ी गंभीरता से शिक्षा को एक लागत के रूप में इस्तेमाल करने के पक्ष में तर्क दिए हैं। पूँजी वह है जो हमें बदले में लाभ देती है। हम इसे लागत बनाकर और अधिक आय की प्राप्ति करते हैं। शिक्षा इसी प्रकार की एक पूँजी है। दूसरी पूँजी तो उपभोग के बाद कम होती है परन्तु शिक्षा उपभोग से विकसित होती है।

एडम स्मिथ का विचार है–"शिक्षा के द्वारा मनुष्य की उपभोगी क्षमताएँ एक स्थाई पूँजी का रूप ले लेती हैं।"

महान् अर्थशास्त्री मार्शल का कहना है–"सभी पूँजियों में से अधिकतम मूल्यवान् पूँजी मनुष्य में लगाई हुई पूँजी है।"

कैनेथ ऐरो ने अपने एक अध्ययन के आधार पर निम्नलिखित तथ्य प्रकाशित किए–

- मनुष्य नई-नई परिस्थितियों से जूझना सीख जाते हैं।
- ज्ञान एवं कुशलता में वृद्धि विकास की कुंजी है।
- नई-नई परिस्थितियों में साक्षात्कार सीखने को बढ़ावा देता है।

हारबिन्सन और मायर्स ने अपनी पुस्तक "शिक्षा मानव शक्ति एवं आर्थिक विकास" (1964) में अनौपचारिक शिक्षा की महत्त्वपूर्ण भूमिका पर बल दिया है। उसका कहना है कि प्रशिक्षण एवं सीखने की क्रिया में अनौपचारिक शिक्षा की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

मार्शल का कहना है कि विशेष मेधावी व्यक्तियों की योग्यताओं की ओर ध्यान न देना और उनका उपयोग न करना राष्ट्रीय हितों के विरुद्ध है। काफी बच्चे जो मध्यम वर्ग के परिवारों से आते हैं अपनी क्षमताओं का विकास एवं सदुपयोग कर नहीं पाते और फलतः क्षमता से निम्नकोटि का कार्य करने को बाध्य हो जाते हैं।

शिक्षा को विभिन्न रूपों में लगाया जा सकता है:–

- वर्तमान उपभोग के लिए शिक्षा।
- भविष्य में आने वाले लम्बे समय के लिए शिक्षा।
- आर्थिक विकास में काम आने वाली कुशलताओं एवं ज्ञान का विकास करने के लिए शिक्षा।

इस प्रकार शिक्षा स्वयं में एक लागत है। यह मानसिक क्षमताओं का रूपान्तरण करके पूँजी के रूप में उन्हें निम्नलिखित ढंग से पेश करती है।

- सीखने का स्तर और शैक्षिक उपलब्धि के स्तर में सकारात्मक संबंध पाया गया है।
- प्रति व्यक्ति आय एवं स्कूल में प्रवेश के बीच शोधकर्ताओं ने संबंध पाया है।
- व्यक्तिगत लाभ एवं राष्ट्रीय लाभ दोनों की दृष्टि से अधिक शिक्षित व्यक्ति कम शिक्षित व्यक्ति की अपेक्षा ज्यादा बचत करता है। व्यापार और कृषि दोनों में ऐसा पाया गया है।
- शिक्षा द्वारा कौशल प्राप्त मानव पूँजी निर्मित की जाती है।
- शिक्षा व्यक्तिगत एवं सामाजिक मूल्यों का विकास करती है।

- कम लागत और सुविधाजनक तरीकों के द्वारा मानवीय साधन को पूँजी में परिवर्तित किया जा सकता है।
- शिक्षा द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में अनुसंधान को बढ़ावा मिलता है।
- मानवीय ज्ञान एवं क्षमताओं का शिक्षा व्यावसायीकरण करती है।
- विज्ञान और तकनीक शिक्षा द्वारा जनसाधारण को उपलब्ध कराई जा सकती है।
- तकनीशियनों एवं हस्तकौशलों का निर्माण शिक्षा करती है।
- इंजीनियर और डाक्टर जो बाद में राष्ट्रीय पूँजी के रूप में कार्य करते हैं, शिक्षा द्वारा ही निर्मित होते हैं।
- कम शिक्षित व्यक्ति शिक्षित के मुकाबले अधिक क्षमता रखता है।
- उत्पादन वृद्धि में प्रशिक्षित व्यक्ति का अधिक योगदान होता है।
- शिक्षा एक ऐसी पूँजी है जो उपयोग से कम होने की बजाए बढ़ती है।

अब तक शिक्षा को एक लक्ष्य के रूप में माना जाता था, परन्तु अब यह समझा गया है कि शिक्षा एक माध्यम है। शिक्षा उसी प्रकार की लागत है जिस प्रकार स्टील या कोयले में लागत लगाई जाती है। किसी भी राष्ट्र में विकास लाने के लिए वहाँ की जनता ही उत्तरदायी होती है। प्राकृतिक साधन ज्यों-के-त्यों धरे रह जाएँगे, सभी सामाजिक संस्थाएँ पिछड़ी और परम्परावादी रह जाएँगी यदि लोगों के पास ज्ञान और तकनीकी जानकारी नहीं होगी। भारत में डॉ. डी.पी. चौधरी ने अनुसंधान द्वारा यह सिद्ध किया कि शिक्षा के द्वारा कृषकों की उत्पादन क्षमता में वृद्धि हुई है।

[7]

राष्ट्रीय एकता और शिक्षा

(Education and National Integration)

राष्ट्रीय एकता का अर्थ

(Meaning of National Integration)

राष्ट्रीयता का अर्थ किसी राष्ट्र के नागरिकों की एकता की भावना से होता है। इसके अभाव में किसी राष्ट्र का निर्माण संभव नहीं है। प्रत्येक राष्ट्र छोटे-बड़े अनेक समुदायों का योग होता है। उसमें भिन्न-भिन्न जाति, धर्म तथा भाषा के लोग रहते हैं। उनके रहन-सहन, खान-पान आदि में अन्तर होता है। परन्तु इन विभिन्नताओं के होते हुए भी जब वह अपने को एक समझते हैं तो कहा जाता है कि राष्ट्र में राष्ट्रीय एकता है। ऐसे राष्ट्र के लोग अपने व्यक्तिगत तथा सामूहिक हितों को राष्ट्र के हित में त्याग देते हैं। इस प्रकार राष्ट्रीयता के दो मुख्य पहलू हैं—एक तो नागरिकों में एकता की भावना और दूसरा राष्ट्र-हित के लिए अपने व्यक्तिगत तथा सामूहिक हितों का त्याग।

कुछ शिक्षाविद् राष्ट्रीयता तथा राष्ट्र प्रेम में अन्तर समझते हैं। उनके अनुसार देश-प्रेम (राष्ट्र प्रेम) में व्यक्ति का देश (स्थान) के प्रति प्रेम ही निहित होता है जबकि राष्ट्रीयता में राष्ट्र की समस्त सम्पत्ति, प्राकृतिक सम्पदा, सभ्यता, संस्कृति, विभिन्न जातियों, धर्मों और भाषाओं आदि के प्रति लगाव होता है। इसी आधार पर महान् शिक्षा शास्त्री- जे. एस. ब्रुबेकर ने राष्ट्रीयता की परिभाषा दी है।

"राष्ट्रीयता, साधारण रूप में, देश-प्रेम की अपेक्षा देश-भक्ति के अधिक व्यापक क्षेत्र की ओर संकेत करती है। राष्ट्रीयता में स्थान के

सम्बन्ध के साथ-साथ प्रजाति, भाषा, इतिहास, संस्कृति और परम्पराओं के सम्बन्ध भी प्रदर्शित होते हैं।"

परन्तु देश प्रेम तथा राष्ट्रीयता में इस प्रकार का अन्तर करना ठीक नहीं है। सच्चा देश-प्रेम तथा सच्ची राष्ट्रीयता वही है जिसमें व्यक्ति अपना सब कुछ त्याग करने के लिए तैयार रहे। इस प्रकार राष्ट्रीय एकता की परिभाषा निम्न प्रकार दी जा सकती है–

"जब किसी राष्ट्र के नागरिक स्थान, वेश-भूषा, खान-पान, रहन-सहन, भाषा, साहित्य, मूल्य, मान्यताओं, जाति, समूह और धर्म से भिन्न होते हुए भी अपने को एक समझते हैं और राष्ट्र हित के सामने अपने व्यक्तिगत एवं सामूहिक हितों का त्याग करते हैं तो इस भावना को राष्ट्रीय एकता कहा जाता है।"

राष्ट्रीयता के तत्त्व (Components of National Integration)

मुख्य रूप से राष्ट्रीयता के निम्नलिखित पाँच तत्त्व माने जाते हैं–

- समान भाषा,
- समान धर्म,
- समान संस्कृति (परम्परा),
- समान इतिहास, एवं
- समान भू-भाग।

महान शिक्षा शास्त्री–जे.एस. ब्रुबेकर ने अपनी कृति 'शिक्षा समस्याओं का इतिहास' में राष्ट्रीयता के तत्त्वों का वर्णन निम्न प्रकार से किया है–

"राष्ट्रीयता में भू-भाग के अतिरिक्त प्रजाति, भाषा, इतिहास, संस्कृति और परम्पराओं के सम्बन्ध भी आ जाते हैं।"

गिलक्राइस्ट ने भी अपनी महान् कृति 'राजनीतिशास्त्र के मूल सिद्धान्त' में राष्ट्रीयता की परिभाषा में उपरोक्त तत्त्वों का ही समावेश किया है।

राष्ट्रीयता का प्रथम विकास भारतवर्ष में

महान् शिक्षा-शास्त्री ब्रुवेकर ने अपनी महान् कृति 'शिक्षा समस्याओं का इतिहास' में लिखा है कि राष्ट्रीयता का प्रथम विकास यूरोप में फ्रांसीसी राज्य-क्रांति के पश्चात् ही हुआ है। परन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि एक तो उन्होंने गौरवशाली भारतीय इतिहास तथा साहित्य का अध्ययन नहीं किया होगा तथा दूसरे वे प्रत्येक पहलू में पश्चिमी देशों को ही उच्च सिद्ध करना चाहते हैं। यदि वेद, मनुस्मृति, रामायण, महाभारत तथा पुराणों आदि को देखा जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्रीयता का विकास भारतर्ष में ही सबसे पहले हुआ।

राष्ट्रीयता के लिए शिक्षा (Education for Nationality)

राष्ट्रीयता के लिए शिक्षा से तात्पर्य–ऐसी शिक्षा से है जो छात्र-छात्राओं में अपने राष्ट्र के प्रति प्रेम की भावना जाग्रत करे। भारत विभिन्न जातियों, धर्मों, भाषाओं और संस्कृतियों का देश है और यहाँ के लोग संकीर्णता में फंसे हैं। चारों ओर स्वार्थ का बोलबाला है और देश की अखण्डता खतरे में है। कुछ विद्वानों के अनुसार हमारे देश में राष्ट्रीय एकता है और एक प्रमाण वे चीन व पाकिस्तान के साथ हुए युद्धों को मानते हैं। यह ठीक है कि इन युद्धों के समय सारा भारत एक था क्योंकि उस समय आत्म रक्षा का प्रश्न था। परन्तु राष्ट्रीयता युद्धों के समय की नहीं, अपितु हर समय की आवश्यकता है। आज हमें ऐसी राष्ट्रीयता की आवश्यकता है जिसमें हम समाज-हित तथा राष्ट्र-हित के सामने वैयक्तिक हितों का त्याग करने के लिए तैयार रहें। शिक्षा को राष्ट्रीय एकता के विकास में अपनी भूमिका अदा करनी चाहिए।

राष्ट्रीय शिक्षा की विशेषताएँ (Merits of National Education)

विद्वानों ने राष्ट्रीयता के लिए दी जाने वाली शिक्षा की निम्नलिखित विशेषताओं की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है :–

- राष्ट्रीयता की शिक्षा देश के निवासियों को आत्म-निर्भरता का पाठ पढ़ाती है और उन्हें पर-निर्भरता से मुक्त होने के लिए प्रेरित करती है।

• राष्ट्रीयता की शिक्षा छात्र-छात्राओं में देश-प्रेम का भाव जाग्रत करती है और वे समझने लगते हैं कि व्यक्ति और परिवार से राष्ट्र महान् है राष्ट्र के हित में ही व्यक्ति का हित निहित है। राष्ट्र हित के लिए व्यक्ति या परिवार को बलिदान देने के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए।

• राष्ट्रीयता की शिक्षा साहित्य के निर्माण में सहायता प्रदान करती है और लेखक तथा प्रकाशक ऐसा साहित्य लिखने और प्रकाशित करने में अपना गौरव समझते हैं।

• राष्टीयता के लिए दी जाने वाली शिक्षा देश के निवासियों को आगे बढ़ाने के लिए व उन्नति करने के लिए प्रोत्साहित करती है और वे अपनी भारतीय संस्कृति के उस महावाक्य को सार्थक करने लगते हैं, जिसमें कहा गया है–चरैवेति! चरैवेति!!

• राष्ट्रीयता की शिक्षा राष्ट्रीय भावों का पोषण करती है, भिन्न-भिन्न प्रांतों के लोगों को, भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोलने वाले लोगों को तथा भिन्न-भिन्न रीति-रिवाजों वाले लोगों को एक सूत्र में बाँध देती है।

राष्ट्रीय-शिक्षा की आलोचना (Criticism of National Education)

• कुछ विद्वानों का मत है कि राष्ट्र-प्रेम दूसरे राष्ट्रों के प्रति घृणा पैदा करता है, परन्तु यह मत ठीक नहीं है क्योंकि जब किसी समाज में भिन्न-भिन्न परिवार एक साथ मिलकर रह सकते हैं तो कोई कारण नहीं कि विश्व में भिन्न-भिन्न राष्ट्र एक साथ मिलकर न रह सकें।

• कुछ विद्वानों के अनुसार राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग में बाधक है। परन्तु यह मत भी तथ्यों पर आधारित नहीं है, क्योंकि जब भिन्न-भिन्न परिवार राष्ट्रीयता को बढ़ावा दे सकते हैं तो भिन्न-भिन्न राष्ट्र विश्व प्रेम का पोषण कर सकते हैं। विविधता में एकता तथा भेद में अभेद भारतीय तत्त्वज्ञान की विशेषता है।

• जो राष्ट्र-प्रेम का विरोध करते हैं, उनके सामने सदा पाश्चात्य देश ही रहे हैं। उन्होंने भारतवर्ष के गौरवशाली इतिहास का कभी अध्ययन ही नहीं किया। पश्चिमी देशों में घृणा और वैमनस्य का कारण उनकी भौतिकता है। उनका ध्येय है : अधिक से अधिक भोग विलास के साधन को जुटाना। इसी कारण से वहाँ अन्य अपनी सेवायें न भेजकर भारत ने सदैव अपनी महान् संस्कृति के संदेशवाहक भेजे।

राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बाधायें
(Barriers in the way of National Integration)

इतिहास के पन्ने पलटने से ज्ञात होता है कि मानव सदैव ही आपस में लड़ता रहा है और सदैव से ही एकता की आवश्यकता अनुभव करता रहा है। मनुष्य के स्वभाव में प्रेम है तो द्वेष भी है, सहयोग है तो असहयोग भी है, उदारता है तो अनुदारता भी है। संसार में न तो ऐसा युग कभी था, न आज है और न कभी भविष्य में आयेगा जब यहाँ के मनुष्यों के बीच कोई एक भी भावना हो। अब हम कुछ ऐसे तथ्यों का वर्णन करेंगे, जो राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से बाधक सिद्ध हो रहे हैं–

जातिवाद (Castism)

हमारे देश में बहुत-सी जातियाँ और उपजातियाँ हैं। ये राष्ट्रीय एकता के विकास में बहुत बड़ी बाधाएँ हैं। भारत विभाजन से पूर्व **महर्षि दयानन्द सरस्वती, गाँधी जी** तथा **वीर सावरकर** जैसे महान व्यक्तियों के प्रयास से जातिवाद समाप्त हो रहा था। परन्तु विभाजन के पश्चात् चुनाव प्रणाली ने इस भागते मूल को वापिस लाकर इसकी जड़ें पाताल तक जमा दीं। यह हमारे देश का दुर्भाग्य है कि अपने आपको असाम्प्रदायिक तथा सेकुलर कहने वाले लोग जातिवाद के नाम पर का प्रत्याशी चुनाव लड़ता है। यहाँ तक कि नौकरी आदि के मामले में योग्यता न देखकर जातिवाद को ही महत्व दिया जाता है। अतः यह अत्यन्त आवश्यक है कि लोगों को इस प्रकार की शिक्षा दी जाये कि देशहित सबसे बड़ा है, तभी उन्हें इस भावना से ऊपर उठाया जा सकता है।

प्रान्तीयता (Stateism)

देश की शासन-व्यवस्था सुचारू रूप से चलाने के लिए उसे भिन्न-भिन्न प्रांतों में बाँटा गया था, लेकिन इसका दुष्परिणाम यह निकला कि आज एक प्रांत के लोग दूसरे प्रांतों के लोगों को भिन्न समझते हैं। एक व्यक्ति के जल कर मर जाने पर जो भाषा के आधार पर आन्ध्र प्रांत की रचना की गई वह एक बड़ी भूल थी। 'राज्य पुनर्गठन आयोग' की नियुक्ति करना भी एक बड़ी भूल थी। अब केवल एकात्मक शासन से ही प्रान्तीयता रूपी राक्षस का अंत किया जा सकता है।

साम्प्रदायिकता (Communalism)

भारत में अनेक सम्प्रदायों-हिंदू, मुसलमान, पारसी और ईसाई आदि के लोग रहते हैं। इनमें हिंदू, मुसलमान दो सम्प्रदाय ऐसे हैं जिनकी जड़ें ईर्ष्या व असहयोग पर पली हैं। इन सम्प्रदायों के बीच की द्वेष भावना राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा है। यदि गहराई से देखा जाये तो भारत में साम्प्रदायिकता की कोई समस्या है ही नहीं। राजनैतिक स्वार्थों के कारण ही जान-बूझ कर इसे हौआ बना दिया गया है।

क्षेत्रीयता (Regionalism)

हमारा देश विशाल है। भिन्न-भिन्न क्षेत्रों की सभ्यता तथा संस्कृति में थोड़ी भिन्नता है, जिसके कारण एक क्षेत्र के लोग दूसरे क्षेत्र के लोगों से अपने को भिन्न समझते हैं। राष्ट्रीय एकता के मार्ग में यह क्षेत्रीयता भी बाधक हो रही है।

भाषावाद (Lingualism)

हमारे देश में अनेक भाषाएँ हैं। भिन्न-भाषा बोलने वाले लोग अपने को एक दूसरे से भिन्न समझते हैं। अतः भाषावाद भी इस ओर बाधा उत्पन्न कर रहा है।

युवकों में निराशा (Frustration in Youth)

युवकों को मालूम है कि उच्च शिक्षा प्राप्ति के बाद भी उन्हें नौकरी नहीं मिलेगी। वे विघटनकारी तत्त्वों से प्रभावित हो जाते हैं।

आदर्शों का अभाव (Lack of Ideals)

हमारे देश के सामने ठोस आदर्शों का अत्यन्त अभाव है और यह अभाव राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बहुत बाधा उत्पन्न कर रहा है।

आर्थिक विषमता (Economic Disparity)

हमारे देश में गरीब-अमीर के बीच बहुत बड़ी खाई है। अमीर-गरीब से घृणा करता है और गरीब अमीर से द्वेष रखता है। मध्यम वर्ग के लोग न तो अमीरों से मिलते हैं और न ही गरीबों से। अत: यह भी राष्ट्रीय एकता में बाधक है।

राजनीतिक दल (Political Party)

हमारे देश में बहुत से राजनीतिक दल हैं और ये प्राय: क्षेत्र और जाति पर आधारित हैं। अधिकांश दल देश का हित सामने न रख कर अपने दलगत स्वार्थों को ही प्रमुखता देते हैं। ऐसे दलों पर जो भारत की अखण्डता को चुनौती देते हैं तथा अपने को भारतवर्ष से अलग करना चाहते हैं, प्रतिबन्ध लगाना चाहिये।

इसके अतिरिक्त आज देश में कुछ ऐसे तत्त्व भी हैं जो यहाँ रहते हुए भी दूसरे राष्ट्रों के प्रति श्रद्धा व प्रेम के भाव रखते हैं और भारत के हित की उपेक्षा करके भी अन्य राष्ट्र का हित करना चाहते हैं। यदि ऐसे विघटनकारी तत्त्वों का सफाया न किया गया तो राष्ट्र के लिए भविष्य में बड़ी कठिनाई हो सकती है।

राष्ट्रीय एकता के विकास के लिए सुझाव (Suggestion for Development of National Integration)

इस समस्या पर सबसे पहले विचार कांग्रेस के भावनगर अधिवेशन में किया गया और उसी समय श्रीमती इंदिरा गाँधी की अध्यक्षता में 'राष्ट्रीय एकता समिति' का गठन किया गया। इस समिति

की सिफारिशें 9 जून, 1961 को प्रकाशित हुई थीं। ये सिफारिशें चार भागों में हैं।

शिक्षा तथा अन्य क्षेत्रों में राष्ट्रीय दृष्टिकोण को बढ़ावा देना

इसमें शिक्षा के उद्देश्यों, उसकी पाठ्य पुस्तकों में परिवर्तन और सुधार के लिये सुझाव दिये गये। समिति ने सिफारिश की कि शिक्षा का एक उद्देश्य राष्ट्रीय एकता का विकास भी होना चाहिये और उसके लिए पाठ्य पुस्तकों में राष्ट्रीय दृष्टिकोण को बढ़ावा देने वाली सामग्री भी होनी चाहिये। विघटनकारी तत्त्वों के अन्त और राष्ट्रीय भावना के प्रचार हेतु समाचार-पत्र, नाटक और फिल्म आदि के प्रयोग पर भी इस समिति ने बल दिया।

आर्थिक क्षेत्र में अल्पसंख्यकों के लिए अवसरों की वृद्धि

इसके अन्तर्गत शिक्षा के अभाव और पिछड़ेपन के कारण अल्पसंख्यकों की आर्थिक दशा सुधारने पर बल दिया गया। समिति की राय में इन अल्पसंख्यकों को रोजगार देने में सहायता दी जानी चाहिये।

व्यक्ति और सम्पत्ति की सुरक्षा

समिति ने विचार व्यक्त किया कि सुरक्षा के अभाव में व्यक्ति असंतुलित व्यवहार करता है। अतः समाज व राज्य द्वारा व्यक्ति और उसकी सम्पत्ति की सुरक्षा का प्रबन्ध किया जाना चाहिये। कोई भी अवसर किसी वर्ग विशेष को नहीं बल्कि देश के प्रत्येक नागरिक को समान रूप से मिलना चाहिये।

संगठन का कार्य

इस समिति ने सिफारिश की कि देश भर में कांग्रेस को राष्ट्रीय एकता के लिये प्रयत्न करना चाहिये और अपने-अपने क्षेत्रों में सम्प्रदाय एवं धर्म आदि के नाम पर होने वाले झगड़ों का पता लगाने तथा उन्हें दूर करने का कार्य करना चाहिये। इसके अतिरिक्त सभी भाषाओं में उपयुक्त साहित्य का प्रकाशन, अध्ययन, गोष्ठियों का आयोजन और अल्पसंख्यकों के हित की रक्षा आदि रचनात्मक कार्य भी करना चाहिये।

इस सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार द्वारा दूसरा प्रयास 13 मई, 1961 को किया गया। इसकी अध्यक्षता तत्कालीन प्रधानमंत्री पं. जवाहर लाल नेहरू ने की थी। इस सम्मेलन में राष्ट्रीय एकता समिति की सिफारिशों को स्वीकार किया गया। इस बैठक में राष्ट्रीय एकता के विकास के लिये अनेक सुझाव दिये गये, जिनमें से निम्नलिखित सुझाव महत्त्वपूर्ण हैं–

- राष्ट्रभाषा हिंदी का प्रचार।
- समस्त भारतीय भाषाओं के लिए एक लिपि।
- अन्तर्राष्ट्रीय भाषा अंग्रेजी को बनाये रखना।

त्रिभाषा-सूत्र

- प्रादेशिक भाषा और मातृ-भाषा।
- हिंदी या हिंदी भाषी क्षेत्रों में अन्य भारतीय भाषा।
- अंग्रेजी या कोई अन्य अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व की भाषा।
- परीक्षा का माध्यम प्रादेशिक भाषाओं के साथ-साथ हिंदी व अंग्रेजी भी।
- शिक्षा में परिवर्तन और राष्ट्रीय एकता में सहायक उपयुक्त पाठ्य पुस्तकों का निर्माण।
- अखिल भारतीय सेवाओं के क्षेत्रों में वृद्धि।
- विघटनकारी तत्त्वों का अन्त।

राष्ट्रीय एकता के लिए शैक्षिक कार्यक्रम
(Educational Programme for National Integration)

शिक्षा राष्ट्रीय एकता की प्राप्ति का सबसे प्रमुख साधन है। इसकी उपयोगिता 'राष्ट्रीय एकता समिति' ने भी स्वीकार की। राष्ट्रीय एकता की प्राप्ति के लिये निम्नलिखित कार्यक्रम आवश्यक है–

शिक्षा के उद्देश्यों में परिवर्तन (Change in objectives of Education)

भारतवर्ष में शिक्षा के अनेक उद्देश्यों को स्वीकार किया गया है। हमारी शिक्षा परीक्षा प्रधान है, उसमें बच्चों के स्वास्थ्य, आचरण और भावनाओं की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। अतः शिक्षा के उद्देश्य स्पष्ट होने चाहिये तथा उसके उद्देश्यों में एक उद्देश्य राष्ट्रीय एकता का विकास भी होना चाहिये।

पाठ्यचर्या में परिवर्तन (Change in Curriculum)

विद्यालयों की पाठ्यचर्या में परिवर्तन किया जाना चाहिये और समाज सेवा व राष्ट्रीय सेवा को अनिवार्य बनाया जाना चाहिये। राष्ट्रीय पर्व व राष्ट्रीय त्योहारों को मनाना भी इसमें सम्मिलित होना चाहिये। त्रिभाषा सूत्र को लागू किया जाना चाहिये। प्राथमिक स्तर के लोकगीतों तथा देश के भिन्न भागों की कहानियों पर विशेष बल दिया जाना चाहिये। माध्यमिक स्तर की पाठ्यचर्या में नैतिक शिक्षा और सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय महत्त्व की पाठ्य सहगामी क्रियाओं को स्थान दिया जाना चाहिए। इस स्तर पर भारत के औद्योगिक एवं आर्थिक विकास से सम्बन्धित विषयों को भी रखा जाना चाहिये। विश्वविद्यालयी स्तर पर भारत की विभिन्न भाषाओं, धर्मों और संस्कृतियों के तुलनात्मक अध्ययन की व्यवस्था की जानी चाहिए। विश्वविद्यालयी स्तर पर भारत की विभिन्न भाषाओं, धर्मों और संस्कृतियों के तुलनात्मक अध्ययन की व्यवस्था की जानी चाहिए। इस स्तर पर शिक्षा का माध्यम हिंदी अथवा अंग्रेजी हो और अन्त में हिंदी को ही शिक्षा के माध्यम के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए।

शिक्षण विधियों में सुधार

शिक्षण की उन विधियों का चुनाव जिनमें अध्यापक सभी बच्चों की समान रूप से सहायता कर सके तथा सभी बच्चों को अपनी-अपनी योग्यताओं को विकसित करने के समान अवसर मिल

सकें।

पाठ्यपुस्तकों में सुधार

पाठ्यपुस्तकों में सुधार किये जायें तथा उनमें से वह विषय-वस्तु निकाल दी जाये जो राष्ट्रीय एकता में बाधक हो। इन पुस्तकों में राष्ट्रीय एकता में सहायक होने वाली सामग्री होनी चाहिये।

वर्ण भेद की समाप्ति

शिक्षा के क्षेत्र में जाति, धर्म, सम्प्रदाय और किसी अन्य प्रकार के वर्ण भेद को समाप्त किया जाये। अध्यापकों का चयन तथा बच्चों के प्रवेश योग्यता के आधार पर हों। छात्र-वृत्तियाँ भी योग्यता के आधार पर ही दी जायें। छात्रों की पोशाक पर किसी राष्ट्रीय महत्त्व का चिह्न लगाया जाये, इससे राष्ट्रीय एकता के विकास में सहायता मिलेगी।

दैनिक सामूहिक सभा कार्यक्रम (Daily Group Assembly Programme)

स्कूलों के कार्यक्रम 15 मिनट की दैनिक सामूहिक सभा से शुरू किया जाना चाहिये। इस समय में ईश प्रार्थना, नैतिक प्रवचन तथा राष्ट्रीयगान होना चाहिये। बच्चों को नैतिक मूल्यों, शुद्ध आचरण, राष्ट्रभाषा, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान के सम्मान की शिक्षा दी जाये। समय-समय पर राष्ट्रीय एकता पर वार्तालाप किया जाये। शनिवार को दैनिक सामूहिक सभा का समय 15 मिनट से एक घण्टा कर देना चाहिये।

राष्ट्रीय पर्वों को मनाना (To Celebrate National Festivals)

विद्यालयों में राष्ट्रीय पर्वों 26 जनवरी, 15 अगस्त, 2 अक्टूबर को बड़ी धूमधाम से मनाना चाहिये।

राष्ट्रीय स्तर की भाषा का सम्मान और राष्ट्रभाषा हिंदी का विकास (Respect of Language at National Level and Development of Hindi as National Language)

भारतवर्ष में 18 भाषाओं को राष्ट्रीय महत्त्व की भाषाओं के रूप

में स्वीकार किया गया है। इन भाषाओं के अपने-अपने साहित्य हैं। इन साहित्यों में भारत की संस्कृति सुरक्षित है। इन सभी भाषाओं का सम्मान करना चाहिए। राष्ट्रभाषा हमें एकता के सूत्र में बाँधती है। त्रि-भाषा सूत्र को स्वीकार करके इस कार्य को पूरा किया जा सकता है।

राष्ट्रीय नेताओं के जन्म दिवस (Birthday of National Leaders)

विद्यालयों में राष्ट्रीय स्तर के नेताओं जैसे–महात्मा गाँधी, सरदार पटेल, सुभाष चन्द्र बोस, पं. जवाहर लाल नेहरू आदि के जन्म दिवस मनाये जाने चाहिये।

अन्तर्प्रान्तीय खेलकूद (Inter State Games & Sport)

राष्ट्रीय एकता के विकास के लिए अन्तर्प्रान्तीय खेलकूद प्रतियोगितायें होनी चाहिए। इनके द्वारा विद्यार्थियों का सम्पर्क बढ़ेगा, वे एक दूसरे को पहचानेंगे तथा उनमें भावात्मक सम्बन्ध स्थापित होंगे।

अन्तर्प्रान्तीय सांस्कृतिक कार्यक्रम (Inter State Cultural Programmes)

वर्ष में कम से कम एक बार अन्तर्प्रान्तीय सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन किया जाना चाहिए। इन कार्यक्रमों में छात्र अपनी-अपनी संस्कृतियों की झाँकी प्रस्तुत करेंगे जिससे वे एक दूसरे की संस्कृति (लोकगीत और लोकनृत्य आदि) से परिचित होंगे। 26 जनवरी को दिल्ली से निकलने वाले जुलूस में यह सब देखने को मिलता है।

अन्तर्प्रान्तीय प्रदर्शनियाँ (Inter State Exhibitions)

स्कूलों में अन्तर्प्रान्तीय स्तर की प्रदर्शनियाँ भी लगाई जानी चाहिए। इन प्रदर्शनियों में देश की सभ्यता एवं संस्कृति की झाँकी प्रस्तुत करनी चाहिए।

राष्ट्र की विभिन्नताओं का आदर (Respect of Diversities of Nation)

हमें बच्चों में देश की विभिन्न जातियों, धर्मों तथा संस्कृतियों के प्रति प्रेम उत्पन्न करना चाहिए। परन्तु अंधी श्रद्धा तथा अंधी-राष्ट्रीयता

के विकास का समर्थन भी नहीं करना चाहिए।

रेडियो और टेलीविजनों का प्रयोग (Use of Radio and T.V.)

यह प्रसन्नता का विषय है कि भारतवर्ष में रेडियो और टेलीविजनों पर विभिन्न भाषाओं के पाठ तथा विभिन्न भाषाओं, धर्मों, सभ्यताओं और संस्कृतियों से सम्बन्धित कहानियाँ, नाटक, गीत और कविताएँ आदि प्रसारित होते हैं। इसमें हमें पूरे देश की झाँकी पर बैठकर ही देखने को मिल जाती है।

राष्ट्रीय स्तर पर शिक्षकों का आदान-प्रदान (Exchange of Teachers at National Level)

माध्यमिक, विश्वविद्यालय तथा राष्ट्रीय स्तर पर अध्यापकों का आदान-प्रदान होना चाहिए। इनकी सांस्कृतिक विभिन्नता बच्चों में भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के प्रति आदर की भावना का विकास करेगी और पूरा देश एकता के सूत्र में बंध जायेगा।

राष्ट्रीय स्तर पर छात्रों के अध्ययन की व्यवस्था (Arrangement of Student's Study at National Level)

पूरे देश में शिक्षा का स्तर समान हो तथा एक प्रान्त के बच्चे दूसरे प्रांत में अध्ययन के लिए जायें। हमारे नवोदय विद्यालय इस ओर प्रयास कर रहे हैं। विश्वविद्यालय स्तर पर यह सुविधा विशेष रूप में दी जानी चाहिए।

देश भ्रमण (Country Tour)

अध्यापक तथा छात्रों को देश के विभिन्न भागों, विशेषकर राष्ट्रीय महत्त्व के स्थानों पर घूमने के अवसर मिलने चाहिए। इससे उन्हें राष्ट्र की भिन्न-भिन्न संस्कृतियों का ज्ञान होगा तथा राष्ट्रीय एकता का विकास होगा।

राष्ट्रीय एकता के विकास में शिक्षक की भूमिका (The Role of Teacher in the Development of National Integration)

विद्यालय के कार्यक्रम को सफल व सुचारू रूप से चलाने की

जिम्मेदारी अध्यापकों तथा प्रधानाध्यापक पर होती है। छात्र अपने अध्यापकों का अनुकरण करते हैं तथा उनके गुणों व अवगुणों को ग्रहण कर लेते हैं। अध्यापक को राष्ट्रीयता की भावना से परिपूर्ण होना चाहिए। उसे राष्ट्रीय ध्वज, राष्ट्रगान और राष्ट्र प्रेमी होना चाहिए। उसे राष्ट्र ध्वज, राष्ट्रगान और राष्ट्र भाषा का सम्मान करना चाहिए। यदि देश भर के सभी अध्यापक राष्ट्र भाषा के महत्त्व को स्वीकार करें तो भाषायी तनाव दूर हो सकता है। देश की विभिन्नताओं के प्रति अध्यापकों में आदर भाव होना चाहिये तथा उनमें देश की बुराइयों को दूर करने की लगन होनी चाहिए। समाज सेवा तथा राष्ट्र सेवा उन सबका धर्म होना चाहिये।

अध्यापकों को सब बच्चों के साथ समान व्यवहार करना चाहिए। राष्ट्रगान के समय अध्यापकों को आवश्यक नियम तथा अनुशासन का पालन करना चाहिए। उन्हें इस बात पर बल देना चाहिए कि जाति, धर्म, सम्प्रदाय आदि से ऊँचा राष्ट्र होता है। परन्तु इसके साथ यह सावधानी भी रखनी चाहिए कि राष्ट्रहित का अर्थ दूसरे राष्ट्रों का अहित नहीं है। सच्ची राष्ट्रीयता में तो सह-अस्तित्व का भाव निहित होता है।

[8]

अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना और शिक्षा
(InterNational Understanding and Education)

अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना की अवधारणा

'अन्तर्राष्ट्रीयता' से तात्पर्य दूसरे राष्ट्रों से मेलजोल की भावना। शब्दकोष के अनुसार-विभिन्न राष्ट्रों में जो संबंध हैं वही अन्तर्राष्ट्रीयता है। दूसरे शब्दों में विभिन्न राष्ट्रों के बीच सद्भावना और सहयोग की भावना ही अन्तर्राष्ट्रीयता है। विभिन्न विद्वानों ने 'अन्तर्राष्ट्रीयता' का जो स्पष्टीकरण दिया है, वह इस प्रकार है :-

गोल्डस्मिथ के अनुसार "अन्तर्राष्ट्रीय एक भावना है, जिसके अनुसार व्यक्ति अपने राष्ट्र का ही सदस्य नहीं होता अपितु विश्व का नागरिक भी होता है।"

वाल्टर लेविज के अनुसार "बिना इस ओर ध्यान दिये कि 'व्यक्ति का सम्बन्ध किस राष्ट्र या संस्कृति से है' अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना एक दूसरे के प्रति, सभी जगह, उसके व्यवहार का आलोचनात्मक और निष्पक्ष रूप से निरीक्षण करने और मूल्यांकन की योग्यता है।"

अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना से पूर्ण व्यक्ति न केवल उसी राष्ट्र की चिन्ता करता है जिसका कि वह नागरिक होता है, अपितु वह संसार के अन्य राष्ट्रों के हितों का भी ध्यान रखता है। अन्तर्राष्ट्रीयता वह भावना है जिससे सारे संसार को एक रूप में देखा जाता है और व्यक्ति को विश्व का नागरिक माना जाता है।

भारतवर्ष में अन्तर्राष्ट्रीयता (Internationality in India)

अन्तर्राष्ट्रीयता का स्वरूप नया है परन्तु हमारे देश में प्राचीनकाल

से ही यह भावना पाई जाती है। भारतवर्ष में अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए जिस शब्द का प्रयोग हुआ है, वह है–'विश्व बन्धुत्वम्'। 'यजुर्वेद' में विश्व एक परिवार है, संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रंथ 'पंचतंत्र' में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' शब्द-समूह का प्रयोग हुआ है। पंचतंत्र नामक ग्रंथ में जानवरों की कथायें हैं जिनके माध्यम से राजनीति की शिक्षा दी गई है।

अन्तर्राष्ट्रीयता की शिक्षा का संक्षिप्त इतिहास (Brief History of Education of Internationality)

अन्तर्राष्ट्रीयता एक बहुत प्राचीन विचार है जो धर्म के क्षेत्र में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के रूप में हमारे सामने आया था। 14वीं शताब्दी में पिथरे ड्यूबस ने अन्तर्राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना के विषय में विचार प्रस्तुत किये। 1912 में विश्व युद्ध से बचने के लिए अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति श्री टाफट महोदय ने हेग में एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाने का असफल प्रयास किया था। 1914 में प्रथम महायुद्ध के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास की अत्यन्त आवश्यकता समझी गई और इस ओर अनेक प्रयत्न किये गये, परन्तु कोई सफलता नहीं मिली। संयुक्त राष्ट्र संघ इस क्षेत्र में सबसे अधिक सफल हुआ। शिक्षा द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करने के लिए इसमें एक विशेष विभाग खोला गया है, जिसे संयुक्त राष्ट्र शैक्षिक, वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक संस्था (यूनेस्को) कहते हैं।

यूनेस्को के कार्य (Function of UNESCO)

यह अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर शिक्षा की व्यवस्था करता है और शिक्षा द्वारा देश-विदेश के बच्चों में अन्तर्राष्ट्रीय भावना का विकास करने के लिए प्रयत्नशील है।

- यह संस्था विचारकों, अध्यापकों, वैज्ञानिकों, दार्शनिकों इत्यादि को एक दूसरे से विचार-विमर्श करने का अवसर प्रदान करती है।

- विभिन्न राष्ट्रों का एक दूसरे के प्रति अवबोध कराना भी इस संस्था का कार्य है क्योंकि युद्ध की जड़ एक राष्ट्र से दूसरे के प्रति अविश्वास तथा भय है।

• यूनेस्को ने युद्ध पीड़ित देशों के सांस्कृतिक उत्थान का कार्य भी अपने ऊपर ले लिया, जिसमें वह बहुत ही सफल रहा है।

• यह संस्था पर्यटन आदि का भी आयोजन करती है। इसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कला एवं साहित्य की प्रदर्शनी विभिन्न देशों में आयोजित की जाती है जो अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना एवं मैत्री को विकसित करने में सहायक होती है।

अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए शिक्षा (Education for Internationality)

केवल शिक्षा द्वारा ही अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का विकास सम्भव है। **बरट्रेन्ड रसेल** ने कहा है कि, "शिक्षा चाहे राजनैतिक दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीयता को न ला सके, परन्तु शिक्षा ही ऐसा साधन है जिसके द्वारा लोगों का ध्यान अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर आकर्षित किया जा सकता है तथा जनमत ही संसार में युद्ध या शान्ति का निर्णय करने के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है। यदि सभी का ध्यान शांति की ओर है तो विश्व शांति की स्थापना सरल हो जाती है। इसलिए शिक्षा का संगठन इस प्रकार होना चाहिए कि यह अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का विकास करे।"

अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए शैक्षिक कार्यक्रम (Education Programme for Internationality)

अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना के विकास के लिए हमें दो प्रकार के प्रयत्न करने होंगे–

• संकुचित राष्ट्रीयता के विकास को रोकने के उपाय।

• अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास के उपाय।

संकुचित राष्ट्रीयता के विकास को रोकने के उपाय

संकुचित राष्ट्रीयता के विकास को रोकने के उपाय निम्नलिखित हैं :–

• हमें राष्ट्र भाषा और राष्ट्र धर्म का विकास करते समय अपना दृष्टिकोण विस्तृत करना होगा तथा बच्चों को राष्ट्रभाषा और राष्ट्रधर्म की

शिक्षा देते समय दूसरे देशों की भाषा, संस्कृति और धर्म से भी परिचित करना होगा तथा उन्हें अपनी भाषा व धर्म के साथ-साथ दूसरों की भाषा तथा धर्म को सम्मान देने की ओर अग्रसर करना होगा।

- अपने राष्ट्रध्वज के सम्मान के साथ-साथ दूसरे राष्ट्रों के ध्वजों को भी सम्मान दें। इसके लिए देश में अन्तर्राष्ट्रीय दिवस मनाने चाहिए।

- राष्ट्रीय पर्व मनाते समय हमें दूसरे राष्ट्रों को कम नहीं आँकना चाहिए। अपने राष्ट्र के हित के साथ-साथ अन्य राष्ट्रों के हितों का भी ध्यान रखना चाहिए।

- बालक को विश्व नागरिकता की ओर अग्रसर करना चाहिये। उसे संसार के भिन्न-भिन्न राष्ट्रों की सभ्यता और संस्कृति से परिचित कराना होगा।

अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास के उपाय

वर्तमान काल में शिक्षा का यह महत्त्वपूर्ण उद्देश्य माना जाता है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय अवबोध को जागृत करे। इसके लिए आवश्यक है कि वर्तमान शिक्षा के उद्देश्य, उसकी पाठ्यचर्या, शिक्षण विधियों एवं अन्य कार्यक्रमों में परिवर्तन किया जाए।

शिक्षा के उद्देश्य में परिवर्तन (Change in Aims of Education)

शिक्षा का प्रथम उद्देश्य व्यक्ति में स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करने की शक्ति का विकास करना है। वर्तमान काल में शिक्षा का उद्देश्य शारीरिक, मानसिक, चारित्रिक, नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और व्यावसायिक विकास करने के साथ-साथ उसे विश्व का नागरिक बनाना भी होना चाहिये। विश्व नागरिक के रूप में अनेक व्यक्ति पूरे संसार के कल्याण की बात सोचेगा और उसके हित के सामने वैयक्तिक, सामूहिक और राष्ट्रीयता द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत-"मेरा देश जो भी उचित या अनुचित करता है, ठीक है, हमारी जाति सर्वोपरि है" का खण्डन भी शिक्षा द्वारा ही सम्भव है। अतः शिक्षा का मुख्य उद्देश्य वही है कि यह नागरिकों को विश्व-नागरिकता के लिए तैयार करे।

पाठ्यक्रम में परिवर्तन (Changing in Curriculum)

• अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना को एक नवीन विषय के रूप में पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया जाए।

• भिन्न-भिन्न देशों के रीति-रिवाजों को, रहन-सहन की समानताओं तथा विभिन्नताओं को तथा उनसे सम्बन्धित विषयों को पाठ्यक्रम में स्थान दिया जाये।

• विश्व के प्रमुख धर्मों तथा आदर्शों को पाठ्यक्रम में महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया जाये।

• विश्व-भूगोल, विश्व-कला, विश्व-साहित्य तथा विश्व-इतिहास को पाठ्यक्रम में उचित स्थान दिया जाये।

अन्तर्राष्ट्रीयता की शिक्षा प्रदान करने के लिए उपयुक्त वातावरण का आज अभाव है। आजकल धर्म, सम्प्रदाय आदि के आधार पर विद्यालय स्थापित किये जाते हैं। इस प्रकार के विद्यालयों को प्रोत्साहन नहीं दिया जाना चाहिये। क्योंकि ये विद्यालय अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना की शिक्षा देने में बाधक होते हैं।

शिक्षण-विधियों में परिवर्तन (Change in Teaching Methods)

अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास के लिये बच्चों में स्वतन्त्र चिन्तन, स्वतन्त्र अभिव्यक्ति, आत्म-विश्वास और विस्तृत दृष्टिकोण का होना आवश्यक है और इन सबका विकास उचित शिक्षण विधियों द्वारा ही किया जा सकता है। बच्चों को स्वयं करके, स्वयं के अनुभव से सीखने के अवसर मिलते हैं और वे सामूहिक रूप से एक दूसरे के सहयोग से समस्त क्रियाओं का सम्पादन करते हैं। भूगोल की शिक्षा देते समय यह बताया जाये कि किस प्रकार भिन्न-भिन्न पदार्थों के लिये एक देश दूसरे देश पर आश्रित है। इतिहास के शिक्षण में सभ्यता और संस्कृति के पक्ष पर बल दिया जाये। विज्ञान को पढ़ाते समय यह बताया जाये कि किस प्रकार विज्ञान के आविष्कार (जो आज मानव सभ्यता के लिए सहायक बने हुए हैं) मानव-जीवन में सुख-समृद्धि ला सकते हैं।

पाठ्य-पुस्तकों में परिवर्तन (Change in the Text Books)

पाठ्य-पुस्तकों में से ऐसी विषय सामग्री निकाल दी जाये जो संकीर्ण राष्ट्रीयता को बढ़ावा दे। उनमें अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के नेताओं के जीवन चरित्र आदि का समावेश होना चाहिये।

समान व्यवहार (Equal Behaviour)

हमें दूसरे राष्ट्र के बच्चों तथा उन राष्ट्रों की वस्तुओं, ध्वजों एवं संस्कृतियों को आदर से देखना चाहिये।

दैनिक सामूहिक सभा (Daily Group Assembly)

विद्यालय का कार्यक्रम ईश-प्रार्थना और राष्ट्रगान से होना चाहिये। इसके पश्चात् 10 मिनट तक नैतिक प्रवचन दिये जाने चाहिये। इन प्रवचनों में कभी भावात्मक एकता पर, कभी राष्ट्रीय एकता पर और कभी अन्तर्राष्ट्रीय एकता पर अवश्य बोला जाना चाहिये।

अन्तर्राष्ट्रीय दिवस (International Day)

इसके लिए यह आवश्यक है कि सभी स्कूलों में संसार के सभी देशों के ध्वज हों और अन्तर्राष्ट्रीय दिवस पर सभी राष्ट्रों के झण्डे फहराये जायें तथा अपने देश की राष्ट्रीय धुन बजायी जाये।

अन्तर्राष्ट्रीय नेताओं के भाषण (Speeches of International Leaders)

यदि इन नेताओं का उपस्थित होना सम्भव नहीं हो पाये तो उनके रिकार्ड किये हुए भाषण स्कूल में बच्चों को सुनाये जा सकते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय नेताओं के जन्म-दिन (Birth-day of International Leaders)

स्कूल में महान् अन्तर्राष्ट्रीय नेताओं के जन्मदिन मनाकर बच्चों के सामने उनके महान् आदर्श प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय खेलकूद (International Games and Sport)

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर खेल-कूद प्रतियोगिता को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

सांस्कृतिक कार्यक्रम (Cultural Programme)

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर युवक अपने-अपने देशों की सांस्कृतिक झाँकी प्रस्तुत करें। इससे देश-विदेश की संस्कृति का पता चलता है और युवक उनका आदर करने लगते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनियाँ (International Exhibitions)

इसमें अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर वेशभूषा, चित्रकारी, शिल्पकला, साहित्य, पाठ्य-पुस्तकें, कुटीर उद्योग आदि की भी प्रदर्शनियाँ लगाई जायें। इस प्रकार बच्चे देश-विदेश की सभ्यता व संस्कृति से परिचित होते हैं।

रेडियो, टेलीविजन पर अन्तर्राष्ट्रीय कार्यक्रम (International Programme on Radio and TV)

रेडियो, टेलीविजन, चलचित्र, समाचार-पत्र तथा पत्रिकाओं आदि का प्रयोग व्यापक रूप से किया जाये। हमें अपने स्कूलों के पुस्तकालयों में अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व व स्तर का साहित्य मँगवाना चाहिये।

अन्तर्राष्ट्रीय पत्र-मित्र (International Pen-Friend)

अपने देश के छात्रों को अन्य देशों के छात्रों के साथ पत्र-मित्रता करनी चाहिए। समय-समय पर वे एक दूसरे के लिए शुभकामना करेंगे तो उनमें एक दूसरे के प्रति सद्भावना बढ़ेगी।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अध्यापकों का आदान-प्रदान (Exchange of Teachers at International Level)

भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के छात्रों तथा नागरिकों को अपने यहाँ बुलायें और अपनी सभ्यता तथा संस्कृति से उन्हें परिचित करायें। इसी प्रकार अध्यापकों का भी आदान-प्रदान करना चाहिये।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर छात्रों के अध्ययन की व्यवस्था (Arrangement of Study of Students at International Level)

अक्सर देख जाता है कि जो छात्र दूसरे देशों में जाकर अध्ययन करते हैं उनके दिल में भी उन देशों के लिए उतना ही प्रेम हो जाता

है, जितना कि अपने देश के लिए। इस प्रकार भी अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना को बढ़ावा मिलता है।

विदेश भ्रमण (Foreign Tours)

राष्ट्रीय संकीर्णता से बचने के लिए विश्व-दर्शन आवश्यक है। यह सभी छात्रों के लिए सम्भव नहीं है परन्तु वे अन्य छात्रों के अनुभवों को सुनकर भी लाभ उठा सकते हैं।

अध्यापक तथा अन्तर्राष्ट्रीयता (Teacher and Internationality)

अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना की शिक्षा को सफल बनाने का सबसे बड़ा उत्तरदायित्व शिक्षक पर है। शिक्षक को स्वयं में वे सब गुण विकसित करने चाहियें जो इस प्रकार की शिक्षा देने में महत्त्वपूर्ण हैं। अच्छा रहेगा यदि हमारी सरकार शिक्षकों को इस प्रकार का विशेष प्रशिक्षण दे। वह अपने विषय के बालकों के सामने किस प्रकार रखता है, यह उसकी क्षमता पर निर्भर करता है। उसकी अभिव्यक्ति व उसका बालकों के समक्ष पाठ्य-वस्तु प्रस्तुत करने का तरीका उचित-अनुचित भावनाओं को प्रेरणा देने वाला होता है। यदि अध्यापक की विचारधारा संकीर्ण है तो बालक के विचार अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर केन्द्रित नहीं होंगे। अध्यापक बालकों के समक्ष द्वेष, घृणा, संकीर्णता आदि की भावना को दूर करके विश्व-प्रेम का सिद्धांत रख सकता है।

अध्यापक को विश्व-इतिहास, विश्व-भूगोल, विश्व-अर्थशास्त्र, विश्व-राजनीति, विश्व के भिन्न-भिन्न मजहबों तथा भिन्न-भिन्न संस्कृतियों का विशेष ज्ञान होना चाहिये। वह यह बता सकता है कि सम्पूर्ण मानव जाति एक है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का पाठ अध्यापक ही पढ़ा सकता है, पुस्तकें नहीं।

[9]

समानता और शिक्षा

(Equality and Education)

शिक्षा में समानता की अवधारणा

(Concept of Equality in Education)

हमारे देश में अथवा किसी अन्य देश में भी जहाँ लोकतंत्र को जीवन शैली के रूप में अपनाया गया है, सामाजिक अथवा राजनैतिक शब्दावली में समानता शब्द का उपयोग व्यापक, प्रायिक व निरन्तर रूप से हो रहा है। परन्तु प्रायः देखा गया है कि लोग बहुधा इस शब्द के क्रियात्मक अर्थ से अनभिज्ञ हैं। प्रायः राजनैतिक स्तर पर कहते सुना जाता है कि सभी व्यक्ति समान हैं; परन्तु व्यक्ति किस रूप से एक दूसरे के समान हैं, एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर किसी भी समतावादी के लिए जानना अत्यन्त आवश्यक है।

भारतीय संविधान की धारा 14 के अन्तर्गत मौलिक अधिकार तथा राज्य के नीति निर्देशक नियम के अन्तर्गत इन अधिकारों तथा नियमों के पीछे एक आशय छिपा है कि सभी व्यक्ति समान हैं तथा जाति, वर्ण, धर्म (मत) या लिंग के आधार पर कोई छोटा अथवा बड़ा नहीं माना जा सकता है। अतः इस प्रकार के आधारों पर किसी व्यक्ति से भेदभाव नहीं किया जा सकता है और संविधान ने हम सबको यह अधिकार भी दिया है कि यदि कोई व्यक्ति यह समझता है कि उसके साथ इस प्रकार के आधारों को लेकर कोई अन्य व्यक्ति अथवा स्वयं सरकार भी भेदभाव का रवैया अपना रही है तो भेदभाव कर्त्ता के विरुद्ध देश के किसी भी न्यायालय में मुकद्दमा चलाया जा सकता है और इस प्रकार के संविधान द्वारा वचनबद्ध अधिकारों की रक्षा की जा सकती है।

यदि शिक्षा की ओर भी ध्यान दिया जाए तो शैक्षिक उद्देश्यों पर की गई कोई भी अर्थपूर्ण चर्चा यह स्पष्ट कर देगी कि शिक्षा का मानव जीवन के महत्त्वपूर्ण पक्षों के साथ एक गहन सम्बन्ध है। शिक्षा शब्द के अर्थ में अन्तर्निहित संज्ञानात्मक विकास तथा कुछ कौशलों, अभिवृत्तियों और विवेक आदि के विकास के साथ कुछ ऐसे मूल्य भी होते हैं जिन्हें हम मानव मूल्यों की संज्ञा देते हैं। अध्यापक व अभिभावक दोनों ही चाहेंगे कि इन मूल्यों का समावेश व विकास उन बच्चों में हो जो विद्यालय में विद्यार्जन के लिए आते हैं।

इन सभी मूल्यों का सम्बन्ध प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से समाज से होता है। अन्यथा भी शिक्षा मानव समाज को व्यवस्थित करने के लिए अनिवार्य रूप से अपेक्षित है। सम्भवतः यही कारण है कि शिक्षा में व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनों प्रकार के उद्देश्य साथ-साथ विवेचित होते हैं। जहाँ पर शिक्षा के व्यक्तिगत उद्देश्यों का सम्बन्ध व्यक्तित्व विशेष से सम्बन्धित प्रकार्यों तथा घटकों के विकास से होता है (जिसमें उसकी बुद्धि, विवेक, अभिवृत्ति आदि सम्मिलित होती है), वहीं पर सामाजिक उद्देश्य के अन्तर्गत व्यक्ति को समाज के एक अनिवार्य घटक के रूप में माना गया है। प्लेटो ने भी 'रिपब्लिक' में शिक्षा के सामाजिक सिद्धांत का वर्णन किया जिसके अनुसार शिक्षा समाज को वह सर्वोत्कृष्ट विशिष्ट वर्ग प्रदान करने के निमित्त होती है जो समाज का प्रभावी संचालन करने में सक्षम है।

दूसरी ओर जॉन डीवी (1938) शिक्षा को एक ऐसे साधन के रूप में मानते हैं जिसके द्वारा लोकतन्त्र को आगे बढ़ाने में सहायता मिलती है और लोकतन्त्र डीवी महोदय की दृष्टि से सर्वाधिक वांछनीय सामाजिक व्यवस्था है। यदि हम जैसा कि डीवी महोदय कहते हैं, मान लें कि वास्तव में लोकतन्त्र ही एक आदर्श सामाजिक व्यवस्था हो सकती है तो प्रश्न उठता है कि लोकतन्त्र में ऐसी क्या चीज है जो इसे सर्वाधिक वांछनीय सामाजिक व्यवस्था बना रही है? इसी प्रकार भारतीय संविधान की वह कौन-सी प्रतीति है, जो इस आत्मा (स्वरूप) को

आधार प्रदान करती है? इसके लिए हमें लोकतंत्र सम्प्रत्यय का विश्लेषण करना पड़ेगा और इस प्रकार उस मूलभूत विश्वास को मालूम करना पड़ेगा जिस पर लोकतन्त्र एक सामाजिक व्यवस्था के रूप में टिका हुआ है; तभी पूर्ण रूप से इस समस्या का समाधान करने में समर्थ होंगे।

जब हम 'लोकतंत्र' शब्द के विषय में प्रत्ययात्मक स्पष्टता प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं तो हम पाते हैं कि मुख्य रूप से इसके अर्थ में सर्वाधिक केन्द्रीय विचार 'मानव समानता' है। सम्भवतः यही कारण है कि जॉन व्हाइट (1982) शिक्षा सम्बन्धी आदेशात्मक अथवा वैचारिक सिद्धांत प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि शिक्षा का उद्देश्य ऐसे समाज की स्थापना होना चाहिए जिसमें सभी व्यक्ति समान समझे जाएँ, अर्थात् जहाँ शिक्षा समानता लाने के लिए और सभी व्यक्तियों को समान जानते हुए दी जानी चाहिए। एक और अर्थ में यह कह सकते हैं कि जहाँ सभी व्यक्तियों के लिए शिक्षा के समान अवसर हों वहीं समानता के लिए शिक्षा है, वही सही अर्थ में लोकतंत्र है।

वास्तव में 'समानता' के अभाव में लोकतंत्र अपने स्वगुणार्थ तथा अर्थ-पूर्णता से वंचित रह जाएगा, और सम्भवतः यही कारण है कि भारत के संविधान रचयिताओं ने यह व्यवस्था की कि सभी व्यक्तियों को चाहे वे किसी धर्म, जाति, लिंग व वर्ण के क्यों न हों, कानून की दृष्टि से समान समझा जाएगा। इसी प्रकार समाज का समतावादी वर्ग 'मानव समानता' की दुहाई देता रहता है और कोलाहल करता रहता है। महान् चिन्तक रूसो का दबाव भी इसी बात पर रहा कि राजनीति की भाँति शिक्षा में भी समानता इसकी सम्पूर्ण प्रक्रिया में व्याप्त हो।

आधुनिक भारतीय विचारक जे. कृष्णामूर्ति जहाँ एक ओर समानता के विषय में रूसो के पक्षधर हैं दूसरी ओर उनके विचार टैगोर, गाँधी, इकबाल तथा जाकिर हुसैन आदि शैक्षिक-सामाजिक चिन्तकों से मिलते हैं। स्वच्छन्द मानवतावाद तथा प्रगतिवाद जैसी प्रवृत्तियों के मूल में जो भाव है वह प्रत्येक बालक व व्यक्ति में समानता की ही प्रतीति

है। आज की बाल शिक्षा के आधार में भी केन्द्रीय प्रवृत्ति यही है कि प्रत्येक बालक को समान समझ कर शिक्षा दी जाए।

समानता (Equality)

मूरे (1982) ने 'समानता' सम्प्रत्यय का एक धनात्मक विश्लेषण करने का प्रयत्न किया और पाया कि वास्तव में यह सम्प्रत्यय अर्थ तत्त्व दृष्टि से काफी अस्पष्ट लगता है। राजनैतिक धरातल पर एक नारे के रूप में आपने प्रायः सुना होगा कि व्यक्ति समान हैं। परन्तु यह शायद ही कभी सुना होगा कि व्यक्ति समान किस आधार पर व किस रूप में हैं। आइए जरा विभिन्न दृष्टिकोणों से देखें कि इसका सही अर्थ क्या है।

समानता तथा व्यक्तिगत भिन्नताएँ (Equality and Personal Differences)

यह हम भलीभाँति समझ सकते हैं कि एक विशिष्ट रूप से समान शब्द का मूल अर्थ है–'वही' उतना ही 'वैसा ही' या 'बराबर'। परन्तु यह वास्तव में एक समस्या प्रतीत होती है कि कैसे सभी व्यक्तियों को बराबर समझा जाए। शाब्दिक अर्थ में सभी व्यक्ति स्पष्ट रूप से एक दूसरे के समान नहीं है। इसके अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक उन्नति के आधार पर मनुष्यों के विषय में प्राप्त विवेक व ज्ञान ने इस बात को असंदिग्ध रूप से स्थापित कर दिया है कि व्यक्तियों में व्यक्तित्व के सभी पक्षों से सम्बन्धित व्यक्तिगत भिन्नताएँ देखी गई है। व्यक्तित्व के ये सभी पक्ष, जिनमें व्यक्तिगत भिन्नताएँ देखी गई है। व्यक्तित्व के ये सभी पक्ष, जिनमें व्यक्तिगत भिन्नताएँ मिलती हैं, मुख्य रूप से संज्ञानात्मक, भावात्मक तथा मनःचालित पक्षों से सम्बन्धित होते हैं। इसका अर्थ है कि व्यक्तियों के विवेक में, समझ में अथवा उनकी विवेक प्राप्त करने की क्षमताओं में भिन्नता पाई जाती है। इसी प्रकार किसी भावात्मक उद्दीपन के प्रति उनकी संवेदनशीलता अलग-अलग होती है। कुछ अत्यधिक कोमल स्वभाव के होते हैं जबकि कुछ अन्य भावात्मक संवेदनशीलता की दृष्टि से बहुत कठोर होते हैं। इसी भाँति विभिन्न

उद्दीपनों के प्रति भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करते हैं। इस प्रकार शाब्दिक रूप में कोई व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के समान नहीं होता है।

समानता–'एक जैसा व्यवहार के रूप में'

निश्चित रूप में हमें मानकर चलना होगा कि 'समानता' प्रत्यय को शाब्दिक रूप में नहीं लिया अथवा समझा जा सकता। जब कोई समतावादी कहता है कि सभी व्यक्ति समान हैं तो इसका यह अर्थ नहीं कि व्यक्ति अनुभवजन्य लक्षणों के आधार पर एक जैसे हैं। सम्भवत: यहाँ पर उसका अर्थ यह है कि सभी व्यक्तियों के साथ एक जैसा बर्ताव किया जाए। परन्तु फिर भी वही प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों। जब वास्तव में सबके साथ एक जैसा व्यवहार करें तो क्या यह अच्छा, उपयुक्त अथवा न्यायोचित होगा? क्या यह हमारी न्याय की धारणा के विपरीत नहीं जाएगा? उदाहरण के लिए हम मासूम व अपराधी दोनों के साथ एक जैसा व्यवहार कैसे कर सकते हैं? अथवा बच्चों के साथ प्रौढ़ों जैसा व्यवहार कैसे कर सकते हैं? हम कैसे बीमार व्यक्ति के साथ वैसा ही व्यवहार करें जैसा हम एक स्वस्थ व्यक्ति के साथ कर सकते हैं?

शिक्षा के क्षेत्र में, हम अध्यापन विधियों की दृष्टि से विषयवस्तु या मूल्यांकन प्रविधियों की दृष्टि से और अन्य कई प्रकार से भिन्न-भिन्न विद्यार्थियों के साथ अलग-अलग होती हैं और यही उचित होगा कि उनके साथ उनकी आवश्यकताओं, क्षमताओं व योग्यताओं के अनुसार व्यवहार किया जाए। ऐसी परिस्थिति में समतावादी नियम का अर्थ होगा कि व्यक्तियों को मात्र उस अवस्था में ही समान व्यवहार दिया जाए जबकि उनकी आवश्यकताएँ व पात्रता समान हों। परन्तु सत्य यह है कि व्यक्तियों की आवश्यकताएँ कभी समान नहीं होतीं और न ही वे किसी दण्ड या पुरस्कार के लिए समान रूप से पात्र होते हैं। अत: उनके साथ कभी भी एक जैसा बर्ताव नहीं किया जा सकता। और यदि किया गया तो वह अत्यन्त अन्यायपूर्ण होगा।

समानता 'अवसरों की समानता' या 'अवसरों के प्रति समान पहुँच' के रूप में

इस बिन्दु पर मूरे (1982) समानता की एक अन्य व्याख्या प्रस्तुत करते हैं जिसे प्राय: समतावादी देते हैं। 'समतावादी को प्राय: यह कहते सुना गया है कि समानता को अवसरों की समानता के रूप में समझना चाहिए; तभी हम इसके स्वगुणार्थ के वास्तविक भाव को पहचान सकते हैं। ऐसी अवस्था में शैक्षिक सन्दर्भ में तब हम कहेंगे कि शैक्षिक चीजों के प्रति सभी की पहुँच समान हो। ये शैक्षिक सामग्री हैं विद्यालय, अध्यापक अथवा ऐसी अन्य सुविधाएँ जो बच्चों को उनके विकास में जो उनसे अपेक्षित हो सकता है, योगदान दे सकें।

ऐसी शैक्षिक सामग्री के प्रति बराबर पहुँच रखना या प्रदान करना वास्तव में एक अत्यन्त कठिन कार्य है। और यथार्थता तो यह है कि शुद्ध रूप में 'समान पहुँच' सम्भव ही नहीं है क्योंकि हर स्कूल या हर अध्यापक अन्य स्कूलों अथवा अध्यापकों से भिन्न होते हैं। अत: यह सम्भव नहीं है कि प्रत्येक विद्यार्थी को इस प्रकार की शैक्षिक सुविधाएँ समान रूप में दी जा सकें अथवा उनकी इन शैक्षिक सामग्रियों के प्रति पहुँच समान हो। एकमात्र सम्भावना यही हो सकती है कि प्रत्येक बालक किसी विद्यालय विशेष में जाने के लिए स्वतन्त्र है।

परन्तु प्राय: यह स्वतन्त्रता भी अच्छी नहीं क्योंकि सभी विद्यालय सभी प्रकार के विद्यार्थियों के लिए उपयुक्त नहीं होते। बालक को इस आधार पर तो मना नहीं किया जा सकता कि वह एक भिन्न जाति, वर्ण, लिंग आदि से सम्बन्ध रखता है, परन्तु यह सम्भव कैसे हो सकता है कि सभी को एक ही विद्यालय में जहाँ वे चाहते हैं पढ़ाया जाए। वास्तव में विद्यार्थियों को उसी विद्यालय में प्रवेश लेना चाहिए जहाँ उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके और अपनी योग्यताओं के अनुरूप वे अपना अधिकतम विकास करने में सक्षम हो जाएँ।

इस प्रकार की नीति अथवा नियम सर्वाधिक वांछनीय और स्वीकार्य होंगे। परन्तु स्वीकार्य अथवा वांछनीय इसलिए नहीं होंगे कि ये समानता के नियम अथवा अवसरों की समानता के नियम पर आधारित हैं। अपितु इसलिए होंगे कि ऐसा करना न्यायोचित अथवा मानवीय होगा। इसका अर्थ होगा कि एक बहरे बच्चे को भी एक सामान्य विद्यालय में

प्रवेश लेने दिया जाए, परन्तु इस प्रकार के प्रवेश का प्रश्न न्यायोचित अथवा मानवता के आधार पर आंकने पर एकदम से असंगत लगेगा।

इसी आधार पर शिक्षा में समान उपलब्धि प्राप्त करना अथवा करने के समान अवसर प्रदान करना सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि अधिकांश रूप में उपलब्धि व्यक्ति की प्राकृतिक प्रतिभा अथवा योग्यता या अपेक्षाओं पर निर्भर करती है। ऐसा होना कि सभी के पास एक जैसी योग्यता हो न तो सम्भव ही है और न ही व्यवहारार्थ रूप में वांछनीय।

समानता-निष्पक्षता, समदृष्टि अथवा औचित्य के नियम के रूप में

'समानता' शब्द की उन विभिन्न दृष्टिकोणों, परिप्रेक्ष्यों तथा सन्दर्भों में रखकर विवेचना की गई है जिनमें सामान्यत: इस शब्द को प्रयुक्त किया जाता है। इस रूप में भी समानता का अर्थ 'वही' अथवा 'एक जैसा' नहीं मिला। इसका अर्थ "सभी के साथ एक जैसा व्यवहार करना' उचित नहीं लगा। सभी को एक जैसा बर्ताव देना तो मात्र उसी अवस्थ ामें उचित था जब सबकी आवश्यकताएँ अथवा पात्रता समान हो।

अरस्तू ने भी बहुत पहले घोषणा की थी कि हमें सदैव एक जैसे मामलों के साथ समान व्यवहार और अलग-अलग मामलों में भिन्न व्यवहार करना चाहिए। और यदि हम बिना उनकी योग्यताओं अथवा प्रवृत्तियो को ध्यान में रखते हुए व्यक्तियों को वही शिक्षा अथवा एक जैसी शिक्षा देना आरम्भ कर दें तो यह न्यायोचित नहीं होगा, क्योंकि ऐसा करने से बच्चों के वास्तविक विकास में कोई योगदान नहीं होगा। सही व्यवहार अथवा निष्पक्ष व्यवहार तो वह है जो न्यायोचित है और ऐसे व्यवहार के लिए यह आवश्यक है कि उनकी परिस्थितियों को ध्यान में रखा जाए और परिस्थिति अनुसार व्यवहार में आवश्यक परिवर्तन किए जाएँ।

इसका अर्थ प्राय: यही होता है कि अलग-अलग व्यक्तियों के साथ यथायोग्य व्यवहार हो, ऐसा व्यवहार जो उनके अधिकतम विकास में (जिसके लिए वे सक्षम हैं) योगदान दें, बाधक न हों। सभी के साथ

एक जैसा व्यवहार किसी भी वास्तविक रूप में नैतिक व व्यवहारार्थ दृष्टि से स्वीकार्य उसी अवस्था में हो सकता है जब ऐसा करना हमारी न्याय की धारणा के अनुरूप हो। अत: समतावादी इसका आशय समान व्यवहार न लेकर न्यायोचित व्यवहार लेते हैं और ऐसे व्यवहार से यह अपेक्षा होगी कि भिन्न-भिन्न विद्यार्थियों के लिए उनकी आवश्यकतानुसार विशेष कक्षाओं का विशेष विद्यालयों और विशिष्ट शिक्षा का प्रावधान किया जाए। ऐसा प्रबन्ध प्रतिभाशाली व कम विकसित दोनों प्रकार के बच्चों के लिए आवश्यक होगा। यह शिक्षा में एक भली-भाँति स्वीकार्य नियम है और रहना चाहिए।

अत: उपर्युक्त तर्काधारों के द्वारा मूरे (1982) कहते हैं कि शिक्षा में समानता का विचार एक सिद्धांत के रूप में नहीं उतरता। उनका कहन है कि 'समानता' सम्प्रत्यय न्याय अथवा औचित्य के समानान्तर माना जा सकता है। शिक्षा में 'न्याय' के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न व्यक्तियों के साथ उनकी आवयकताओं व पात्रता के अनुकूल भिन्न-भिन्न व्यवहार किया जाए।

शिक्षा के व्यवस्थापन का निर्णय इस बात से नहीं हो सकता कि किस सीमा तक इसमें समानता के नियम अथवा समान अवसरों के नियम को प्रोत्साहन मिल रहा है अपितु इसका निर्णय तो इस बात से लिया जा सकता है कि किस सीमा तक बच्चों के साथ, जो भी शिक्षा उन्हें अर्पण कर रही है, न्याय हो रहा है। मुख्य रूप से यही कहा जा सकता है कि एक लोकतान्त्रिक जीवन अथवा शिक्षा के संदर्भ में समता अथवा समानता का सम्प्रत्यय एक केन्द्रीय बिन्दु है, परन्तु इससे हमारा अभिप्राय 'एक जैसा' या 'बराबर' कदापि नहीं है।

व्यक्तियों में व्यक्तित्व सम्बन्धी अथवा सामाजिक परिवेश संबंधी तथा ऐसे कारकों संबंधी जाति, वर्ण, मत, लिंग आदि व्यक्तिगत भिन्नताएँ पाई जाती हैं। परन्तु इन सब भिन्नताओं के होते हुए भी कानून की दृष्टि से सभी व्यक्ति समान समझे जाते हैं। इससे हमारा अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त विभिन्नताओं को आधार मानकर हम अलग-अलग

व्यक्तियों के साथ अन्यायपूर्ण भेदभाव नहीं कर सकते। प्रत्येक व्यक्ति को न्याय की माँग करने का अधिकार है। प्रत्येक व्यक्ति को रहने अपितु स्वतन्त्र रूप से रहने का अधिकार है। अतः समानता का अर्थ समान व्यवहार न होकर न्यायोचित अथवा निष्पक्ष व्यवहार का अधिकार है और समानता की यह व्याख्या हमारे न्याय के सम्प्रत्यय से मेल खाती है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम मत अथवा सिद्धांत का परित्याग कर सकते हैं कि सभी बच्चों के साथ एक जैसा व्यवहार किया जाना चाहिए। इसकी बजाय हम कह सकते हैं कि सभी के साथ निष्पक्षतापूर्ण अथवा न्यायोचित व्यवहार होना चाहिए। इसका अभिप्राय है कि बच्चों के साथ व्यवहार करते समय हमें संगत व असंगत भेद का अन्तर समझना चाहिए जिनके कारण वे असमान प्रतीत होते हैं। औचित्य का प्रश्न-संदर्भ सापेक्ष होता है। आओ इन भेदों को समझने के लिए कुछ नियम निर्धारित करें। प्रथम और अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि किसी सन्दर्भ विशेष में किए गए भेद उस संदर्भ में संगत हों अथवा उस उद्देश्य या लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उपयुक्त हों। वास्तव में उस अवस्था में भेदभाव बरतना जबकि ऐसा करना परिस्थिति विशेष के संदर्भ में अनुचित अथवा असंगत हो अत्यन्त हानिकर या अन्यायपूर्ण होगा।

समतावादी वास्तव में इसलिए प्रतिष्ठित हैं कि वे भेदभाव व विशेषाधिकारों के विरुद्ध लड़ते रहे जो असंगत थे क्योंकि या तो वे विरासत में मिले थे या उन्हें प्राप्त करने में उनकी योग्यता इनका आधार नहीं थी। दूसरी बात यह हो सकती है कि इस प्रकार प्रभेद (अन्तर) सार्वजनिक रूप से किए जाएँ और सुसंगत रूप से वे बराबर के सभी व्यक्तियों पर लागू किये जाएँ।

समतावादी वास्तव में इसलिए प्रतिष्ठित हैं कि वे भेदभाव व विशेषाधिकारों के विरुद्ध लड़ते रहे जो असंगत थे क्योंकि या तो वे विरासत में मिले थे या उन्हें प्राप्त करने में उनकी योग्यता इनका आधार

नहीं थी। दूसरी बात यह हो सकती है कि इस प्रकार प्रभेद (अन्तर) सार्वजनिक रूप से किए जाएँ और सुसंगत रूप से वे बराबर के सभी व्यक्तियों पर लागू किये जाएँ।

उपर्युक्त नियमों को हम उदाहरण देकर स्पष्ट कर सकते हैं। प्रथम उदाहरण उस अवस्था का है जहाँ असमान व्यक्तियों को समान व्यवहार दिया जाता हो जबकि उनकी असमानता को प्रकट करने वाले विभेदीकारक असंगत हों। यदि किसी बच्चे को किसी विद्यालय में प्रवेश मात्र इसलिए दिया जाता है कि वह एक विशेष जाति का है अथवा विशेष धर्म को मानने वाला है तथा अन्य बच्चों को जो ऐसे नहीं हैं प्रवेश मना कर दिया जाता है तो निःसंदेह ऐसा करना अत्यधिक अन्यायपूर्ण होगा क्योंकि मनुष्यों में इस प्रकार के अन्तर अथवा भिन्नता शिक्षणीयता के संदर्भ में असंगत होते हैं।

इसी भाँति यदि लिंग को वरीयता दी जाती है तो भी अनुचित होगा। यद्यपि हम मानते हैं कि स्त्री और पुरुष में भेद होता है परन्तु भेद शिक्षणीयता के संदर्भ के लिए अनुचित है। अतः ऐसा करना न्यायोचित नहीं होगा। अब जरा एक ऐसा उदाहरण लें जहाँ पर असमान व्यक्तियों के साथ असमान व्यवहार किया जाता हो जबकि उनमें पाए जाने वाले अन्तर वास्तव में संगत हैं, किसी उन्नत शैक्षिक कार्य के लिए विद्यार्थियों को उसमें पाई जाने वाली विभिन्न योग्यताओं के आधार पर किया गया पृथक्करण न्यायोचित व संगत होगा।

[10]

मूल्य शिक्षा
(Value Education)

मूल्य शिक्षा की अवधारणा

शिक्षा के प्रमुख उद्देश्यों में से एक अधिगमकर्त्ताओं के व्यक्तित्व का इस प्रकार एकीकरण करना है जिसमें उनको पर्याप्त ज्ञान दिया जा सके तथा उनमें ऐसे कौशल उत्पन्न किये जा सकें जो अधिगमकर्त्ताओं को एक लाभदायक जीवनयापन में मददगार हों। ग्राम्बस (1968) के अनुसार एक व्यक्ति जो किसी एक कौशल को सीख लेता है वह किसी ऐसे व्यक्ति की अपेक्षा अलग तरह का व्यवहार करता है जिसने वह कौशल नहीं सीखा होता। प्रथम प्रकार के व्यक्ति को शिक्षित माना जा सकता है तथा दूसरे को अशिक्षित।

कार्ल रोजर्स (1961) के अनुसार हम शिक्षा के द्वारा अशिक्षित व्यक्तियों को अपना उभारने में मदद देते हैं ताकि वह समाज का एक अभिन्न अंग बन सके। ज्ञान, कौशल, दृष्टिकोण, विश्वास, सांस्कृतिक मूल्य एवं परम्पराओं की दृष्टि से अधिगमकर्त्ताओं के समाजीकरण की प्रक्रिया के लिए शिक्षा एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण साधन माना गया है। हम मानवीय मूल्यों के लिए शिक्षा की महत्ता का अध्ययन करेंगे क्योंकि आज के शैक्षणिक वातावरण में हिंसात्मक आंदोलन, हड़ताल, बंद तथा घेराव आदि कुरीतियाँ व्याप्त हो गई हैं। इस प्रकार के 'छात्र-असंतोष' को सामाजिक मूल्यों के प्रति एक प्रकार का खुला विद्रोह माना जा सकता है।

आधुनिक समय में मानवीय मूल्य

ऐसा माना जाता है कि हमारे समाज के आधुनिकीकरण तथा प्रौद्योगिकीकरण के कारण शैक्षणिक प्रक्रिया में भी परिवर्तन हो चुका है। कुछ विद्वान् ऐसा भी मानते हैं कि शिक्षा अधिगम को बढ़ावा देने की बजाय इसका ह्रास कर रही है। प्रतियोगिता के इस दौर में प्रत्येक व्यक्ति विजेता रहना चाहता है। इस गला-काट प्रतिस्पर्धा के कारण आज हमारे समाज में एक ऐसी कुरीति ने जन्म लिया है जिसका परिणाम भ्रष्टाचार, घूस-खोरी, भाई-भतीजावाद, दाखिले, चयन या नियुक्तियों में अनियमितताएँ हैं। पहले परिवार संयुक्त हुआ करते थे परन्तु औद्योगिकीकरण तथा शहरीकरण के कारण आज परिवार अलग हो रहे हैं तथा अलग कमा रहे हैं वह भी एक असंतुलित वेतन के साथ यानि एक ही परिवार के सदस्यों की आय में भी अन्तर है। इस आय तथा व्यय के अन्तर के कारण भी परिवारों में तथा समाज में असंतोष उपजता है। अपने से बड़ों के तथा छोटों के प्रति मूल्यों तथा आस्थाओं में परिवर्तन आता जा रहा है।

मानवीय मूल्यों में परिवर्तन का एक कारण विदेशी सभ्यता का आक्रमण भी है। यह आजकल आकाश से भी हो रहा है, जैसे पहले रेडियो आया, फिर उसकी जगह टेलीविजन ने ली तथा अब सेटैलाइट (उपग्रह) के जरिए दिन रात लगातार विभिन्न सभ्यताओं तथा संस्कृति का मिला-जुला आक्रमण हमारी अपनी संस्कृति पर हो रहा है। हमारे आचार-विचार, रहन-सहन तथा खान-पान आदि बदल गये हैं।

जनसंख्या कारणों से भी मानवीय मूल्य परिवर्तित होते हैं। आज से बहुत समय पहले डार्विन ने भोजन तथा जगह के कारण होने वाली प्रतियोगिता का सिद्धांत देकर इस विचार की पुष्टि की थी कि हम अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अपनी आदतें तथा विचार भी बदल लेते हैं। शाह ने 'पीढ़ीयांतर-द्वंद्व की प्रकृति' नामक अपने शोध में यह पाया कि पूर्व में मूल्यों का इतना ह्रास नहीं था जितना अब आधुनिक समय में हो रहा है क्योंकि तब जनसंख्या घनत्व भी कम था तथा

व्यक्ति का जीवनचक्र थोड़े समय तक चलता था। ये सब किसी भी नवयुवक की स्वास्थ्य तथा प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति करके मृत्युदर को घटा दिया है और मानव जीवन चक्र को भी बढ़ा दिया है।

इस कारण पीढ़ियों का अन्तर बढ़ता जा रहा है। ऐसा अनुभव किया जाता है कि नवयुवक बुजुर्गों के प्रति अब वह आदर नहीं रखते, जो पहले दिया जाता था। इन पीढ़ियों में अन्तर या दूरी के कारण बुजुर्गों का मानना है कि उनका पर्याप्त आदर नहीं किया जाता तथा नई पीढ़ी का मानना है कि पुरानी मान्यताओं का अब कोई महत्त्व नहीं रह जाता है। इस प्रकार मूल्यों का ह्रास हो रहा है।

शिक्षा की संरचना में परिवर्तन (Change in the Structure of Education)

प्राचीन काल की हमारी शिक्षा पद्धति नैतिक मूल्यों पर आधारित थी। उस पद्धति में सभी धर्मों के प्रति समान आदर तथा मानवता के प्रति प्रेम रखना परम उद्देश्य था। प्राचीन काल में आज की तरह के पारस्परिक विद्यालय, महाविद्यालय नहीं होते थे। जिस तरह की पुस्तक का अध्ययन किया जाता था उनमें किताबी ज्ञान की अपेक्षा उच्चकोटि की साहित्यिक रचनाएँ होती थीं। इन साहित्यिक रचनाओं के द्वारा किसी व्यक्ति के व्यवहार को सामाजिक तौर पर अनुमोदित स्वर में परिवर्तित किया जाता था। अध्यापक की स्थिति आदर्श भूमिका में थी जिसमें वह अपने व्यवहार तथा आचार-विचारों से अपने विद्यार्थियों के समक्ष उदाहरण होता था।

परन्तु आधुनिकता के इस दौर ने शिक्षा की ऐसी पद्धति को जन्म दिया है जहाँ भौतिकवाद को बढ़ावा मिला है तथा प्रत्येक सम्बन्ध को व्यापारिक दृष्टि से लिया जाता है। वे मानवीय सम्बन्ध के लिए आवश्यक तत्त्व माने जाते हैं, आज अपना महत्त्व खोते प्रतीत होते हैं। किसी भी देश या समाज की उन्नति में वहाँ की शिक्षा का योगदान अतुलनीय होता है। संसार के सभी विकसित देशों ने ऐसी पद्धतियों तथा

प्रवृत्तियों का अनुकरण किया है जो व्यक्तिगत तथा सामाजिक तौर पर वर्तमान तथा भविष्य की आवश्यकताओं को पूरा करे।

आज शिक्षा शास्त्री यह महसूस करते हैं कि आधुनिकता के इस दौर में जब मानवीय मूल्य दम तोड़ते प्रतीत हो रहे हैं तथा हमारा समाज भौतिकवाद की अंधी दौड़ में संलिप्त हो रहा है, शिक्षा की महत्त्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। शिक्षा के द्वारा हम अपनी उन प्राचीन परम्पराओं को पुनर्जीवित कर सकते हैं जहाँ गुरु-शिष्य के सम्बन्ध आपसी आदर तथा स्नेह पर आधारित होते थे तथा मानवीय सम्बन्ध की धुरी स्नेह और प्रेम होती थी।

मूल्यों की परिभाषाएँ (Definitions of Values)

सामाजिक विज्ञान के अन्तर्राष्ट्रीय विश्वकोष के अनुसार मूल्य का अर्थ नियमों के उस समुच्चय से है जहाँ चरित्र को व्यक्ति तथा सामाजिक दलों के लिए निर्देशित तथा नियंत्रित किया जाता है।

काटियार के अनुसार मूल्यों का अर्थ मूल्यांकित दृष्टिकोण तथा व्यवहार के निर्धारक से है।

राकाइच ने मूल्यों को चिरस्थायी विश्वास या चरित्र का एक विशिष्ट कार्य अंदाज माना है।

क्लूकोन के अनुसार मूल्य का अर्थ वांछित या इच्छायोग्य की सम्प्रत्ययावस्था से है जहाँ हम व्यवहार के एक तरीके को दूसरे तरीके की अवस्था में बेहतर मानते हैं।

शावर ने मूल्य को परिभाषित करते हुए उसे गुण या योग्यता के मूल्यांकन के लिए नियम, सिद्धांत या रीति बताया है। मूल्यों के द्वारा हम किसी वस्तु घटनाक्रम, विचार या व्यक्ति को अच्छा या बुरा, योग्यवान् या योग्यहीन तथा वांछित या अवांछनीय करार देते हैं। मूल्यों का हम चेतन एवं अचेतन दोनों अवस्थाओं में प्रभावशाली पाते हैं। मूल्यों के कारण हम अपने निर्णय को लागू करते वक्त सिद्धांतों या नियमों से बंधे हुए होते हैं। मूल्य का शब्दकोशीय अर्थ 'मूल्य, दाम, महात्म्य या सारता'

अथवा 'वह जो किसी को लाभदायक एवं मूल्य निरूपण में सक्षम करे' हैं।

मूल्यों की अवधारणा एवं विशेषताएँ (Concept of Characteristics of Values)

मूल्य वे आधारभूत सिद्धांत होते हैं जिन्हें पूर्ण विश्व में स्वीकारा जाता है तथा किसी भी सामाजिक दल या उपदल द्वारा मान्य होते हैं।

मूल्यों का कार्य किसी समुदाय या समाज की इकाई व्यक्तियों की क्रियाओं को निर्देशित करना, नियंत्रित करना, दिशा दिखाना एवं एकीकरण करना आदि है।

मूल्यों के द्वारा हम अपनी भावनाओं एवं चेतना को प्रदर्शित करते हैं।

मूल्यों की स्थापना एक जीवन-पर्यन्त प्रक्रिया है।

मूल्यों को वह सामान्यीकृत दृष्टिकोण माना जा सकता है जो एक बार स्थापित होने के पश्चात् जीवन-पर्यन्त अपना प्रभाव रखता है तथा मानव व्यवहार का आधा होता है।

मूल्यों के प्रकार (Types of Values)

मूल्यों को धार्मिक, नैतिक या नीतिविषयक आदि वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

सामान्यतया मूल्यों के दो प्रकार होते हैं—

(1) परस्पर वैयक्तिक एवं

(2) अंत: वैयक्तिक।

परस्परवैयक्तिक मूल्य सामान्यतया सामाजिक होते हैं तथा अंत:वैयक्तिक मूल्य प्राय: स्वयं या व्यक्ति विशेष से ही जुड़े होते हैं।

जैसा कि हम जानते हैं कि हमारा जीवन दो प्रकार के कारणों-वातावरण तथा वंशानुगत से प्रभावित होता है। इनमें से वातावरण का मूल्यों पर गहरा प्रभाव पड़ता है। ये मूल्य मानव व्यवहार की धुरी

होते हैं तथा मानव व्यवहार के नियंत्रक होते हैं। इन पर सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक प्रभाव अपना असर छोड़ सकते हैं। जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकताएँ, उद्देश्य, दर्शन, दृष्टिकोण एवं प्रेरणा आदि भिन्न-भिन्न होते हैं उसी प्रकार मूल्य भी व्यक्ति में भिन्न-भिन्न हो सकते हैं।

कई चिन्तकों ने मूल्यों को अपनी-अपनी शैली में वर्गीकृत किया है, जैसे—मूरे तथा साथियों ने मूल्यों को मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं के बीस प्रकारों के रूप में तथा मौरिस ने मूल्यों को रहन-सहन के तौर पर पहचाना है। सामान्य तौर पर माने जाने वाले मूल्यों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं:—सामाजिक, आर्थिक, सौन्दर्यात्मक, धार्मिक, राजनैतिक, ज्ञानात्मक (सैद्धांतिक), प्रजातांत्रिक, आजादी, परिवार, स्वास्थ्य, प्रेम, नैतिक एवं आदर आदि।

मूल्यों का महत्त्व (Importance of Values)

मूल्यों को हम मूल्यांकित दृष्टिकोण तथा व्यवहार का संचालक मानते हैं। ये मूल्य किसी व्यक्ति को अपने जीवन में सही या गलत निर्णय लेने को प्रेरित करते हैं। मनुष्य की सभी क्रियाएँ उसके मूल्यों द्वारा संचालित होती हैं। जब कोई मनुष्य किसी कठिन परिस्थिति में अनिश्चय के भंवर में फंस जाता है तो उसके मूल्य उसे नैतिक बल प्रदान करते हैं तथा उसे सही दिशा में जाने को प्रेरित करते हैं।

मानवीय मूल्यों के लिए शिक्षा (Education for Human Values)

किसी बच्चे में मानवीय मूल्य जागृत करने के लिए शिक्षा एक उत्तम साधन है। शिक्षा के द्वारा हम किसी भी देश के नागरिकों में उच्च कोटि के ऐसे गुण पैदा कर सकते हैं जिनके कारण वे देश की उन्नति में अपना सक्रिय सहयोग प्रदान करते हैं। शिक्षा का उद्देश्य केवल छात्रों में शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, चेतनात्मक, आर्थिक या सामाजिक विकास ही नहीं अपितु उनके अन्दर छिपी हुई उन जन्मजात प्रतिभाओं को भी उजागर करना होता है जिससे वे अपने जीवन के सही एवं वास्तविक उद्देश्यों को प्राप्त करने में सफल हों।

प्रो. जी. राम रेड्डी के अनुसार–"भारतीय विषम समाज में सही मूल्यों की पहचान करने के लिए तुरन्त एवं उत्साहपूर्ण कार्यवाही करने की आवश्यकता है। उनको पहचान कर बढ़ावा भी देना है। जहाँ तक वैयक्तिक मूल्यों का प्रश्न है वे समाज में समाज तथा धर्म से धर्म भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, परन्तु कुछ मूल्य जैसे–सत्य, धर्म, शान्ति, प्रेम एवं अहिंसा आदि चिरस्थायी हैं तथा देश के सभी नागरिकों को समान रूप से स्वीकार्य होने चाहिए।"

मानवीय मूल्यों का शिक्षा में अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान है जिसके द्वारा हम सामाजिक कुरीतियों, जैसे–हिंसा, जातिवाद आदि को खत्म कर सकते हैं। ये कुरीतियाँ मानवता की उन्नति में रुकावटें डालती हैं। शिक्षा में सुधार के लिए बनाये गये विभिन्न आयोगों ने भी राष्ट्रीय एकता एवं अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना को बढ़ावा देने के लिये छात्रों में उचित मूल्य दृष्टिकोण पैदा करने के लिये नैतिक तथा आध्यात्मिक शिक्षा पर बल दिया है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986, के अनुसार, "समाज के मूल्यों में हो रहे निरन्तर ह्रास तथा मानवद्वेषी सिद्धांतों में बढ़ोत्तरी के कारण आज इस बात की सख्त आवश्यकता है कि विद्यालयी पाठ्यक्रम में उचित परिवर्तन किये जायें ताकि शिक्षा को सामाजिक एवं नैतिक मूल्यों को जागृत करने के लिए एक प्रभावशाली शस्त्र बनाया जा सके।" सार्वभौमिक प्रकृति के मूल्यों की शिक्षा, जो व्यक्तियों की समानता एवं एकता पर बल देकर अंधकार, धर्मोन्मत्तता, हिंसा, अंध-विश्वास और भाग्यवादिता के उन्मूलन में सहायक होगी, पर बल दिया जायेगा।"

मानवीय मूल्यों की शिक्षा के लिये सुझाव (Suggestions for Human Values Education)

अरूल आंदरम ने अधिगम के सभी स्तरों पर मानवीय मूल्यों के लिये शिक्षा के लिये निम्न सुझाव दिये हैं :

- मानवीय मूल्यों की सही पहचान होनी चाहिये।

• भाषाई पाठ्यक्रमों में चाहे वह निबन्ध हो या काव्य, नॉवल, नाटक या लघु कहानी, उन सभी में मूल्यों को जागृत करने सम्बन्धी उचित अवसर होने चाहिये।

• ऐसे मूल्यों जिनमें हम सामाजिक कुरीतियों, जैसे–हिंसावाद, भ्रष्टाचार तथा जातिवाद आदि को खत्म कर सकें, पर विशेष बल देना चाहिये।

• मानवीय व्यक्तित्व का एक महत्त्वपूर्ण पहलू तथा सामाजिक बन्धनों को मजबूत करने के लिये 'प्रेम' के विकास पर उचित ध्यान देना चाहिये।

• शिक्षण संस्थाओं में प्रत्येक सुबह स्कूल असैम्बली का आयोजन कर प्रार्थना, ध्यान एवं धार्मिक भजन आदि का आयोजन करना होगा ताकि छात्रों में उचित चरित्र निर्माण हो सके।

• विद्यालयी पाठ्यक्रम में विभिन्न धर्मों की आधारभूत एकता, सहिष्णुता की भावना, देश-प्रेम की भावना, ईमानदारी दूसरों के प्रति आदर आदि गुण शामिल करने होंगे।

• विज्ञान तथा तकनीकी को भी नैतिकता तथा धर्म से जोड़ा जाये।

• पाठ्यसहगामी क्रियाओं द्वारा मूल्यों के विकास पर बल दिया जाये।

• अन्त:धार्मिक समानता वार्ताओं का आयोजन होना चाहिये।

• न केवल भाषा शिक्षण अपितु विज्ञान के विषयों में भी मूल्य आधारित उपागम का उपयोग किया जाये।

• अध्यापकों के लिये दर्शन तथा नैतिक पद्धतियों एवं आध्यात्म आदि के लिए समय-समय पर संगोष्ठी एवं ओरिएंटेशन कोर्स का आयोजन किया जाये।

इन सुझावों पर अमल करके मूल्य आधारित शैक्षिक कार्यक्रमों को सफल बनाया जा सकता है।

शिक्षा के साथ-साथ जीवन के लगभग सभी क्षेत्रों में सिद्धांतों एवं नैतिक मूल्यों के पतन ने शिक्षा-शास्त्रियों का ध्यान उन उपायों की तरफ खींचा है जिनको अपनाकर हम समाज में व्याप्त कुरीतियों, जैसे–धर्मान्धता, भ्रष्टाचार, जातिवाद एवं हिंसा आदि पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। हमें ऐसे शैक्षणिक कार्यक्रमों का आयोजन करना होगा जो छात्रों में नैतिक, सौन्दर्यात्मक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों का विकास करें एवं मानवता की भलाई एवं उन्नति के लिये अपना योगदान दें। मानवीय मूल्यों के लिए शिक्षा का स्वरूप ऐसा होना चाहिये जो छात्रों में देश प्रेम की भावना तथा हृदय में सभी के लिये प्रेम का संदेश देकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना को चरितार्थ करें।

[11]

नैतिक शिक्षा

(Moral Education)

आज के जगत के विकास का प्रमुख आधार विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी है। वर्तमान जगत में न केवल ज्ञान का विस्फोट, जनसंख्या विस्फोट, गतिपूर्ण सामाजिक परिवर्तन आदि हो रहे हैं अपितु हमारे परिवार तथा समाज का ढाँचा भी उसी गति से परिवर्तित हो रहा है। प्रचार, विचार-विमर्श तथा विचार-विनिमय के नवीन प्रभावी साधन विकसित हो रहे हैं। इन सभी का हमारे नैतिक मूल्यों पर प्रभाव पड़ा है। आज आवश्यकता इस बात की है कि विज्ञान-आधारित विकास को जीवन-शक्ति हमारे नैतिक एवं आध्यात्मिक आधारों से प्राप्त हों।

नैतिक शिक्षा का अर्थ

Meaning of Moral Education

नैतिक शिक्षा को सामान्यत: व्यापक रूप में ग्रहण किया जाता है। इसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ समाहित हैं, तथा–

- शारीरिक स्वास्थ्य का प्रशिक्षण
- मानसिक स्वास्थ्य
- शिष्टाचार या शुद्ध आचार-विचार
- उपयुक्त सामाजिक आचरण
- धार्मिक प्रशिक्षण के नागरिक अधिकार एवं कर्तव्य आदि।

नैतिक शिक्षा की अवधारणा को स्पष्ट करने के लिये हम नीचे कुछ विचारकों के विश्वासों को प्रस्तुत कर रहे हैं–

कुछ विचारकों का मत है कि नैतिक शिक्षा को धार्मिक शिक्षा से पृथक नहीं किया जा सकता है। यह विश्वास धर्म निरपेक्षता (Secularism) का विरोधी है, क्योंकि यदि धार्मिक शिक्षा के माध्यम से नैतिक शिक्षा को प्रदान किया गया तो संघर्षपूर्ण स्थिति विकसित होने की सम्भावना हो सकती है।

कुछ विचारक नैतिक शिक्षा को चारित्रिक विचारक के रूप में देखते हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि नैतिक शिक्षा उपयुक्त आचरण तथा आदतों के विकास से सम्बन्धित है। इसलिये इसको पढ़ाया नहीं जा सकता है अर्थात् इसका शिक्षण नहीं किया जा सकता है। यह मात्र एक ऐसे वातावरण के निर्माण से सम्बन्धित है जो उन सिद्धांतों की अपेक्षा उदाहरणों के माध्यम से बालकों में उपयुक्त आचरण का विकास कर सकता है। इस दृष्टि से विद्यालय नैतिक शिक्षा के क्षेत्र में कोई महत्त्वपूर्ण योग नहीं दे सकते हैं क्योंकि वहाँ औपचारिकता पर अधिक बल दिया जाता है। अतः इनके विकास में परिवार तथा समुदाय महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकते हैं।

कुछ विचारकों का विश्वास है कि बालक का नैतिक विकास सामाजिक जीवन की स्वाभाविक देन है। अतः नैतिक विकास सामाजिक विकास से अलग कोई वस्तु नहीं है।

कुछ विचारकों ने नैतिक प्रशिक्षण को कुछ विशिष्ट सद्गुणों (Virtues) तथा आदतों का विकास माना है। परन्तु इससे सिद्धान्त-शिक्षण (Indoctrination) के विकास की सम्भावना है।

कुछ विचारकों का मत है कि नैतिकता को ग्रहण किया जाता है न कि पढ़ाया जाता है (Morality caught rather than taught)। अतः नैतिक शिक्षा उपयुक्त भावनाओं तथा संवेगों के विकास से सम्बन्धित है। इसमें भावात्मक पक्ष पर बल दिया जाता है। अर्थात् इसमें संज्ञानात्मक (Cognitive) पक्ष को स्थान नहीं दिया जाता है वरन् भावनात्मक विकास को स्थान दिया जाता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि धर्म तथा नैतिकता दोनों को एक साथ न बाँधा जाय वरन् आवश्यकतानुसार धर्म को नैतिकता के विकास में प्रयुक्त किया जाय। यह सत्य है कि भारत में धर्म को नैतिकता के साथ सम्बद्ध करके ही देखा गया है। नैतिकता में ऐसे गुणों की खोज की जाती है जो मानव को आध्यात्मिक स्तर तक उठाये। धर्म ऐसे गुणों को बताने का दावा करता है। नैतिकता में सत्-असत, भद्र और अभद्र तथा शिव-अशिव पर विचार किया जाता है और केवल सत्, भद्र तथा शिव के अनुसरण पर बल दिया जाता है। जर्मन दार्शनिक काण्ट का मत है कि जब मानव कर्त्तव्यों को ईश्वरीय आज्ञा के रूप में देखता है और उसके लिये नीति धर्म बन जाती है। आरनोल्ड के अनुसार जब नीति के साथ संवेग मिल जाता है तो नीति बन जाती है। यूनान में प्रारम्भ में राजनीति को नैतिकता का आधार बनाया गया था। परन्तु बाद में राजनीति का स्थान धर्म ने ले लिया। आज के भौतिकवादी युग में जब हम धर्म को नैतिकता का आधार बनाते हैं तो साम्प्रदायिकता तथा संघर्ष को जन्म मिलने की सम्भावना बढ़ जाती है क्योंकि आज धर्म को मात्र बाह्य आडम्बरों के रूप में देखा जाने लगा है। उसके वास्तविक स्वरूप की उपेक्षा होने लगी है। इस कारण नैतिकता तथा धर्म को पृथक रखने पर बल दिया जाने लगा है।

अतः हम कह सकते हैं कि आज के धर्म निरपेक्षीय दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर नैतिक शिक्षा को निम्नांकित रूप में देख सकते हैं–

नैतिक शिक्षा द्वारा बालकों को उन विभिन्न परिस्थितियों में रखा जाय जिनमें वे अपनी संज्ञानात्मक क्षमता के आधार उपयुक्त नैतिक निर्णय बनाने में समर्थ हो सकें। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि बालकों के समक्ष विभिन्न परिस्थितियाँ प्रस्तुत की जायें जिनमें वे अपने स्वयं के नैतिक निर्णय बना सकें अर्थात् वे स्वयं अपने मूल्यों का निर्माण कर सकें।

छात्रों को स्वनिर्मित निर्णयों या मूल्यों को अपने जीवन का अंग बनाने की योग्यता तथा प्रतिबद्धता विकसित की जाये।

नैतिक शिक्षा की आवश्यकता
(Need for Moral Education)

चरित्र का निर्माण (Formation of Character) : मनुष्य के भाग्य का निर्माण उसका चरित्र करता है। चरित्र ही उसके जीवन में उत्थान और पतन, सफलता और विफलता का सूचक है। अत: यदि हम बालक को सफल व्यक्ति, उत्तम नागरिक और समाज का उपयोगी सदस्य बनाना चाहते हैं, तो उसके चरित्र का निर्माण किया जाना परम आवश्यक है। यह तभी सम्भव है, जब उसके लिए धार्मिक और नैतिक शिक्षा की व्यवस्था की जाय।

'माध्यमिक शिक्षा-आयोग' ने ठीक ही लिखा है–"चरित्र के विकास में धार्मिक और नैतिक शिक्षा महत्त्वपूर्ण योग देती है।"

उचित मूल्यों का समावेश (Inculcation of Right Values): पाश्चात्य देशों के समाजों में धार्मिक और नैतिक शिक्षा के अभाव के कारण अनेक गम्भीर दोष उत्पन्न हो गये हैं। अत: वहाँ के अनेक महान् विचारकों की यह धारणा बन गई है कि धार्मिक और नैतिक शिक्षा के द्वारा छात्रों में उचित मूल्यों का समावेश किया जाना अनिवार्य है। क्योंकि भारतीय समाज में भी पाश्चात्य समाजों के कतिपय दोष दृष्टिगोचर होने लगे हैं, अत: उनका उन्मूलन करने के लिए पाश्चात्य विचारकों की धारणा के अनुसार यहाँ भी कार्य किया जाना आवश्यक है।

उन्हीं से पथ-प्रदर्शित होकर 'शिक्षा-आयोग' (Education Commission) ने लिखा है–"हम जिस बात पर बल देना चाहते हैं, वह यह है कि शिक्षा के सब स्तरों पर छात्रों में उचित मूल्यों के समावेश के प्रति ध्यान दिया जाना आवश्यक है।"

अनन्त मूल्यों की प्राप्ति (Achievement of Absolute Values) : सत्यम् शिवम् और सुन्दरम्-अनन्त मूल्य समझे जाते हैं। ये सबसे अधिक मूल्यवान् वस्तुएँ हैं जो स्वत: अपना अस्तित्व रखती है और हमारे आदर एवं निष्ठा की पात्र है। हम केवल धर्म और नैतिकता के माध्यम से ही इन मूल्यों को खोजकर और प्राप्त करके अपने जीवन को पूर्ण बना सकते हैं।

अत: शिक्षा में धर्म और नैतिकता को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाना अति आवश्यक है। इसका कारण बताते हुए, रॉस (Ross) ने लिखा है–"शिक्षा को बालकों के कदम ऐसे मार्ग पर चला देने चाहिए जो सच्चा, ईमानदार, न्याय, दोषहीन, सुन्दर और मंगलमय की ओर ले जाता हो।"

अच्छे गुणों व आदतों का निर्माण (Development of Good Qualities and Habits): अर्नेस्ट चेव (Ernest J. Chave) के अनुसार–बालकों को धार्मिक और नैतिक शिक्षा दी जानी इसलिए आवश्यक है, क्योंकि वह उनमें अनेक अच्छे गुणों और आदतों का निर्माण करती है; यथा–उत्तरदायित्व की भावना, सत्य की खोज, उत्तम आदर्शों की प्राप्ति, जीवन-दर्शन का निर्माण, आध्यात्मिक मूल्यों की अभिव्यक्ति इत्यादि।

ऐतिहासिक तथ्य की अवहेलना (Disregard of Historical Fact) : सुल्तान मुहीउद्दीन के अनुसार भारतीय–सन् 1950 से धार्मिक और नैतिक शिक्षा की माँग करते चले आ रहे हैं। उनकी माँग का आधार यह ऐतिहासिक तथ्य है कि धर्म और नैतिकता का उनके जीवन में अति महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। उनकी माँग को पूरा न करना, इस ऐतिहासिक तथ्य की अवहेलना करना है।

'विश्वविद्यालय शिक्षा-आयोग' के प्रतिवेदन में अंकित ये शब्द अक्षरश: सत्य है–"यदि हम अपनी शिक्षा-संस्थाओं से आध्यात्मिक प्रशिक्षण को निकाल देंगे, तो हम अपने सम्पूर्ण ऐतिहासिक विकास के विरुद्ध कार्य करेंगे।"

धार्मिक व नैतिक शिक्षा की विषय-सामग्री
(Content of Religious and Moral Education)

भारत में अनेक धर्मों और सम्प्रदायों के व्यक्ति निवास करते हैं। संविधान की 19वीं धारा उनको अपने धर्मों का अनुसरण करने की पूर्ण स्वतंत्रता देती है। गाँधीजी के अनुसार–"मेरे लिए नैतिकता, सदाचार और धर्म-पर्यायवाची शब्द है। नैतिकता के आधारभूत सिद्धान्त सब धर्मों

में समान हैं। इनको बालकों को निश्चित रूप से पढ़ाया जाना चाहिए और इसको पर्याप्त धार्मिक शिक्षा समझा जाना चाहिए।"

गाँधीजी के उक्त शब्दों को ध्यान में रखकर, भारत-सरकार द्वारा नियुक्त की जाने वाली 'समितियों' और 'आयोगों' ने धार्मिक और नैतिक शिक्षा की विषय-सामग्री के सम्बन्ध में जो सुझाव दिए हैं, वे निम्नलिखित हैं–

'धार्मिक शिक्षा समिति' के सुझाव–जनवरी, 1944 'केन्द्रिय शिक्षा सलाहकार बोर्ड' (Central Advisory Board of Education) ने लाहौर के विशप बार्ने (Right Rev. G.D. Barne) की अध्यक्षता में, 'धार्मिक शिक्षा-समिति, (Religious Education Committee) की नियुक्ति की, और इससे शिक्षा-संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा दिए जाने के सम्बन्ध में सुझाव माँगे। इस 'समिति' ने अपनी 1946 की रिपोर्ट में धार्मिक और नैतिक शिक्षा की विषय-सामग्री के सम्बन्ध में निम्नांकित सुझाव दिए हैं–

- शिक्षा की प्रत्येक योजना में जीवन के नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों को स्थान दिया जाय।
- सब धर्मों के सामान्य नैतिक और आध्यात्मिक सिद्धान्तों को पाठ्यक्रम का अभिन्न अंग बनाया जाय।
- सब धर्मों की सम्मति से अनेक सामान्य नैतिक और आध्यात्मिक सिद्धान्तों का शैक्षिक कार्यक्रम तैयार किया जाये।

'विश्वविद्यालय शिक्षा-आयोग' के सुझाव–1948 में डॉ. राधाकृष्णन् की अध्यक्षता में नियुक्त किए जाने वाले 'विश्वविद्यालय-शिक्षा-आयोग' ने धार्मिक और नैतिक शिक्षा की विषय-वस्तु के बारे में अधोलिखित सुझाव दिए हैं–

विद्यालय स्तर, विशेष रूप से माध्यमिक स्तर के लिए 'आयोग' के सुझाव निम्नलिखित हैं–

- छात्रों को श्रेष्ठ नैतिक और धार्मिक सिद्धांतों को व्यक्त करने वाली कहानियाँ पढ़ाई जाये।

• छात्रों को महान् व्यक्तियों की जीवनियाँ पढ़ाई जायें।

• जीवनियों में महान् व्यक्तियों के उच्च विचारों और श्रेष्ठ भावनाओं का समावेश किया जाय।

• कहानियाँ और जीवनियाँ–श्रद्धा, सुन्दरता और सज्जनता से लिखी जायें।

विश्वविद्यालय-स्तर के लिए 'आयोग' के सुझाव इस प्रकार हैं–

• डिग्री कोर्स के प्रथम वर्ष में बुद्ध, कन्फ्यूसियम, जोरोस्टर, सुकरात, ईसा, शंकर, रामानुज, माधव, मोहम्मद, कबीर, नानक गाँधी आदि महान् धार्मिक नेताओं की जीवनियाँ पढ़ाई जायें।

• द्वितीय वर्ष संसार के धार्मिक ग्रन्थों में से सार्वभौमिक महत्त्व के चुने हुए भागों को पढ़ाया जाय।

• तृतीय वर्ष में धर्म-दर्शन की मुख्य समस्याओं का अध्ययन किया जाय।

• छात्रों में नैतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्यों का विकास करने के लिए भारत में अन्य देशों की संस्कृति से सामग्री का संकलन किया जाय।

• प्रथम डिग्री कोर्स के पाठ्यक्रम में संसार के विभिन्न धर्मों के सामान्य अध्ययन को स्थान दिया जाय।

• डिग्री कोर्स के प्रथम वर्ष में महान् धार्मिक नेताओं की जीवनियाँ पढ़ाई जायें।

• उक्त कोर्स के द्वितीय वर्ष में संसार के धार्मिक ग्रन्थों मे से सार्वभौमिक महत्त्व के चुने हुए भागों को पढ़ाया जाय।

• उक्त कोर्स के तृतीय वर्ष में धर्म-दर्शन की मुख्य समस्याओं का अध्ययन किया जाय।

• विश्वविद्यालयों के तुलनात्मक धर्म-विभागों द्वारा उपयुक्त धार्मिक और नैतिक साहित्य तैयार किया जाय।

धार्मिक व नैतिक शिक्षा की विधियाँ
(Methods of Religious and Moral Instruction)

धार्मिक और नैतिक शिक्षा की विधियों के बारे में अपना मत व्यक्त करते हुए 'शिक्षा-आयोग' (Education Commission) ने लिखा है-"हमारा विश्वास है कि यह शिक्षा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष-दोनों विधियों से दी जानी चाहिए। हम अप्रत्यक्ष प्रभाव के कार्य को अधिक महत्त्व देते हैं।" हम प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष विधियों पर अध ोलिखित पंक्तियों में दृष्टिपात कर रहे हैं-

प्रत्यक्ष विधियाँ (Direct Methods) : धार्मिक और नैतिक शिक्षा देने की प्रत्यक्ष विधियाँ निम्नलिखित हो सकती हैं-

समय-तालिका में धार्मिक और नैतिक शिक्षा के लिए निर्धारित घण्टे।

-Education Commisssion.

शिक्षक द्वारा छात्रों को धार्मिक और नैतिक कहानियों, घटनाओ, पौराणिक कथाओं आदि को सुनाया जाना। -Mobiyuddin.

शिक्षक द्वारा छात्रों को धार्मिक, नैतिक और सामाजिक मूल्यों की शिक्षा। -Education Commisssion.

शिक्षक द्वारा छात्रों को महान् धार्मिक और सामाजिक नेताओं की जीवनियाँ और आत्म-कथायें सुनाया जाना। -Mohiyuddin.

छात्रों द्वारा नैतिक पुस्तकों, धार्मिक ग्रन्थों, धार्मिक समस्याओं और तुलनात्मक धर्म का अध्ययन।

-University Education Commisssion.

छात्रों और शिक्षक से धार्मिक और नैतिक विषयों पर विचार-विमर्श, और छात्रों द्वारा प्रश्न पूछा जाना। -Mohiyuddin.

किसी धार्मिक या नैतिक सिद्धान्त के विषय में छात्र के मस्तिष्क में सन्देह उत्पन्न होने पर शिक्षक द्वारा परामर्श और उसका निवारण किया जाना। -Mohiyuddin.

खेल कार्य आदि के समय छात्रों के समक्ष उत्पन्न होने वाली नैतिक समस्याओं के सम्बन्ध में शिक्षक द्वारा उनका पथ-प्रदर्शन किया जाये।

अप्रत्यक्ष विधियाँ (Indirect Methods): धार्मिक और नैतिक शिक्षा देने की अप्रत्यक्ष विधियाँ निम्नलिखित हो सकती हैं–

मौन चिन्तन (Silent Meditation)–राधाकृष्णन् आयोग का कथन है कि सभी शिक्षा-संस्थाओं का कार्य कुछ मिनट के मौन चिन्तन के बाद आरम्भ होना चाहिए।

प्रात:कालीन सभा (Morning Assembly)–अनेक शिक्षाविदों का विचार है कि विद्यालय का कार्य आरम्भ होने से पूर्व प्रात:कालीन सभा का आयोजन किया जाय। इस सभा में विद्यालय के सब छात्र सामूहिक रूप से उपासना करने के लिए एकत्र हों। उपासना के अनेक रूप हो सकते हैं; जैसे–मौन प्रार्थना, धार्मिक संगीत, किसी धार्मिक गीत का गायन या किसी श्रेष्ठ धार्मिक ग्रन्थ का पढ़कर सुनाया जाना।

प्रात:कालीन सभा की उपयोगिता बताते हुए हुमायूँ कबीर ने लिखा है–"दैनिक सभा–सम्मिलित उपासना का महान् ग्रन्थों के वाचन द्वारा छात्रों को जीवन के कुछ उच्चतम मूल्यों के सम्पर्क में आने और मानवीय आदर्शों एवं महत्त्वाकांक्षाओं की मूलभूत एकता को समझने का अवसर देती है।"

धार्मिक समारोह (Religious Celebrations): सभी विद्यालयों में महान् धर्म-प्रवर्त्तकों के जन्मोत्सव और सभी धर्मों के धार्मिक उत्सव मनाये जायें। इन अवसरों पर विभिन्न धर्मों के सार्वभौमिक सिद्धान्तों पर व्याख्यान और उपदेश दिये जायें।

इन उत्सवों के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए सुल्तान मुहीउद्दीन ने लिखा है–"ये उत्सव धार्मिक भावना को प्रोत्साहित करने और जीवित रखने में एवं धार्मिक वातावरण का निर्माण करने में सहायता देते हैं।"

विद्यालय का सामुदायिक जीवन (Corporate Life of School): विद्यालय के सामुदायिक जीवन को धार्मिक और विशेष रूप से नैतिक शिक्षा देने का महत्त्वपूर्ण साधन बनाया जा सकता है। शिक्षक और छात्र को, एवं एक छात्र और दूसरे छात्र को अपने पारस्परिक सम्बन्धों, नैतिक नियमों का प्रयोग करने और सीखने का सुनहरा अवसर मिलता है।

खेल के मैदान में भी वह अवसर प्राप्त होता है। वास्तव में, 'शिष्ट आचरण करना' (Playing the game)–एक अति श्रेष्ठ मानव-गुण है। छात्रों में इस गुण को विद्यालय ही उत्पन्न कर सकता है। रॉस के अनुसार–"ऐसा विद्यालय, पर्वत के शिखर पर मौजूद की तरह होगा, जिसे छिपाया नहीं जा सकता है।"

सामूहिक कार्य (Group Work): 'शिक्षा-आयोग' ने शिक्षा में धार्मिक, नैतिक और सामाजिक मूल्यों का विकास करने के लिए विभिन्न प्रकार के सामूहिक कार्यों का सुझाव दिया है; जैसे–समाज-सेवा, कार्य-अनुभव (Work-Experience) सामूहिक खेल-कूद आदि। पाश्चात्य देशों में इस प्रकार के सामूहिक कार्य बहुत लाभप्रद सिद्ध हुए हैं। अमरीका का उदाहरण देते हुए, रोसेक (Jeseph S. Roucek) ने लिखा है–"अध्ययनों से सिद्ध होता है कि समूह में ही हमारे धार्मिक मूल्यों दृष्टिकोणों और आदर्शों का सर्वोत्तम प्रकार से विकास होता है।"

रूस में, जहाँ चर्च या धर्म का उन्मूलन कर दिया गया है, सामूहिक कार्य का प्रयोग छात्रों को नैतिक शिक्षा के लिए किया जाता है। राजा रायसिंह (Raja Roy Singh) के अनुसार–"आचरण के वांछनीय लक्षणों का विकास करने के लिए सामूहिक कार्य को सबसे अधिक महत्त्व दिया जाता है।"

विद्यालय-बालकों के लिए नियम (Rules for School Children): राजा रायसिंह ने लिखा है कि रूस में नैतिक शिक्षा का उद्देश्य है–बालकों में देश-प्रेम, अनुशासन, संगठन और ईमानदारी की भावना एवं कार्य और सार्वजनिक सम्पत्ति के प्रति उचित दृष्टिकोण का

विकास करना। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए 'विद्यालयों में बालकों के लिए नियम' बनाये गये हैं। इन नियमों का पालन करने से बालकों में नैतिक सामाजिक मूल्यों का पूर्ण विकास हो जाता है। साथ ही, उनके कार्य और विचार समाज की माँगों के अनुकूल बन जाते हैं। भारत में, इसी प्रकार के नियमों का निर्माण किया जाना आवश्यक है।

सुझाव व प्रेरणा (Suggestion and Inspiration): बालकों के मस्तिष्क में धार्मिक और नैतिक आदर्शों का समावेश बलपूर्वक या आदेश द्वारा नहीं किया जा सकता है। ऐसा करने के लिए शिक्षक को उन्हें सुझाव और प्रेरणा देनी चाहिए। सुझाव देने की सर्वोत्तम विधि बताते हुए 'विश्वविद्यालय शिक्षा-आयोग' ने लिखा है–"सुझाव की सर्वोत्तम विधि–व्यक्तिगत उदाहरण, दैनिक जीवन और कार्य द्वारा है।

विद्यालय का वातावरण (Atmosphere of School): धार्मिक और नैतिक विकास के अभाव में बालक का बौद्धिक विकास अर्थहीन है। अतः बौद्धिक विकास के साथ-साथ, उसका धार्मिक, नैतिक विकास भी किया जाना आवश्यक है। उसका यह विकास पाठों द्वारा शिक्षा देकर नहीं किया जा सकता है। यह तभी सम्भव है जब विद्यालय का सम्पूर्ण वातावरण इस प्रकार का हो कि बालक को अपनी नैतिक उन्नति के लिए धार्मिक बल प्राप्त हो।

यह वातावरण किस प्रकार का होना चाहिए इसके सम्बन्ध में 'विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग' ने अपना मत इन शब्दों में अंकित किया है–"यदि हमारी शिक्षा-संस्थाएँ छात्रों को धार्मिक बल प्रदान करना चाहती हैं, तो उनमें सादगी और पवित्रता का वातावरण होना चाहिए, जो जीवन पर स्थायी प्रभाव डालता है।"

युगों के अन्त और परिवर्तन, साम्राज्यों के उत्थान और पतन, आततायियों के आगमन और प्रस्थान के बावजूद भी हमारे जीवन के धार्मिक और नैतिक प्रवाह में सहस्रों वर्ष बाद भी कोई विशेष शिथिलता नहीं आई है। भौतिकवाद की ओर तेजी से बढ़ते हुए भी हमारे अपने धार्मिक विचार, नैतिक आदर्श, आध्यात्मिक मूल्य और सामाजिक

मान्यताएँ हैं। अतः हमारी शिक्षा इनकी ओर से आध्यात्मिक मूल्य और सामाजिक मान्यताएँ हैं। अतः हमारी शिक्षा इनकी ओर से अपना मुँह मोड़कर हमारा भला नहीं कर सकती है। भला यह तभी कर सकती है, जब यह धर्म और नैतिकता को अपना अभिन्न अंग बनाये, विद्यालयों के पाठ्यक्रमों में इनको गौरवपूर्ण पद प्रदान करें और सब विषयों के शिक्षणों से इनका सह-सम्बन्ध स्थापित करे।

इतने पर भी, शायद कुछ दुराग्रही और हठवादी-धर्म निरपेक्षता की आड़ लेकर यह झूठा दावा करने की कोशिश करें कि नैतिक शिक्षा भले ही दी जाय पर धार्मिक शिक्षा देना–धर्म की स्वतन्त्रता प्रदान करने वाले भारत के भाल पर काला धब्बा लगाना है। इन व्यक्तियों के लिए हमारे पास महायोगी **श्री अरविन्द** का यह उत्तर है–"चाहे धर्म की किसी रूप में स्पष्ट शिक्षा दी जाय या नहीं, पर ईश्वर के लिए, मानवता के लिए, देश के लिए, दूसरों के लिए और इन सबमें अपने जीवित रहने के लिए–धर्म के इस सार को प्रत्येक विद्यालय का आदर्श बनाया जाना आवश्यक है।"

संदर्भ

1. "Whether distinct teaching in any form of religion is imparted or not, the essence of religion, to live for God, for huminity, for country, for others, and for oneself, in these must be made the ideal in every school."

—Shri Aurobindo: A True National Education, P.13.

[12]

मानवीयकरण और शिक्षा
(Humanization and Education)

मानवीयकरण की अवधारणा

आज के अशान्त युग में हमें वैसी शिक्षा की अपेक्षा है, जिससे हमारे चरित्र में उच्च आदर्शों और सद्‌गुणों का समावेश हो, जो सच्ची मानवता की जननी है जिस प्रकार आज हमारे वर्तमान जन समाज को समाजीकरण तथा भावात्मक एवं राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता है, उसी प्रकार आधुनिक युग की वाणिज्यिक और भौतिकवादी प्रवृत्तियों को भी मानवीयकरण की ओर उन्मुख करना है। इससे लोगों में लोकहित की भावना जागेगी। वस्तुतः मानवीयकरण के सुदृढ़ आधारस्तंभ पर ही सामाजीकरण एवं राष्ट्रीकरण की सुदृढ़ अट्टालिका नियोजित, निर्मित और सुदृढ़ हो सकेगी।

बुद्धि, विवेक, सद्‌गुण, साहस, सद्‌भावना तथा सरल जीवन और उच्च विचार जैसे गुण ही आदर्श मानव (सच्ची मानवता) के प्रबल प्रतीक हैं। इन गुणों के विकास के लिए हमें तदनुरूप शिक्षा-व्यवस्था अर्थात् पाठ्यक्रम का निर्माण करना ही पड़ेगा, अन्यथा मानव-मूल्यों का कभी भी विकास नहीं होगा। मानव-मूल्यों का ह्रास, एक दिन समस्त मानवता के विनाश का कारण भी हो सकता है।

चीन के सुप्रसिद्ध दार्शनिक एवं शिक्षा-शास्त्री कनफ्यूशियस ने शिक्षा के माध्यम से आदर्श मानव के निर्माण की कल्पना को साकार बनाने पर बल दिया था। उचित, व्यवस्थित और सच्ची शिक्षा द्वारा मानव अपने दोषों को देखने में समर्थ होता है। उसमें यह क्षमता आती है कि

बुद्धि और विवेक का सहारा लेकर वह सद्‌गुणों को अपने चरित्र का अंग बनावे और सद्‌भावनापूर्वक मानव के कल्याणार्थ अपने कदम बढ़ावे। सरल जीवन एवं उच्च विचार का आदर्श, मानवता के उच्च शिखर पर पहुँचने में, मानव की मदद करेंगे। यहूदी जनजाति के प्राण महात्मा मोसेज के शिक्षा-दर्शन का प्रथम उद्देश्य था-"सरल जीवन एवं उच्च विचार से हमारे अन्दर मानवोचित गुणों का आविर्भाव होता है, श्रेष्ठता के लक्षण आते हैं, तथा वे शक्तियाँ प्रादुर्भाव होती हैं, जिनके सहारे हम अपना ही नहीं, अपितु अपने समाज, राष्ट्र और विश्व तक का कल्याण करने में समर्थ होते हैं।"

महामना पंडित मदनमोहन मालवीय भी शिक्षा का अन्तिम उद्देश्य मानव-मूल्यों का विकास ही मानते थे। हमारा सर्वोदयी दर्शन भी सबके उदय, विकास एवं हित के सिद्धांत का पोषक है। अहिंसा एवं सत्य के आधार पर स्थापित वर्गविहीन, जाति-विहीन एवं शोषणविहीन समाज की स्थापना, जिससे प्रत्येक व्यक्ति को अपनी उन्नति का पर्याप्त अवसर मिले, सर्वोदय का लक्ष्य है। ऐसा समाज सद्‌भावना, प्रेम और अहिंसा के आधार पर ही स्थापित हो सकता है तथा प्राणिमात्र के कल्याण और विश्वबन्धुत्व की कल्पना भी तभी साकार होगी।

आदर्श व्यक्ति ही आदर्श मानव बन सकेगा। दोनों के आदर्श में बड़ी तारतम्यता है। अत: अपने किशोरों को हम आदर्श व्यक्ति बनावें। यूनान के सुप्रसिद्ध दार्शनिक एवं शिक्षाशास्त्री अरस्तू ने एक आदर्श व्यक्ति की परिभाषा देते हुए इस आशय के शब्द लिखे हैं :

"एक आदर्श व्यक्ति अकारण ही अपने को संकट में नहीं डालता; क्योंकि ऐसी वस्तुएँ बहुत कम हैं, जिनके लिए उसे चिंता करनी पड़ती है। परन्तु अवसर आने पर वह अपनी जान भी देने को तैयार रहता है; क्योंकि वह जानता है कि कतिपय परिस्थितियों में मृत्यु, जीवन धारण करने से भी अधिक श्रेष्ठ है। वह दूसरों की सेवा करने के लिए सर्वदा तत्पर रहता है तथा दूसरों से अपनी सेवा कराने में लज्जित होता

है।

किसी पर दया करना श्रेष्ठता है, परन्तु दया का पात्र बनना लघुता। .... वह क्या चाहता है और क्या पसंद करता है, वह स्पष्ट होता है। वह बिना हिचक के साफ-साफ बातें कहता और कार्य करता है। वह प्रशंसा से कभी अतिशय प्रसन्न नहीं हो जाता; क्योंकि उसकी दृष्टि में कोई वस्तु बड़ी नहीं है। वह सभी के साथ मित्रता का व्यवहार कम करता है और किसी का दास बनना नहीं चाहता। वह अपने मन में क्षुद्र विचारों को नहीं रखता तथा दूसरों द्वारा की गई हानियों को भूल जाता है। उसे बातचीत करने का बहुत शौक नहीं होता। वह यह नहीं चाहता कि उसकी प्रशंसा हो तथा दूसरों की निंदा। वह दूसरों की, यहाँ तक कि अपने शत्रुओं की भी निंदा तथा बुराई नहीं करता। उनकी वाणी में गंभीरता होती है तथा वह नपे तुले शब्दों का प्रयोग करता है।

वह किसी वस्तु के संबंध में चिंतित नहीं रहता। वह किसी बात को बहुत जोर देकर भी नहीं कहता; क्योंकि वह किसी भी बात को बहुत महत्त्व नहीं देता। वह जीवन के संघर्षों का सामना गौरव और गरिमा से करता है और परिस्थितियों से यथासंभव लाभ उठा कर अपनी शक्ति का उसी प्रकार प्रयोग करता है, जैसे युद्ध में एक सेनानायक। वह अपना सबसे बड़ा मित्र होता है तथा एकांत में बड़े आनन्द के साथ रहता है। इससे विपरीत जो व्यक्ति गुणहीन और अयोग्य है, वह स्वयं अपना सबसे बड़ा शत्रु है और वह एकांत से घबराता है।"

हमारा शिक्षा-विधान अब ऐसा होना चाहिए, जिससे भारत के नवयुवकों का व्यक्तित्व आदर्श व्यक्ति और मानवीयता के गुणों से सम्पन्न हो। शिक्षा-क्षेत्र की समस्त समस्याओं का ही नहीं, अपितु हमारे पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय समस्याओं का भी एक बड़ी सीमा तक निदान निकल जाए, अगर भारतीय नवयुवक मानवीयता के गुणों को जान लें, पहचान लें और धारण कर लें।

शिक्षा के छात्रों के संवेगात्मक विकास पर पूरा-पूरा ध्यान देना चाहिए। संवेगों की शिक्षा एवं उचित मार्गदर्शन की अवहेलना नहीं होनी

चाहिए। शिक्षा के वास्तविक लक्ष्य की उपलब्धि में संवेगों का बहुत हाथ है। शिक्षा-मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि संवेगों और सीखने की क्रिया में घनिष्ठ संबंध है। बौद्धिक विकास एवं संवेग, जीवन के ये दोनों पक्ष अन्योन्याश्रित हैं। भय या क्रोध के कारण छात्र सीखी हुई बात भी भूल जाता है।

संवेग क्रियाशीलता के स्रोत हैं। छात्रों का चरित्र-गठन, मानसिक विकास, किसी विषय को पढ़ने में रुचि तथा ध्यान की एकाग्रता आदि उनकी संवेगों की उचित शिक्षा पर निर्भर करते हैं। संवेगों के वास्तविक विकास से उनमें उत्साह, वीरता, सहानुभूति, प्रेम, दया एवं विद्यानुराग आदि भाव विकसित होते हैं। यही नहीं, संवेगावस्था में व्यक्ति महान् कार्य भी कर सकता है।

यदि संवेगों का मार्ग दोषयुक्त है, तो क्रियाशीलता का रूप भी दोषपूर्ण होगा। अत: छात्रों के संवेगों को उपयुक्त मार्ग पर ले चलने के लिए यह आवश्यक है कि उनके आसपास का वातावरण स्नेहपूर्ण हो। संवेगों के अभ्यास के लिए स्नेहपूर्ण वातावरण नितांत आवश्यक है। अनिश्चितता की अवस्था भयपूर्ण बने रहने से छात्रों के संवेगात्मक विकास में बड़ी त्रुटि उत्पन्न होती है। संवेगात्मक शिक्षा के अभाव में छात्रों का मस्तिष्क कठोर एवं संकीर्ण ही होता है। ऐसी अवस्था में उनके मस्तिष्क को कठोरता एवं संकीर्णता से बचाने के लिए शिक्षक को विशेष सचेष्ट रहने की आवश्यकता है।

संवेग भी दो प्रकार के होते हैं :-

1. निश्चयात्मक एवं
2. निषेधात्मक।

शिक्षकों को निश्चयात्मक संवेगों को ही प्रश्रय देना चाहिए। निश्चयात्मक (रचनात्मक) संवेगों का तात्पर्य उन संवेगों से है जो सहानुभूति, स्नेह, दया एवं करुणा आदि भावनाओं को उत्पन्न करते हैं। घृणा, द्वेष और क्रोध आदि भावनाओं को उत्पन्न करने वाले संवेग

निषेधात्मक संवेग कहे जाते हैं। निश्चयात्मक या रचनात्मक संवेगों की शिक्षा के आधार पर अध्यापक छात्रों में प्रेम, एकता, दया, करुणा, उदारता, प्रसन्नता, एवं शांति के साथ-साथ विश्वबंधुत्व की भावना उत्पन्न कर सकने में समर्थ होगा। इस प्रकार शिक्षक, जो छात्रों के जीवन-पथप्रदर्शक हैं, समाज और राष्ट्र का कल्याण कर सकने में समर्थ सिद्ध होंगे, अगर वे तत्पर बनें।

मानव-मूल्यों के नियोजन, संगठन, संचालन और विकास में धार्मिक, नैतिक एवं चारित्रिक शिक्षा की बड़ी आवश्यकता है। मानवीयता के मूल्यांकन में हम तभी सक्षम और समर्थ होंगे, जब इन गुणों से हमारा समग्र व्यक्तित्व गठित और संचालित होगा।

धर्म की अवधारणा

धर्म कोई मत-मतान्तर नहीं, अपितु सत्य के अनुसंधान-पथ में एक तीव्र आलोक है। इसका अर्थ धार्मिक प्रमत्तता कदापि नहीं, बल्कि शाश्वत आन्तरिक अनुशासन है।

नैतिकता की अवधारणा

धर्म के परिष्कृत स्वरूप का ही दूसरा नाम 'नैतिकता' है। नैतिकता के गुणों की सम्पन्नता ही मानवीयता का आधार है।

मनुष्य की पाशविक प्रवृत्तियों, संकीर्ण मनोवृत्तियों तथा साम्प्रदायिक भावनाओं के परिशोधन और मानवता के उच्च गुणों से हमारा साक्षात्कार कराने में धर्म और नैतिकता (धार्मिक और नैतिक शिक्षा) का अत्यधिक महत्त्व है। इससे विद्यार्थियों को नई दिशा मिलेगी, नया मोड़ प्राप्त होगा और वे ऐसे बहुत से अवांछनीय अवगुणों से स्वत: विलग होंगे, जो मानव-मन को दिग्भ्रमित और चित्तवृत्तियों को कलुषित करते हैं।

प्रेम, दया, करुणा, स्नेह, सहानुभूति, संयम, विनय, शील, नियमबद्धता, आज्ञाकारिता, अनुशासनप्रियता, उदारता, मातृभावना, परोपकारिता, सामाजिकता और सामूहिकता आदि हमारे नैतिक गुण हैं। ये गुण मानव-मूल्यों से हमारा साक्षात्कार कराते हैं।

पेस्टालॉजी ने मानव-जीवन को सुख-संपन्न बनाने के लिए जीवन-शिक्षा के सिद्धांत द्वारा हमारे मानसिक, शारीरिक और नैतिक-तीनों पक्षों को परिष्कृत करने की बात तो बतलायी है, परन्तु इन तीनों में नैतिक पक्ष ही उन्हें विशेष मान्य है। नैतिक पक्ष को वे समस्त गुणों का केन्द्र बिन्दु मानते हैं। उनका विचार है कि मानव का नैतिक जीवन सर्वप्रमुख है तथा मानसिक एवं शारीरिक गुण सहायक हैं। मनुष्य को अपने बौद्धिक गुणों का पूर्ण विकास करना चाहिए। उसे निर्माणात्मक कार्यों में भी रत होना चाहिए तथा उत्पादन की क्रिया को सीखना चाहिए, किन्तु उपरोक्त दोनों गुण ही मानव-जीवन के लक्ष्य नहीं।

पेस्टालॉजी कहते हैं कि "मनुष्य के नैतिक और धार्मिक पक्ष का विकास ही मेरी संपूर्ण शिक्षा-विधि की आधारशिला है।" शिक्षा का प्रमुख लक्ष्य पूर्ण व्यक्तित्व को प्राप्त करने में है। पूर्ण व्यक्तित्व में अन्य मनुष्यों के व्यक्तित्व तथा चरम सत्ता से संबंध स्थापित करने का गुण वर्तमान रहता है। नैतिक और धार्मिक जीवन का ही यह कार्य है कि वह अन्य शक्तियों में परस्पर संबंध स्थापित करे तथा उन्हें एकात्म कर दे।

पेस्टालॉजी के ये उपयुक्त विचार सुप्रसिद्ध भारतीय शिक्षाशास्त्री राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी, योगीराज अरविंद और भूतपूर्व राष्ट्रपति श्री राधाकृष्णन् से मिलते हैं। उन लोगों ने भी नैतिक और धार्मिक शिक्षा को अपने पाठ्यक्रम का आवश्यक अंग माना है। राधाकृष्णन् नैतिक शिक्षा के संबंध में बतलाते हैं कि इससे जीवन का लक्ष्य स्पष्ट होता है। जीवन का लक्ष्य स्पष्ट हुए बिना जीवन अर्थपूर्ण नहीं हो सकता। किसी भी देश की महानता उसकी भौतिक सभ्यता से नहीं, बल्कि उसकी नैतिक और आध्यात्मिक प्रगति से आंकी जानी चाहिए।

शिक्षा में व्यावसायिक लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए चाहे कितने ही प्रयास किए जाएँ, लेकिन नैतिक शिक्षा के बिना शिक्षा का वास्तविक और उचित लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सकता। आजकल नैतिक शिक्षा का वास्तविक और उचित लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सकता। आजकल

नैतिक शिक्षा का महत्त्व इसलिए भी बढ़ गया है कि संसार को भावी विश्वयुद्ध की विभीषिका से बचाने के लिए मानव प्राणियों की नैतिकता ही एकमात्र आधार है। नैतिकता की शिक्षा के लिए–परिवार और विद्यालय–दो प्रमुख और सर्वश्रेष्ठ संस्थाएँ हैं। राधाकृष्णन् ने लिखा है–"हमें उचित सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करना चाहिए, किंतु हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि मनुष्य आर्थिक दृष्टि से ही संपन्न नहीं बन जाए। पूर्ण मनुष्य के लिए आत्मा का आनन्द एवं सौंदर्य आवश्यक है जो प्रेम, आस्था तथा पुनर्जीवित मानवता के लिए कार्य करने की क्षमता से परिपूर्ण हो।"

अरस्तू ने साहस, सहिष्णुता, उदारता, दया, विशालता, उच्च विचार, सत्य, तीव्र बुद्धि, मित्रता, विनय एवं शुभाचरण को मनुष्य के नैतिक गुणों के अन्तर्गत बतलाया है।

चरित्र का स्वरूप

धर्म और नैतिकता के समन्वित स्वरूप ही हमारी आदत बनकर चरित्र का निर्माण करते हैं। चरित्र, मानवीयता की आधारशिला है। इंग्लैंड के सुप्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री 'जॉन लॉक' (1632-1704 ई.) ने चरित्र-निर्माण पर बहुत बल दिया है।

उस शिक्षा को वे कोई महत्त्व नहीं देते थे, जिससे चारित्रिक विकास नहीं हो। चरित्र मनुष्यत्व की आधारशिला है। चरित्रविहीन पुरुष समाज का कीड़ा है। लॉक ने चरित्र की परिभाषा व्यापक रूप में बतलाई है। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है कि वह नवयुवकों को चरित्रवान् बनाये। लॉक के विचारानुसार बालकों को नैतिक शिक्षा प्रदान करनी चाहिए। नैतिक शिक्षा के माध्यम से ही उनके अंदर सद्विचार, सद्गुण, दया, करुणा, संवेदना और सहानुभूति आदि गुणों का विकास होगा। बालकों के चारित्रिक विकास के लिए लॉक बहुत उद्यमशील बने रहे। उनका विचार था कि शिक्षा-संस्थाओं का संगठन इस पद्धति से किया जाए कि उसके प्रबल प्रवाह में विद्यार्थियों के चारित्रिक उन्नयन की सबल लहर व्याप्त हो। चरित्रहीनता पशुता का द्योतक है।

प्राचीन भारतीय शिक्षा-प्रणाली में अंतेवासिन ब्रह्मचारियों के चारित्रिक उन्नयन एवं गठन के लिए आचार्य अत्यधिक सचेष्ट रहते थे। पाठ्य-प्रणाली का प्रणयन संयमिता नियमों के सुसंचालन पर आधारित था; क्योंकि प्राचीन आर्य चरित्र की महिमापूर्ण महत्ता एवं गरिमापूर्ण धवलता से पूर्णत: प्रभावित और आकर्षित बने रहे। भारत के प्रसिद्ध संन्यासी महर्षि दयानंद, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी श्रद्धानन्द तथा राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने शिक्षा में चरित्र की महत्ता मात्र स्वीकार ही नहीं की, वरन् शिक्षा-संस्थाओं में इसके पूर्णरूपेण प्रचलन पर बल भी दिया। पाश्चात्य शिक्षाशास्त्री मार्टिन लूथर, जॉन कालविन और मांटेस्क्यू आदि सभी बालकों में चरित्र की उज्ज्वल मर्यादा वर्द्धन हेतु सचेष्ट रहे हैं।

चीन के प्रसिद्ध समाज-सुधारक, नीतिज्ञ एवं शांति के पुजारी कन्फ्यूशियस ने लगभग ढाई हजार वर्ष पहले चरित्रविकास को सामाजिक संगठन के लिए आवश्यक बतलाया था। चरित्र के अंतर्गत उन्होंने सदाचार, सद्व्यवहार, सभ्यता, शिष्टता तथा शील आदि को स्वीकार किया। दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए, जैसा कि दूसरों से अपने प्रति व्यवहार की आशा रखी जाए। इस नैतिक व्यक्तिगत गुण को भी कनफ्यूशियस चरित्र का एक आवश्यक अंग मानते थे। उन्होंने कहा था, "रोमी साम्राज्य का पतन उसी समय होगा, जब रोम के निवासियों का नैतिक पतन हो जाएगा।"

धार्मिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की शिक्षा के सम्बन्ध में कोठारी आयोग ने अपनी अनुशंसा इस आशय में व्यक्त की है–

धार्मिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की शिक्षा

आज हम विनाश के उस कगार पर खड़े हैं, जहाँ से कुछ भी बचने वाला नहीं है। विश्व में सांस्कृतिक-सामाजिक संघर्ष उत्पन्न हो गया है। प्रत्येक व्यक्ति अशान्त है और उस अशांति का प्रमुख कारण है–मानव-मूल्यों का पतन। पतन की इस प्रक्रिया पर केवल एक प्रकार से विजय प्राप्त की जा सकती है–वह है विद्या की प्रक्रिया में धार्मिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा को पर्याप्त स्थान दिया जाए।

शिक्षाशास्त्री प्रायः इस समस्या पर एकमत नहीं रहे हैं। उनका विचार है कि धर्मनिरपेक्ष राज्य में धार्मिक शिक्षा या धर्म-जैसी शिक्षा को स्थान नहीं मिलना चाहिए। पर, हम यह भूल जाते हैं कि भारत में प्रत्येक व्यक्ति जन्म से लेकर मरण तक धर्म से बँधा है और वह उससे किसी भी प्रकार अलग नहीं हो सकता।

शिक्षा-आयोग ने जिस आधुनिकता को प्राप्त करने की चर्चा की है, उसके साथ-साथ आयोग ने यह भी स्वीकार किया है कि भारतीय समाज एक महान् संस्कृति का उत्तराधिकारी है। आयोग ने यह भी स्वीकार किया है, आधुनिकीकरण का यह तात्पर्य नहीं कि हमारी राष्ट्रीय परिस्थितियों में नैतिक, आध्यात्मिक एवं आत्मानुशासन के मूल्यों के निर्माण के महत्त्व को पहचानने से इंकार किया जाए।

आधुनिकीकरण यदि जीवन-शक्ति है, तो इसे आत्मा से शक्ति प्राप्त करनी होगी। प्रायः ऐसा कहा जाता रहा है कि आध्यात्मिक, नैतिक एवं धार्मिक मूल्यों का सम्बन्ध व्यक्तिगत विकास से है, इसलिए सामाजिक उत्थान के लिए इसकी क्या आवश्यकता है? परन्तु, इस संदर्भ में आयोग के विचारों में सामुदायिक कल्याण की ध्वनि गूँज उठती है व्यक्ति और समुदाय एक-दूसरे के पूरक हैं। आयोग ने कहा भी है-"यह स्वभावतः व्यक्ति की प्रेरणा एवं मूल्यों के अवबोध पर निर्भर करता है कि वह वैयक्तिक संतोष के लिए या समुदाय एवं भावी कल्याण के लिए मूल्यों को ग्रहण करे।"

आज हम जिस दौर से गुजर रहे हैं, वह सांस्कृतिक संघर्ष का युग है भौतिकता तथा आध्यात्म का संघर्ष है, व्यक्ति और नीति का संघर्ष है, विवेक और अविवेक का संघर्ष है। मूल्यों, प्रतिमानों, सिद्धांतों के प्रत्ययों का संघर्ष है। संघर्षों की प्रक्रिया में मानव दिग्भ्रमित हो गया है। आयोग ने इस परिस्थिति का अनुभव भी किया है-

"नई पीढ़ी में सामाजिक एवं नैतिक मूल्यों की निर्बलता पाश्चात्य समाज में अनेक गंभीर सामाजिक और नैतिक संघर्षों को उत्पन्न कर रही है। पाश्चात्य विचारक यह अनुभव करने लगे हैं कि

ज्ञान एवं कौशल में संतुलन हो, वैज्ञानिक तथा प्राविधिक नैतिकताएँ धर्म से सम्बद्ध की जाएँ, स्वयं के ज्ञान में अनुसंधान हो, जीवन का अर्थ माना जाए, मानव के परस्पर संबंधों का ज्ञान हो एवं वास्तविक सत्य का उद्घाटन हो।"

आज हम जिस प्रकार नैतिक उत्थान की आवश्यकता अनुभव कर रहे हैं, वह कोई नई बात नहीं है। ब्रिटिश सरकार ने भी धार्मिकता तथा नैतिकता की आवश्यकता की ओर संकेत किया था। सन् 1882 में शिक्षा आयोग ने प्राकृतिक धर्म के आधारभूत सिद्धांतों के आधार पर पाठ्य-पुस्तकों के निर्माण का सुझाव दिया था और यह भी कहा था कि हर शिक्षण-संस्था में प्रधानाचार्य अथवा कोई प्राध्यापक मानव-कर्त्तव्यों के विषय से सम्बन्धित भाषण-माला का आरंभ करो। यद्यपि के.टी. तेलंग ने इसका विरोध करते हुए कहा था–"धर्मनिरपेक्ष राज्य में धार्मिक शिक्षा से वह उद्देश्य प्राप्त नहीं होगा, जो हम चाहते हैं। धर्म के पक्ष में हम वह सफलता प्राप्त नहीं कर पाएँगे, जो हम चाहते हैं और जो परिणाम होंगे, उनसे गिरावट ही आएगी।"

सन् 1944-46 में केन्द्रीय परामर्शदात्री समिति ने कहा–(1) धर्म को उदार रूप में शिक्षा को प्रोत्साहन देना चाहिए और पाठ्यक्रम का निर्माण नैतिक आधार पर होना चाहिए। (2) चरित्र-निर्माण में आध्यात्मिक तथा नैतिक मूल्यों की आवश्यकता है। अतः घर तथा समुदाय पर इस प्रकार के गुणों के विकास का उत्तरदायित्व होना चाहिए।

सन् 1948 में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने नैतिक मूल्यों की शिक्षा के लिए एक विस्तृत पाठ्यक्रम दिया और शिक्षा आयोग (1964-66) ने उसका समर्थन किया है। हमारा संविधान अपनी धारा 28 और 30 में राजकीय अथवा राजकीय सहायता प्राप्त संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा का विरोध करता है। केवल न्यासों (Trusts) द्वारा स्थापित संस्थाएँ धार्मिक शिक्षा प्रदान करती हैं। सरकार धर्म के आधार पर कोई सहायता नहीं देगी। मुदालियर आयोग ने धर्म की अनौपचारिक

शिक्षा पर बल दिया है। शिक्षा आयोग ने घर तथा समुदाय के वातावरण को नैतिकतापूर्ण बनाने पर बल दिया है।

मूल्यों के विकास हेतु सुझाव

शिक्षा आयोग ने धार्मिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों के विकास के लिए ये उपाय सुझाए हैं:–

केन्द्र तथा राज्य-सरकारों द्वारा सभी शिक्षण-संस्थाओं में भौतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक मान्यताओं की शिक्षा की व्यवस्था की जाए। यह शिक्षा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा प्रस्तुत पाठ्यक्रम के अनुसार दी जाए। व्यक्तिगत प्रबन्धों द्वारा संचालित शिक्षा-संस्थाओं में भी इन सुझावों के अनुसार नैतिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों की शिक्षा दी जाए। प्राथमिक स्तर पर नैतिकतापूर्ण कहानियों के माध्यम से शिक्षा दी जाए। विद्यालय के समय विभाग चक्र में एक या दो कालांशों की व्यवस्था की जाए। शिक्षक ऊँचे आदर्श प्रस्तुत करें। विश्वविद्यालयों में 'तुलनात्मक धर्म' नामक विभाग की स्थापना की जाए। माध्यमिक स्तर पर विचार-विमर्श पर बल दिया जाए।

आयोग ने श्रीप्रकाश समिति के विचारों को भी समर्थन प्रदान किया है। इस समिति ने विकास के लिए आवश्यक सुझाव दिए थे। अत:, आयोग द्वारा प्रस्तावित संस्तुतियों पर विचार करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आज संसार में मनुष्य सुख चाहता है। सुख की प्राप्ति वितृष्णा से नहीं होगी। सुख को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को अपने जीवन-क्रम में परिवर्तन लाना होगा। ये परिवर्तन लाने वाले मूल्य हमें अपने देश से प्राप्त होंगे। आयोग का विचार है–

"मूल्यों के निर्माण में हमें अपनी रूढ़ियों एवं प्रथाओं पर निर्भर रहना चाहिए। साथ-ही-साथ अन्य देशों की प्रथाओं एवं संस्कृतियों को साथ लेना चाहिए। भारतीय विचारों में भी वह प्रवाह है, जो हमें नए दृष्टिकोण की ओर ले जा सकता है और व्यक्ति को जीवन की स्वीकृति एवं हर्ष प्रदान कर सकता है।"

हमारे देश में अनेक धर्म हैं और सभी धर्मों की शिक्षा विद्यालयों में नहीं दी जा सकती। फिर भी सभी धर्मों का मूल आधार एक है, मूलभूत आधारों का ज्ञान तो प्रदान किया ही जा सकता है। भारत जैसे बहुधर्मी देश में धर्म के प्रति राज्य का दृष्टिकोण स्पष्ट होना चाहिए। धार्मिक शिक्षा एवं धर्मनिरपेक्षता की व्याख्या होनी चाहिए। धर्मनिरपेक्ष नीति का अर्थ है कि आर्थिक भेदभाव के बिना प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक अधिकारों के भोग की स्वतंत्रता होगी।

धर्मनिरपेक्ष राज्य में हमारी आस्थाओं को यह चुनौती मिली है कि क्या हम ऐसी परिस्थिति में भी सनातन मूल्यों की रक्षा एवं विकास कर सकते हैं। यह चुनौती हमारी आस्था एवं विश्वास को शक्ति प्रदान करने के लिए है। आयोग ने केनोपनिषद् का यह मंत्र अपने प्रतिवेदन में उद्धृत किया है–

"केनेषितं पतति प्रेषितं मनः
केन प्राणः प्रथमः प्रेति युक्तः।
केनेषितं वाचामिमः वदन्ति
चक्षुः श्रोतं कउ देवो युनक्ति।।"[1]

आज एकांगी होकर हम अपने अस्तित्व को नहीं बनाए रख सकते। हमें प्रगति की इस दौड़ में मध्यम तथा समन्वय का मार्ग ग्रहण करना होगा, तभी हम शिक्षा के माध्यम से आध्यात्मिक, नैतिक एवं धार्मिक मूल्यों का विकास कर सकेंगे।

आयोग ने इस मध्यम मार्ग को स्वीकार भी किया है। यदि विज्ञान एवं अहिंसा, विश्वास और आस्था व्यवहार से युक्त हो जाएँ, तो मानव उपयोगिता, वैभव एवं आध्यात्मिक ज्ञान का नवीन शीर्ष प्राप्त कर लेगा। बच्चे-बच्चियों, नवयुवक और किशोरों में मानवीय गुणों के विकास-हेतु परिवार तथा समाज का भी बड़ा योगदान है। अतः इनके स्वरूप-संगठन के निमित्त हमारा निरन्तर प्रयास होना चाहिए।

1. केन उपनिषद्।

परिवार का स्वरूप

परिवार एक ऐसी संस्था है, जो बालकों के लिए सर्वप्रथम शैक्षिक वातावरण की सृष्टि करती है। अच्छे परिवार का वातावरण अनुशासनपूर्ण होता है। मनमानी, निरंकुशता, पारस्परिक ईर्ष्या और अनियमित जीवन को रोकने को प्रयत्न परिवार में ही होता है। बालकों के शारीरिक मानसिक, भावनात्मक, संवेगात्मक, धार्मिक, नैतिक तथा चारित्रिक अंगों के पूर्ण विकास के लिए परिवार में अनुकूल परिस्थितियों की योजना अत्यन्त आवश्यक है। वस्तुतः ये ही गुण मानवीयता के स्रोत हैं तथा इनके अभाव में बालक उच्छृंखल बनते हैं। व्यवस्थित परिवार के उच्च आदर्शों द्वारा प्रशिक्षित बालक सद्व्यवहारशील बनेगा और अनुशासन उसके चरित्र का अंग होगा। वस्तुतः मानवीयता का सर्वप्रथम दर्शन बच्चों को अपने परिवार में ही होता है। एक संकीर्ण वातावरण वाले परिवार अथवा एक भग्न-परिवार[1] का बालक निःसंदेह अमानवीय तत्त्वों की ओर प्रवृत्त होगा।

समाज का आधार

सामाजिक वातावरण और स्थिति के अनुसार ही बच्चों के आचरण का निर्माण होता है। समाज में सद्गुण है, तो विद्यार्थी भी तदनुकूल आचरण करने वाले होंगे। अतः अपने सामाजिक वातावरण और स्थिति को सुसंगठित तथा आदर्श बनाने के लिए हमें प्रयत्नशील रहना चाहिए। आज भारतीय परिवार और उसका समाज अपनी उस आदर्श स्थिति पर नहीं हैं, जहाँ से मानवीयता के गुण स्वतः प्रस्फुटित होते थे।

प्राचीन भारत का निर्माण धार्मिक तत्त्वों के आधार पर हुआ था। प्राचीन भारतीयों का धार्मिक और नैतिक जीवन जगत्प्रसिद्ध है। धार्मिक जीवन के कारण उनका दृष्टिकोण भी सर्वथा धार्मिक एवं आध्यात्मिक होता था। अतः शिक्षा का उद्देश्य भी धर्म से पूर्णतः प्रभावित होता था।

---

1. Broken Family

छात्रों में धार्मिक प्रवृत्ति को जाग्रत करना ही शिक्षा का सर्वप्रथम उद्देश्य था। उनका गुरुकुल जीवन धार्मिक एवं आध्यात्मिक आधार पर इस प्रकार गठित था कि अपने भावी जीवन में आध्यात्मवाद, आत्मनिग्रह और आत्मसंयम आदि सद्गुणों की ओर वे स्वतः प्रवृत्त होते थे।

प्राचीन भारतीयों के धार्मिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण के फलस्वरूप गुरुकुल आश्रमों में धार्मिक साहित्य की प्रधानता थी। ऐसे साहित्य के पठन-पाठन के अतिरिक्त छात्रों में पवित्र आदतों के निर्माण पर बल दिया गया था। मानव-जीवन की उन्नति में आदत का ही तो सर्वप्रमुख स्थान है। आधुनिक शिक्षाशास्त्री एवं शिक्षा मनोवैज्ञानिक आदत की शैक्षणिक महत्ता[1] को पूर्णतः स्वीकार करते हैं। बाल्यावस्था एवं किशोरावस्था की आदतें जीवनपर्यन्त अपना रूप दिखाती रहती हैं।

ब्राह्मणकालीन गुरुकुल में धार्मिक आदतों के विकास के लिए अन्तेवासिन ब्रह्मचारियों को प्रातःकाल शय्या त्याग कर, गुरुचरणों को छूकर प्रणाम करने के पश्चात् प्रार्थना और पूजा में संलग्न होना पड़ता था। पुनः सायंकाल सामूहिक पूजा-पाठ, चिन्तन, मनन, संध्या और व्यायाम आदि का विधान था। पर्वों एवं धार्मिक उत्सवों के अवसरों पर विशेष विशेष अनुष्ठान का आयोजन होता था। उस दिन उन्हें उपवास तथा व्रत करना पड़ता था। इस प्रकार विद्यार्थी मनसा, वाचा और कर्मणा धार्मिक जीवन में संलग्नशील रहकर विद्याभ्यास तथा स्वाध्याय की ओर प्रवृत्त होते थे। चिन्तन एवं मनन की क्रिया द्वारा प्राप्त विषय सम्बन्धी ज्ञान को तो वे पुष्ट तो करते थे, भावी जीवन के लिए भी उनमें स्वस्थ आदतों का निर्माण और विकास होता था।

धार्मिक प्रवृत्ति के विकास के साथ चारित्रिक एवं नैतिक समृद्धि ब्राह्मणकालीन शिक्षा की प्रमुख विशेषता थी। आर्य, चरित्र की मर्यादा एवं नैतिक संवर्द्धन को सर्वश्रेष्ठ स्थान देते थे। उनके जीवन के समस्त कार्यकलाप चरित्र की श्रेष्ठ मर्यादा के निर्माण के लिए हुआ करते थे।

---

1. Educational values of habits

प्राचीन भारतीय अपने चारित्रिक उन्नयन के अभाव में सब कुछ फीका और नीरस समझते थे।

आधुनिक शिक्षाशास्त्री भी चरित्र-गठन को परमावश्यक मानकर पाठ्यक्रम में उसे प्रमुख स्थान देते हैं। विद्यालय-प्रबंध आज ऐसा होना चाहिए कि उसकी धारा में विद्यार्थियों के चारित्रिक विकास की प्रबल लहर प्रवाहित हो। भारत के प्रसिद्ध संन्यासी महर्षि स्वामी दयानन्द और स्वामी विवेकानन्द ने अपने शिक्षा-दर्शन में चरित्र की महत्ता की सम्यक् विवेचना करते हुए विद्यार्थियों के लिए इसको आवश्यक बतलाया है।

पाश्चात्य शिक्षाशास्त्री मार्टिन लूथर, जॉन कालविन, जॉन लॉक और मान्टेस्क्यू आदि भी चरित्र की उज्ज्वल, मर्यादा के वर्द्धन हेतु शिक्षा-संस्थाओं को सर्वदा सचेष्ट रहने का आदेश देते हैं। चरित्र शिक्षा की कसौटी है। इमर्सन ने लिखा है–"किसी भी देश की सभ्यता की सच्ची कसौटी है वहाँ की जनसंख्या या नगरों की विशालता या वहाँ की फसलें नहीं हैं, अपितु यह है कि वहाँ के मनुष्यों का चरित्र कैसा है।" ब्राह्मणकालीन शिक्षा इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सचेष्ट बनी रही।

गुरुकुल आश्रमों के ब्रह्मचारियों की दैनिक दिनचर्या ही सत्य एवं तप की आधारशिला पर इस भाँति अवस्थित थी कि उनका चारित्रिक विकास स्वतः होता था। उनके पाठ्यक्रम तो धार्मिक तत्त्वों से भरे हुए थे ही, गुरुकुल में प्रविष्ट होते ही प्रत्येक ब्रह्मचारी को वेद-मंत्र, प्रार्थना और संध्या सम्बन्धी श्लोक कंठस्थ करा दिए जाते थे। आश्रम का धार्मिक वातावरण, आचार्य के पवित्र जीवन का सहवास, धार्मिक ग्रंथों एवं धार्मिक उपदेशों का पठन-पाठन एवं श्रवण, धार्मिक अनुष्ठानों, यज्ञों, प्रार्थना, हवन तथा सर्वोपरि गुरु-शिष्य का पिता-पुत्र के समान स्वाभाविक, पवित्र और आत्मीय निकट सम्बन्ध इस प्रकार व्यवस्थित किया गया था कि छात्रों का आध्यात्मिक तथा बौद्धिक विकास तो होता ही था, चारित्रिक गठन एवं उन्नयन भी होता था।

आज हजारों वर्ष पश्चात् भी भारतीय संस्कृति अपनी महिमामय स्वस्थ तथा गौरवपूर्ण उन्नत स्वरूप में, जगत् के समक्ष उपस्थित है,

इसलिए कि गुरुकुल आश्रमों के ब्रह्मचारी विद्यार्थियों का निर्मल धवल चरित्र धार्मिक तथा आध्यात्मिक जीवन से परिपूर्ण होता था। इसलिए आज परिवार, समाज और राष्ट्र के लिए शिक्षा को मानवीकरण की ओर अग्रसर करने की महती आवश्यकता है। शिक्षा को मानवीकरण के साथ संबद्ध करके इसे मानवीय केन्द्रित बनाना होगा नहीं तो वह दिन दूर नहीं जब शिक्षा पशु केन्द्रित बनकर रह जायेगी। इस दिशा में अध्यापकों को नवीन चुनौतियों का सामना करने के लिए तैयार रहना होगा।

13

चरित्र निर्माण और शिक्षा

(Character Formation and Education)

मनुष्य का सुख और दुःख बहुत अंशों तक उसके चरित्र पर निर्भर करता है। चरित्रवान् मनुष्य सुख शक्ति को उपलब्धि करता है, जबकि चरित्रहीन व्यक्ति सर्वदा भय, निराश और दुःख के वातावरण से ग्रस्त रहता है। उसके विचार अस्थिर और मस्तिष्क अंतर्द्वन्द्व से पूरित होते हैं। उसमें आत्मविश्वास का अभाव और विषयलोलुपता अधिक होती है। उसमें अपने निश्चय के अनुसार कार्य करने की क्षमता नहीं होती। परन्तु, चरित्रवान् व्यक्ति विपरीत परिस्थितियों का सामना धैर्य और उत्साह से करते हैं।

चरित्रवान् के अन्दर चरित्र की परिभाषा करते हुए प्रसिद्ध आधुनिक शिक्षाशास्त्री श्री ए.एल. रोबक ने अपनी पुस्तक 'परसनैलिटी टेस्ट ह्वेदर केरेक्टर एण्ड परसनैलिटी' के पृष्ठ 221-222 में लिखा है–"किसी भी व्यक्ति के सैकड़ों पृथक्-पृथक् कामों, हजारों स्वतंत्र आदतों या प्रवृत्तियों का नाम 'चरित्र' नहीं है, अपितु चरित्र उन थोड़े से नियामक सिद्धांतों का नाम है, जो संयम की प्रक्रिया द्वारा मनुष्य की सहज प्रवृत्तियों (Instincts) पर अंकुश रखते हैं।"

सेम्युअल स्माइल्स ने चरित्र की परिभाषा करते हुए इसे 'आदतों का समूह' (Character is a Bundle of Habits) कहा है। गाल्ट तथा हावर्ड चरित्र की परिभाषा करते हुए लिखते हैं, "चरित्र में व्यक्ति की बहुत विशिष्ट प्रवृत्तियों का एकीकरण हुआ करता है, जिससे एक क्रियात्मक पूर्णता प्राप्त होती है। कठिनाइयाँ आत्मविश्वास और दृढ़-संकल्प को भावनाओं का (जो मनुष्य की सफलता के मूल कारण हैं) प्रादुर्भाव

होता है, जिससे उनका चरित्र क्रमशः विशेष दृढ़ और पुष्ट बनता है। वस्तुतः आदर्श चरित्र कुछ मूल गुणों के आधार पर निर्मित होता है।"

सच्चरित्र व्यक्ति स्वार्थी नहीं होता। उसमें समाज-सेवा, सहानुभूति एवं परमार्थ की भावना होती है। उसमें अच्छे-बुरे, न्याय-अन्याय, सत्कर्म-दुष्कर्म आदि में विभिन्नता करने की शक्ति होती है। उसका शारीरिक और आध्यात्मिक बल इतना संगठित एवं पुष्ट होता है कि वह न्याय का पक्ष लेकर अन्याय का विरोध करने में सक्षम होता है तथा स्वतः अपने मन में उठने वाली दुष्प्रवृत्तियों का दमन कर देता है। इस प्रकार एक सच्चरित्र व्यक्ति सामाजिक, मानसिक, भावनात्मक, शारीरिक तथा आध्यात्मिक सभी गुणों से विकसित और पूर्ण होता है।

हम जिसे चरित्रवान् कहते हैं, उसका आचरण नैतिक सिद्धांतों (Ethical Principles) पर आधारित होता है। सद्-असद् का विवेक विरोधी परिस्थितियों से प्राप्त अनुभव पर निर्भर करता है और यह विवेक व्यक्ति में उसी समय पैदा होता है, जब उसकी अभिवृत्ति (Attitude) तर्कपूर्ण (Rational) होती है। व्यक्ति में तर्कपूर्ण अभिवृत्ति (Rational Attitued) का प्रकाशन तभी होता है, जब वह अपने को सुरक्षित समझे और दूसरों से आत्मसम्मान प्राप्त कर सके। अतः यदि व्यक्ति को चरित्रवान् बनाना है तो उसमें निम्नलिखित पाँच बातें पैदा करनी होगी:—

- सुरक्षा (Security),
- सम्मान पाने की इच्छा (A desire to be approved),
- तार्किक अभिवृत्ति (A rational attitude),
- भिन्न-भिन्न विरोधी परिस्थितियों में अनुभव (Experience in varied conflict situations), एवं
- नैतिक सिद्धांतों का निर्माण (Conscious formulation of ethical principles)

चरित्र और व्यक्तित्व में संबंध (Relationship Between Character and Personality)

मार्टन प्रिंस ने व्यक्तित्व की परिभाषा के संबंध में कहा है कि, "व्यक्तित्व उन तत्त्वों का भंडार है, जिनका किसी न किसी एक तत्त्व पर बल देते हुए समेकन (Integration) ही चरित्र का निर्माण बन जाता है।" रोबक की दृष्टि में व्यक्तित्व हमारी सब ज्ञान संबंधी, भावोत्तेजक, इच्छा संबंधी और यहाँ तक कि शारीरिक प्रवृत्तियों का सर्वयोग है तथा चरित्र एक प्रकार की स्थायी मनोदैहिक व्यवस्था है, जो एक नियामक सिद्धांत के अनुसार संवेगों की रोकथाम करती है। मैग्डूगल ने चरित्र और व्यक्तित्व के संबंध में विचार करते हुए अपनी पुस्तक 'एनर्जिज ऑफ मैन' के पृष्ठ 188 और 368 पर लिखा है कि, "व्यक्तित्व घनिष्ठ पारस्परिक क्रीड़ा में विद्यमान सभी प्रमुख लक्षणों और क्रियाओं की समन्वयपूर्ण एकता और चरित्र हमारे अन्दर वर्तमान एक ऐसा संगठन है जो अपने आपको संकल्पों में, उच्च कोटि की क्रियाओं में तथा क्रियाओं के संयम में अभिव्यक्त करता है।"

चरित्र और आदत (Character and Habit)

चरित्र आदतों के समुच्चय को कहा जाता है। जैसी मनुष्य की आदतें होती हैं, तदनुरूप उनका चरित्र बनता है। आदत दो प्रकार की होती है–

1. अच्छी और
2. बुरी।

अच्छी आदतें चरित्र के सद्‌गुण हैं। इसके विपरीत बुरी आदतें चरित्र के दुर्गुण। अच्छी आदतों के डालने में इच्छाशक्ति की दृढ़ता की जरूरत है, परन्तु बुरी आदतें हमारे विवेक और हमारी इच्छाशक्ति के प्रतिकूल भी आ जाती हैं, जो हमारी इच्छाशक्ति को निर्बल बनाती है। जो व्यक्ति जितने दृढ़ संकल्प के साथ अपना कार्य करता है, उसकी इच्छाशक्ति उतनी ही बलवती और दृढ़ बनती है तथा उसके चरित्र का

उत्तरोत्तर विकास होता है। वस्तुतः 'इच्छाशक्ति' के ही अभ्यास का दूसरा नाम 'चरित्र' है।

मैग्डूगल ने चरित्र को स्थायी भाव का संगठन माना है। स्थायी भावों का निर्माण उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार किसी विशेष प्रकार के काम करने की आदत का निर्माण होता है। वस्तुतः प्रत्येक आदत का संबंध किसी-न-किसी स्थायी भाव से रहता है। आदत तभी तक जीवित रहती है, जब तक उससे सम्बन्धित रागात्मक मनोवृत्ति नष्ट नहीं होती। रागात्मक मनोवृत्ति के नष्ट होते ही आदत भी नष्ट हो जाती है और इसके नष्ट होते ही आचरण का आधार भी समाप्त हो जाता है।

जिस व्यक्ति के मन में संसार की अनेक अच्छी बातों के प्रति अच्छे स्थायी भाव नहीं है, वह कभी भी अच्छा आचरण नहीं कर पाता; चाहे वह कितना ही विद्वान् और प्रखर बुद्धि का क्यों नहीं हो। अतः विद्यालयों में ऐसी शिक्षा-व्यवस्था आवश्यक है, जिससे बालकों के मन में भले स्थायी भावों के निर्माण में शिक्षक सहायक हो सकें। चरित्र आचरण पर निर्भर करता है और आचरण इच्छाशक्ति पर। चरित्र विचारों और स्थायी भाव से प्रभावित होता है। इसलिए किसी व्यक्ति के चरित्र-निर्माण के लिए उसके मस्तिष्क और हृदय के शिक्षित बनाना चाहिए। मस्तिष्क और हृदय को शिक्षित बनाने का एकमात्र आधार है, शिक्षा। शिक्षा का उद्देश्य ही चरित्र गठन होता है।

चरित्र हमारी उन्नति का मुख्य आधार है, प्रधान तत्त्व है। देशवासियों के चरित्र की उन्नति पर ही समाज और राष्ट्र की उन्नति आधारित है। अतः देश के बालक और किशोर चारित्रिक दृष्टि से उच्च बनें, ऐसी शिक्षा की व्यवस्था हमे अपनी शिक्षण-संस्थाओं में करनी है। आज अपने देश में सर्वत्र इसकी चर्चा है कि भारतीय छात्र अनुशासनहीन हो गए हैं, उनका नैतिक स्तर गिर गया है तथा उनमें किया जा सकता है, अगर शिक्षण-संस्थाओं में शुरू से ही विद्यार्थियों के चरित्र को आदर्श रूप में निर्मित और गठित करने का सफल सत्प्रयत्न किया जाए। बालकों में उच्च आदर्शयुक्त आदतों का निर्माण किया जाए तो उन्हें पूर्ण विकसित व्यक्तित्व का आदर्श नागरिक बनाने की चेष्टा हो।

उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए हमें अपने पाठ्यक्रम में उन विषयों को स्थान देना होगा, जिनसे विद्यार्थियों के चरित्र-निर्माण में सहायता मिलती है। इसके लिए धार्मिक और नैतिक शिक्षा की अनिवार्य व्यवस्था करनी होगी। प्रसिद्ध दार्शनिक और शिक्षाशास्त्री राधाकृष्णन् ने इस तथ्य से अपनी पूरी सहमति प्रकट की है। अपने बालकों में सामाजिक और महत्त्वपूर्ण भाव उत्पन्न करने के लिए खेलों और सामूहिक कामों को प्रश्रय देना पड़ेगा। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अधिक से अधिक पाठ्यक्रमेतर विषयों को अपने विद्यालयों के पाठ्यक्रम में रखने की आवश्यकता है।

बालकों में सुरक्षा की भावना और आत्मविश्वास को भी पूरी तरह पैदा करना होगा, तभी उनमें आदर्श चरित्र की स्थापना हो सकेगी। आदर्श शिक्षक जो स्वतः पूर्ण विकसित व्यक्तित्व के हैं, वे ही इस कार्य को सफलतापूर्वक करने में सक्षम होंगे। विद्यार्थियों की जब यह धारणा हो जाती है कि शिक्षक और उनके सहवर्गी उनका सम्मान करेंगे, तब वे आत्मविश्वास की स्थिति में आते हैं। आत्मविश्वास व्यक्ति में आत्म (Self) के प्रति प्रेम पैदा करने में समर्थ होता है। जिस बालक की आवश्यकता संतुष्ट हो जाती है वह विद्यालय के द्वारा दिए गए नैतिक शिक्षण का उपयोग करता है।

विद्यालय में शिक्षकों की यह जिम्मेदारी है कि वे समस्याओं को नग्न रूप में रखें, ताकि बालक स्वतः समाधान कर उन समस्याओं से अनुभव ग्रहण करें। शनैः-शनैः ग्रहण किया हुआ यह अनुभव ही उनके चरित्र-विकास में सहायक होगा। बालकों का यह अनुभव जितना ही गहरा होगा, उनका चरित्र-विकास में सहायक उतना ही सुदृढ़ और संगठित होगा। महात्मा गाँधी ने अपनी बुनियादी तालीम में और डॉ. डीवी ने अपने प्रयोजनवाद के सिद्धांत में कार्य द्वारा अपने अनुभव से सीखने की जिस पद्धति का प्रतिपादन किया है उसकी जड़ में यही भावना व्याप्त है। वे विद्यार्थियों के चरित्र का वास्तविक रूप में विकास चाहते थे। मौखिक शिक्षा से वह लाभ नहीं होता, जो व्यक्ति स्वतः अपने

अनुभव द्वारा कार्यशीलन-पद्धति के आधार पर ग्रहण करता है।

चरित्र-गठन में नैतिक उपदेश, अनुकरण, निर्देशन आदि का छात्र-जीवन पर बड़ा ही सूक्ष्म प्रभाव पड़ता है। उनके अपरिपक्व मस्तिष्क पर इनकी अमिट छाप पड़ती है। अतः अपनी शिक्षण-संस्थाओं में हमें प्रारंभ से अंत तक ऐसा वातावरण व्यवस्थित करना होगा, जिसके लिए इन आदर्शों की अधिक गुंजाइश हो। जर्मन राष्ट्र को अपनी शिक्षा-योजना प्रस्तुत कर महान् बनाने वाले प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री हरबर्ट ने शिक्षा का अन्तिम आदर्श चरित्र गठन बतलाया है और इसकी प्राप्ति के हेतु विद्यालयों के पाठ्यक्रम में इन विषयों को प्रधान स्थान देने को कहा है, जो नैतिक और धार्मिक विचारों में पूर्ण हों।

हरबर्ट के अनुसार नैतिक शिक्षा की पूर्ति के लिए छात्रों के पाठ्यक्रम में इतिहास और साहित्य को सर्वोपरि स्थान देना चाहिए। इतिहास वह तत्त्व विज्ञान है जो दृष्टान्तों द्वारा नैतिक सिद्धांतों को स्पष्ट करता है। इतिहास और साहित्य के अध्ययन से हम अनेक सदाचारी और वीर पुरुषों के भावों की जानकारी प्राप्त करते हैं तथा इन भावों से हमारा मन रंजित होता है और तदनुरूप हमारी रुचि, आचरण और चरित्र का निर्माण होता है।

उत्तम साहित्य अभद्र मानसिक प्रवृत्तियों को सम्मोहित कर उनको सुप्तावस्था में कर देता है। इस प्रकार इससे अदृश्य रूप में हमारा चरित्र-निर्माण होता है। हरबर्ट का कहना है कि सम्पूर्ण यथार्थ साहित्य नैतिक होता है। कला का मुख्य उद्देश्य उपदेश देना नहीं, कला से मनुष्य का नैतिक लाभ होता है। यह मनुष्य को ऊँचा उठाने का साधन है। अरस्तू ने भी कहा है, "कला से मनुष्य के विचार परिष्कृत होते हैं।" अतः विद्यार्थियों के उनके बाल्यकाल से किशोरावस्था (निम्न प्राथमिक श्रेणी से उच्च वर्ग) तक के लिए शिक्षाप्रद उत्तम कोटि के साहित्य का निर्माण आवश्यक है।

देश में प्रौढ़ी की मानसिक उन्नति और चारित्रिक विकास के लिए भी उपर्युक्त प्रकार के साहित्य-निर्माण की आवश्यकता है। किशोर

बालकों को उनके देश के वास्तविक इतिहास से परिचित होने का अवसर देना चाहिए, जिससे उनके समक्ष एक लक्ष्य, एक आदर्श उपस्थित हो सके। इतिहास जब दृष्टान्तों द्वारा पढ़ाया जाता है, तो दर्शन का रूप धारण करता है। यह सर्वमान्य मनोवैज्ञानिक सिद्धांत है कि जिस प्रकार के व्यक्ति का हम सम्मान करते हैं तदनुरूप हमारा व्यक्तित्व और चरित्र भी निर्मित होता है। इतिहास हमें इसके लिए प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करता है।

भारतीय छात्र मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र, योगीराज श्रीकृष्ण, धनुर्धर वीर अर्जुन, महात्मा बुद्ध, जैन धर्म के प्रवर्त्तक महावीर, स्वामी दयानन्द, महर्षि रमण, रामकृष्ण, परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गाँधी से परिचित है। इनके महान् गुणों के कारण हम इनके समक्ष नतमस्तक हैं, श्रद्धा से पूजा करते हैं। परन्तु ज्ञान ग्रहण करने का साधन क्या है? वे इतिहास और साहित्य के विषय ही तो हैं। इसके अतिरिक्त जब सदाचार और चरित्र-निर्माण की इच्छा स्वत: जागृत होती है, तो छात्रों के समक्ष ऐसे वातावरण का आदर्श प्रस्तुत करना है कि उनकी स्वरुचि स्वत: उत्प्रेरित हो, उनकी मूल प्रवृत्तियों में स्थायी भाव उत्पन्न हो और वे चरित्र-विकास की अद्‌भुत अनुकूल शक्ति का मूल्यांकन करने में स्वत: समर्थ हों।

शिक्षा और अनुकरण (Education and Imitation)

बालकों में चरित्र-गठन का एक प्रभावशाली साधन उनमें अनुकरण की प्रवृत्ति है। बालक अपनी बाल्यावस्था से ही अनुकरण के आधार द्वारा अधिक ज्ञानवर्द्धन की चेष्टा करते हैं। अनुकरण का आधार एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। उपदेश की अपेक्षा दृष्टांत श्रेष्ठ होता है। आदर्श उदाहरण वातावरण से प्राप्त होते हैं, जहाँ बालक जीवनयापन करते हैं। शिक्षक का आदर्श चरित्र बालकों के लिए सदैव अनुकरणीय होता है।

बाल्यावस्था में शिक्षकों का प्रभाव अभिभावकों से भी अधिक पड़ता है। अत: आवश्यक है कि इस अवस्था में बालकों का संबंध ऐसे

शिक्षकों से कराया जाए, जिनके जीवनादर्श का अनुकरण कर ये अपने चरित्र का गठन करें। वे जाने-अनजाने, अप्रत्यक्ष रीति से अपने शिक्षकों का अनुकरण करते हैं। अपने मित्रों एवं सहवर्गियों का भी खूब अनुकरण करते हैं, अत: शैतान बालकों पर शिक्षकों का पूरा-पूरा ध्यान रहना चाहिए, जिससे वे अन्य विद्यार्थियों को या पूरे विद्यार्थी-समाज को ही कोई हानि नहीं पहुँचा पाएँ। पूरे विद्यालय का वातावरण अनुकरणीय होना चाहिए। प्रधानाध्यापक, अध्यापक और अभिभावक के साथ-साथ और सरकार की इस ओर बहुत बड़ी जिम्मेदारी है।

शिक्षा और निर्देश (Education and Instruction)

चरित्र-निर्माण में निर्देश का स्थान विशेष महत्त्व का है। जिस प्रकार उपदेश का प्रभाव चेतन मन (Concious) पर पड़ता है, उसो भाँति निर्देश का प्रभाव अवचेतन मन पर प्रभाव डालता है। प्रौढ़ों की अपेक्षा बालकों पर निर्देश का प्रभाव बहुत कम होता है। अत: निर्देश के आधार पर उनमें सद्‌गुणों का विकास कर चरित्र की अभिवृद्धि शीघ्रतापूर्वक की जा सकती है। निर्देश के आधार पर, महान व्यक्तित्व निम्न व्यक्तित्व को प्रभावित करता है। अत: शिक्षकों का व्यक्तित्व महान् होना चाहिए, ताकि वे मानवता के गुणों का निर्देश दे सकें। यद्यपि निर्देश के संबंध में इस बात से सर्वदा (सचेष्ट) रहने की आवश्यकता है कि अत्यधिक निर्देश भी व्यक्तित्व और चरित्र को कुंठित कर डालता है, बालकों में भावना ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो जाती है। उनमें स्वतंत्र रूप से सोचने की शक्ति को विकसित होने की मन:स्थिति करनी चाहिए।

दण्ड और चरित्र (Punishment and Character)

प्राचीन काल में बालकों के चरित्र-निर्माण में दण्ड को अधिक प्रश्रय दिया जाता था। पुराने शिक्षकों की धारणा थी कि अगर बालकों को दण्ड नहीं दिया जाएगा, तो वे बिगड़ जाएँगे (Spare the rod and spoil the child)। पश्चिमी देशों में तो बालकों का स्वभाव जन्मजात पाशविक माना जाता था। भारतीय गुरुकुलों में भी दण्ड का विधान था। मुगलकालीन भारतीय शिक्षा में बालकों को गठरीस्वरूप बनाकर पेड़ पर

लटका दिया जाता था।

आधुनिक शिक्षाशास्त्री तथा शिक्षा मनोवैज्ञानिक बालकों के चरित्र-निर्माण में दण्ड को कोई विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं देते। रूसो के कथनानुसार बालक का जन्मजात स्वभाव अच्छा है, किन्तु समाज के हाथों में जाकर वह दूषित हो जाता है। दण्ड के कारण आत्महीनता की भावना उत्पन्न हो जाती है तथा वे दब्बू स्वभाव के बन जाते हैं। अधिक दण्ड के फलस्वरूप उनमें जटिल मानसिक ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, जिसके कारण वे जीवन भर अवांछित सामाजिक कार्य में रत रहते हैं।

किसी प्रकार के दोष के लिए उन्हें बारम्बार दण्डित करना एक भारी मनोवैज्ञानिक भूल है। वस्तुतः आवश्यक है कि दोष का कारण ढूँढ़ना चाहिए तथा तदनुकूल उसके समाधान की सफल चेष्टा करनी चाहिए। विलियम स्टर्न ने अपनी पुस्तक 'साइकालॉजी ऑफ अर्ली चाइल्डहुड' नामक पुस्तक में इस संबंध में लिखा है, "यदि बालकों को बार-बार दण्ड दिया जाए और यदि दंड कठोर हो, तो इससे बचने के लिए बालक स्वभावतः झूठ और अपनी बातों को छिपाने का आश्रय लेगा। इस प्रकार बालक में बातों को छिपाने तथा हठ की प्रवृत्ति को बढ़ाने में दण्ड अत्यधिक सहायक हो जाता है।"

इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध शिक्षावैज्ञानिक जॉन एडम्स ने अपनी पुस्तक 'मॉडर्न डेवलपमेंट इन एडुकेशनल प्रैक्टिस' में अनुशासन पर विचार करते हुए इसको तीन प्रकार का बतलाया है:–

1. दमनात्मक,
2. प्रभावात्मक, एवं
3. मुक्त्यात्मक।

प्राचीन काल में दमनात्मक अनुशासन की प्रथा विशेष रूप से प्रचलित थी। इसमें गलतियों एवं त्रुटियों के लिए दंड का विधान था। दमनात्मक अनुशासन में बालकों में आत्मस्फूर्ति से कार्य करने की शक्ति नहीं रह जाती। उनके चरित्र में झूठ बोलने, चोरी करने, अपने

संगी-साथियों से झगड़ने, छल-कपट की आदत अथवा अन्य चारित्रिक दुर्गुण और दोष प्रवेश कर जाते हैं। ऐसे बालकों का व्यक्तित्व और आचरण समाज में घातक सिद्ध होता है। सर्वप्रथम रूसो ने दमनात्मक अनुशासन का विरोध किया। आधुनिक शिक्षाशास्त्री दमनात्मक अनुशासन को 'कुसाम्य स्थापित वाला' बतलाते हैं। इससे बालकों का चरित्र विकसित नहीं होता, अपितु कुंठित हो जाता है।

प्रभावात्मक अनुशासन वह है, जिसमें बालक दण्ड के भय से नहीं, वरन् शिक्षक के प्रति श्रद्धा एवं प्रभाव के कारण आस्थावान् और आज्ञाकारी होता है। शिक्षक के चरित्र, व्यक्तित्व एवं विद्वता में विद्यार्थी की इतनी गहरी आस्था होती है कि वे अपनी बुद्धि का प्रयोग तक नहीं करते। प्रभावात्मक अनुशासन के लिए समूचे विद्यालय-संगठन को आदर्श होना चाहिए। अध्यापक, कक्षा तथा समस्त विद्यालय-वातावरण को प्रभावशाली होना चाहिए, जिसके प्रभाव में विद्यार्थी अपना चरित्र गठित करें।

परन्तु, प्रभावात्मक अनुशासन के संबंध में आधुनिक मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि यह दमनात्मक अनुशासन से भी बुरा होता है। दमनात्मक अनुशासन के द्वारा बालकों के बाह्य मन पर ही अधिकार किया जाता है, परन्तु प्रभावात्मक अनुशासन में बालक का आन्तरिक मन भी गुलाम बन जाता है। शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को गुलाम बनाना नहीं, अपितु सभी प्रकार की स्वतंत्रता प्रदान करना है। प्रभावात्मक अनुशासन स्थायी होता है तथा जब बालकों में स्वतंत्र रूप से सोचने की शक्ति का विकास हो जाता है, तब वे शिक्षकों से प्रभावमुक्त होना तो चाहते ही हैं, शनैः-शनैः उनमें शिक्षकों के प्रति श्रद्धा की भावना भी घर करने लगती है।

मुक्त्यात्मक अनुशासन (Openness Discipline)

मुक्त्यात्मक अनुशासन में बालकों को पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान की जाती है। उनकी स्वतंत्र सोच-समझ की शक्ति को विकसित कर स्वावलम्बी बनाना शिक्षक तथा शिक्षा का उद्देश्य होता है। यहाँ शिक्षक

अपने व्यक्तित्व को नहीं, अपितु अपने को भूलकर, सत्य को महत्व देते हुए, निरपेक्ष भाव से प्रेमपूर्वक बालकों की सेवा करते हैं। इस अनुशासन में विद्यार्थियों के व्यक्तित्व को महत्ता प्रदान की जाती है। अनुशासन के तीनों प्रकार–दमनात्मक, भावात्मक और मुक्त्यात्मक पर विचार करने के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि मुक्त्यात्मक अनुशासन के लिए बहुत उच्चकोटि के शिक्षकों की आवश्यकता है। उन शिक्षकों का व्यक्तित्व पूर्णतः विकसित और आदर्श होना चाहिए। साथ ही, एक आदर्श वातावरण और आदर्श परिस्थिति में ही मुक्त्यात्मक अनुशासन के सफल होने की आशा की जाती है। नियंत्रण सर्वदा अनुचित ही नहीं होता। शिक्षक का नियंत्रण प्रायः विद्यार्थियों के हितार्थ ही होता है। अत्यधिक स्वतंत्रता बालकों को विकास की ओर नहीं, अपितु विनाश की ओर ले जा सकती है।

बालकों के चरित्र-विकास में अनुशासन का बड़ा महत्त्व है तथा उनको अनुशासित जीवनयापन–जो चरित्र का प्रमुख भाग है, न उनके कोमल अविकसित मस्तिष्क पर अत्यधिक प्रभाव डालकर और न उन्हें सर्वथा स्वतंत्र करके। वस्तुतः तीनों के समन्वय की आवश्यकता है–सीमाबद्ध होकर। मुदालियर कमीशन ने अपनी रिपोर्ट (पृष्ठ 127–138) में चरित्र की शिक्षा पर विचार करते हुए बड़ा ही स्पष्ट और सर्वथा ग्रहणीय मंतव्य प्रकाशित किया है, जो दृष्टव्य है।

आयोग का विचार है कि शिक्षा का एक बड़ा लक्ष्य छात्रों के चरित्र तथा व्यक्तित्व का प्रशिक्षण है। यह प्रशिक्षण इस प्रकार देने की आवश्यकता है कि छात्रों की समस्त अन्तर्निहित शक्तियों को अधिकतम मात्रा में विकसित और गठित होने का अवसर मिले, जिससे समाज का कल्याण हो। परन्तु, आधुनिक शिक्षा का एक बड़ा दोष यह है कि यह उन कार्यों की ओर बहुत कम ध्यान देती है, जिनके आधार पर चरित्र का निर्माण होता है तथा वैयक्तिक ईमानदारी अथवा सामाजिक आदर्श के कर्तव्य प्रस्तुत होते हैं।

चरित्र की शिक्षा के लिए कमीशन ने निम्नलिखित तीन बातों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है–

• चूँकि स्कूल समाज के अंतर्गत एक छोटा समुदाय है, इसलिए जो दृष्टिकोण, मूल्य तथा व्यवहार समाज में प्रचलित हैं, वे स्कूल में भी प्रतिध्वनित होंगे। स्कूल में अनुशासनहीनता, असावधानी और श्रम के प्रति अनिच्छा आदि बहुत कुछ इसलिए भी है कि समाज में ये बातें मौजूद हैं। अतः चरित्र की शिक्षा केवल स्कूल तक ही सीमित नहीं रह सकती, बल्कि यह सामाजिक जीवन में भी अनिवार्य है। फिर भी शुरूआत स्कूल में होनी चाहिए और शिक्षकों को स्कूलों में समाज की वास्तविकताओं के साथ-साथ वैसे आदर्श परिस्थितियों की सृष्टि करनी चाहिए, जिसमें छात्र गृह तथा समाज की न्यूनताओं को मिटाने में समर्थ हो सकें। स्कूलों के कार्य केवल समाज के आदर्शों, मान्यताओं एवं व्यवहारों के संरक्षण नहीं अपितु इनके दोषों के निराकरण, इनकी उन्नति और संवृद्धि भी है।

• चरित्र की शिक्षा के लिए यह आवश्यक है कि स्कूल (Teaching Institutions) छात्रों के माता-पिता, अभिभावक तथा समाज के व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त करें।

• चरित्र की शिक्षा किसी खास समय-सारणी, किसी खास अध्यापक अथवा कुछ चुनी हुई क्रियाओं तक ही संबंधित और सीमित नहीं रह सकती। इन शिक्षा में स्कूल के प्रत्येक कार्य को संलग्न होने की आवश्यकता है।

चरित्र की शिक्षा के अंग के रूप में आयोग ने अनुशासन की समस्या का परीक्षण किया और यह विचार व्यक्त किया कि जब तक स्कूलों से अनुशासनहीनता नहीं मिट जाती, तब तक शिक्षा के पुनर्गठन की कोई भी योजना सही अर्थ में सफलता नहीं प्राप्त कर सकती। आयोग ने पुनः स्पष्ट कर दिया कि अनुशासन की शिक्षा का उत्तरदायित्व केवल शिक्षकों पर नहीं हैं बल्कि इसका माता-पिता, सामान्य जनता तथा सरकार पर भी है।

आयोग ने देश के राजनीतिक जीवन की उन प्रवृत्तियों की निन्दा की, जो चुनाव आदि के कार्य में अप्रौढ़, अविकसित मस्तिष्क के छात्रों की सेवाओं का उपयोग करती है। इसके दुर्गुणों की चर्चा करते हुए कमीशन ने इस तथ्य पर बल दिया है सत्रह वर्ष से कम के छात्र विवादास्पद राजनीति के क्षेत्र में नहीं लिए जाएँ। आयोग ने यह भी सिफारिश की कि छात्रों के बीच राजनीतिक नेताओं के भाषण सावधानीपूर्वक दिए जाएँ और वे छात्रों के लिए उपयुक्त हों। छात्रों को अनुशासित रखने के लिए यह भी अपेक्षित है कि स्वयं शिक्षक भी अनुशासित बनें। आयोग के अनुसार चरित्र-निर्माण में धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा का महत्त्वपूर्ण हाथ होता है।

वस्तुतः जब तक शिक्षा के उद्देश्यों की पूर्ति नहीं होती, तब तक इसके द्वारा छात्रों के मन के कुछ नैतिक सिद्धांतों पूर्णतः प्रतिष्ठित नहीं हो पाते। विद्यालयों में चरित्र की शिक्षा के लिए आयोग ने यह भी बताया है कि छात्रों का नैतिक प्रशिक्षण केवल वर्ग शिक्षा से ही नहीं हो सकता, बल्कि यह प्रशिक्षण स्कूल, गृह तथा समाज के सामान्य तथा विशिष्ट जीवन से मिलना चाहिए।

चरित्र-निर्माण के कार्य में आयोग ने पाठ्यक्रमेतर विषयों (Extra-Curricular Activities) को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है और यह कहा है कि इन विषयों का जब भली-भाँति संचालन होगा, तो छात्रों में अनेक गुणों का अभ्युदय होगा। अतः आयोग ने इस बात की सिफारिश की कि छात्र स्काउट, नेशनल कैडेट कोर, रेड क्रॉस तथा अन्य सामाजिक हितों के कार्यों में सक्रिय भाग लें, विज्ञान और प्रौद्योगिकी के इस युग में भारतीय समाज में चरित्र का रूप और स्वरूप निरन्तर अधोगति की ओर उन्मुख है। शिक्षा और शिक्षक इसके सुदृढ़ीकरण में निष्ठा के साथ सहयोग नहीं दे पा रहे हैं। अतः शिक्षा, निर्देशन एवं परामर्शन के माध्यम से इस दिशा में इसके मूल स्वरूप की वर्तमान के साथ स्थापित करने की आवश्यकता है।

[14]

भविष्योन्मुखी शिक्षा
(Futuristic Education)

भविष्यशास्त्र का अर्थ
(Meaning of Futurology)

भविष्यशास्त्र एक ऐसा विषय है जो आजकल निर्माणावस्था में है। इसकी एक निश्चित परिभाषा देना संभव नहीं है क्योंकि अभी इस शास्त्र का स्वरूप निश्चित नहीं हो पाया है।

वैडेल बेल "भविष्यशास्त्र का प्रमुख केन्द्र-बिन्दु न तो केवल वर्णन है, न व्याख्या और न यह मूलत: भविष्यवाणी ही है। यह नवपरिवर्तन व मार्गदर्शन है। इसके अन्तर्गत मूल्यों और लक्ष्यों की व्याख्या और मूल्यांकन, गतिविधियों का विवरण, विकल्प-भविष्यों के बारे में दृष्टि तथा अन्तर्निर्भरताओं के वर्तमान क्रमों का विवरण आता है।"

सत्ता सम्बन्धी भविष्यशास्त्र संप्रत्यय को समझने के लिए हमें निम्नलिखित प्रमुख बिन्दुओं पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिये–

भविष्यशास्त्र एक अन्तर्विषयी (Inter-Disciplinary) अध्ययन क्षेत्र है। यद्यपि इसे मुख्यतया समाजशास्त्र का एक उपविषय माना जाता है तथापि इसका सम्बन्ध इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति, भूगोल, वातावरण-शास्त्र, विविध सामाजिक व प्राकृतिक विज्ञानों तथा तकनीकी आदि से है।

इसका प्रमुख प्रयोजन दोहरा है–प्रथम, सीखने वालों या व्यक्तियों में भविष्योन्मुखता अथवा भविष्य के प्रति चेतना (Future Consciousness) तथा भविष्य हेतु सार्थक व्यवहार कुशलताएँ (Future Oriented Behavioural Skills) विकसित करना; तथा द्वितीय समाज विशेष के लिए भविष्यों (Futures) के प्रकारों व उनकी

संभावनाओं को समझने में सहायता देना।

भविष्य के प्रकार (Kinds of Future)

भविष्य तीन प्रकार के हो सकते हैं–

- सम्भावित भविष्य (Possible Future)
- अनुमानित भविष्य (Probable Future)
- पसन्दीय भविष्य (Preferable Future)

सम्भावित भविष्य (Possible Future)

ये ऐसे भविष्य हैं, जो घटित हो सकते हैं, परन्तु ऐसा होना आवश्यक नहीं है।

अनुमानित भविष्य (Probable Future)

ये ऐसे भविष्य हैं, जिनके घटित होने की कुछ तर्कपूर्ण सम्भावनाएँ निश्चित रूप से बनी होती हैं।

पसन्दीय भविष्य (Preferable Future)

ये ऐसे भविष्य होते हैं, जिन्हें हम उचित मानते हैं तथा जिनके साथ अपनी पसन्द या सहमति जोड़ते हैं।

- भविष्यशास्त्र की विषयवस्तु में समाज, समुदाय व व्यक्ति के जीवन के सभी पक्ष–सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक, तथा सभी संस्थाएँ–विवाह, परिवार, शिक्षा, अर्थव्यवस्था, विज्ञान, संचार, प्रचार, राजनैतिक दल व्यवस्था आदि आ जाते हैं।

- भविष्यशास्त्र में सबसे अधिक बल भविष्य के स्वरूप को अधिकतम स्पष्टतापूर्वक समझकर उसे अंकित करने पर दिया जाता है। ऐसा करने में कल्पना, तर्क तथा परस्पर-तुलना व रचनात्मकता या सृजनात्मकता (Creativity) की यथा-संभव बहुत सहायता ली जाती है।

भविष्य समझने की विधि

भविष्य को समझने व उनको अंकित करने के लिए दो विशेष विधियों को उपयोग में लाया जाता है–

सीनारियो-लेखन विधि (Scenario-Writing Technique), एवं डेल्फी विधि-(Delphi Technique)।

सीनारियो का अर्थ होता है घटनाओं का एक प्राक्कल्पित क्रम या भविष्य का एक काल्पनिक इतिहास।

यह भविष्यशास्त्र में प्रमुख अध्ययन विधि है। जिस किसी देश या समाज का भविष्यशास्त्र अध्ययन करना होता है, उसके भविष्य में घटित होने वाली घटनाओं या संभावनाओं की कल्पना करने व उनमें क्रम, संबंध व परस्पर प्रभाव स्थापित करने का क्रियात्मक कार्य अध्ययनकर्ता (Futurologist) को करना होता है।

डेल्फी टेकनिक में किसी माध्यम की सहायता से विशेषज्ञों की सम्मतियाँ एकत्र की जाती हैं, उन सम्मतियों को गुमनाम ढंग से आपस में वितरित किया जाता है, उनको लगातार कई बैठकों में परिष्कृत किया जाता है तथा इस प्रकार एक समूह-सहमति उत्पन्न की जाती है।

• भविष्यशास्त्र में जिन संप्रत्ययों (Concepts), मुहावरों (Phrases) या विचारों (Ideas) की विशेष रूप से अधिकाधिक चर्चा होती है, वे हैं-भावी तादात्म्य, भविष्यद्रष्टा प्रतिभा, भविष्य चेतना, भविष्योन्मुखी वातावरण, भविष्य-संज्ञान, भविष्यकेन्द्री भूमिका प्रतिरूप आदि।

• भविष्यशास्त्र को अंग्रेजी में फ्यूचरोलॉजी नाम दिया गया है, इसको फ्यूचरिज्म अथवा फ्यूचरिस्टिक्स नाम भी दिये गये हैं और ये सभी नाम प्रचलित हैं।

• भविष्यशास्त्र एक कला है और एक विज्ञान भी। यह एक कला है क्योंकि यह भविष्य के विकल्पों के क्षेत्र को समृद्ध करने व सम्भावनाओं के अधिक विस्तृत स्वरूप को चित्रित करने का प्रयास करता है। यह एक विज्ञान है क्योंकि यह निर्णय लेने के कार्य का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करता है।

• भविष्यशास्त्र एक विषयवस्तु (Content) प्रस्तुत करता है और साथ ही एक विशेष दृष्टिकोण या परिप्रेक्ष्य (Perspective) जो भविष्योन्मुख है।

• भविष्यशास्त्र के अन्तर्गत सीखने वालों अथवा लोगों में भविष्य के प्रति रूझान, चेतना, आकर्षण अथवा कल्पना व विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण उत्पन्न करने के लिए कई प्रकार के बौद्धिक खेल या अभ्यास (Intellectual Games or Exercises) तथा शारीरिक खेल (physical games) और सृजनात्मक कार्य कराये जा सकते हैं और उनको पाठ्यक्रम का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व आविभाज्य अंग माना जाता है। सुप्रसिद्ध भविष्यशास्त्री प्रोफेसर बिल्ली रोजास ने अपने लेख "Futuristics, Games and Educational Change" इन सभी प्रकार के खेलों की व्यवस्था की है और इसके अनेक रोचक नमूने दिये हैं। इनके कुछ नमूने इस प्रकार हैं–

• शिक्षक एक विज्ञान की काल्पनिक कहानी (Science-fiction Story) का आरम्भिक अनुच्छेद (पैराग्राफ) लिखे व कक्षा के प्रत्येक विद्यार्थी से एक अनुच्छेद अपनी-अपनी ओर से जोड़ देने को कहा।

• 'मोनोपाली' जैसा बोर्डगेम बनाया जा सकता है, जिसकी चारो भुजाओं पर मौसमी-घटनाएँ (Seasonal Events) अंकित हो", जैसे गर्मियों में अवकाश होगा, अप्रैल में इन्कम टैक्स देना पड़ेगा, जुलाई में स्कूलो में प्रवेश होगा, सर्दियों में ऊनी कपड़े बनाने होंगे आदि। बोर्ड का प्रत्येक स्थान एक वर्ष का प्रतीक होगा, व खेलने वाले 1987 से आरंभ कर 2060 या किसी अन्य गन्तव्य वर्ष तक आगे बढ़ेंगे।

• सन् 2030 ई. में पारिवारिक जीवन का स्वरूप कैसा होगा? तब हमारे समाज में एक गर्भवती कुंआरी कन्या के साथ उनके माता-पिता, भाई कैसा-कैसा व्यवहार करेंगे? कल्पना करके बतलाइये।

• सन् 2040 ई. में प्रकाशित होने वाली किसी पत्रिका के एक अंक की साज-सज्जा व सामग्री कैसी होगी? उसके पेज-ले-आउट

कार्टून फीचर्स, न्यूज-स्टोरीज आदि कैस होंगे? कक्षा में विद्यार्थियों को यह चुनौतीपूर्ण, रोचक व सृजनात्मक कार्य करने को दिया जा सकता है।

• सन् 2050 ई. में अंतरिक्ष (Space) में क्या-क्या घटनाएँ हो सकती हैं? उदाहरणार्थ, वायुमण्डल में पहला अपराध घटित हो सकता है। वायुमण्डल में अस्पताल स्थापित किया जा सकता है, रूस के लोग वायुमण्डल में मिलीटरी स्पेस स्टेशन स्थापित कर सकते हैं।

• सन् 2060 में हमारे अधिक बिकने वाली दस पुस्तकों के क्या-क्या शीर्षक हो सकते हैं।

• सन् 2060 में अफ्रीका का गंदी बस्ती (गेट्टो) का क्या रूप तथा भविष्य होगा?

• सन् 2070 में समाज के लोकाचार क्या होंगे।

भविष्यशास्त्र की आधारभूत अवधारणा यह है कि, "भविष्य स्वत: ही घटित नहीं होता है, इसे बनाते हैं और हम इसका उपयोग कर सकते हैं और यह ज्ञान कि भविष्य को पहले से देखा जा सकता है और आने वाले कल के मूल्यों, पारिवारिक संरचनाओं, तकनीकों, नगर या पाठशालाओं के रूपों की पूर्वकल्पना की जा सकती है। यह अवधारणा इस बात को बतलाती है कि भविष्य एक सीखने की सामग्री है।"

भविष्यशास्त्र अंधाधुंध अथवा आधारहीन भविष्यवाणियाँ करने तथा जनता को मनोवैज्ञानिक रूप से डराने, धमकाने या उनको धक्का देने वाली भविष्यवाणियाँ करने के लिए नहीं है। जो भी भविष्यवाणियाँ की जायें वे सृजनात्मक होनी चाहिए।

भविष्य के लिए शिक्षा (Education for Future)

वस्तुत: विश्व के सभी देशों में भविष्य के लिए विषय पर बहुत सोच-विचार हो रहा है। भिन्न-भिन्न देशों की समस्याएँ भिन्न-भिन्न हैं, उनके भविष्य के विकल्प भी भिन्न-भिन्न हैं, अत: शिक्षा संबंधी संभावनाएँ भी भिन्न-भिन्न होंगी। पिछले कुछ वर्षों में प्रकाशित कुछ पुस्तकों, प्रतिवेदनों व कई लेखों में भावी शिक्षा के स्वरूप पर चिन्तन

किया गया है। इनमें से प्रमुख हैं– एलविन टोफलर की दो पुस्तकें 'फ्यूचर शॉक' दि थर्ड वेव तथा तथा 'लर्निंग फॉर टुमारो' यूनेस्को की 'लानिंग टु बी' तथा 'एजुकेशन ऑन द मूव' एडवर्ड रेमर की पुस्तक 'स्कूल इज डेड' इवान इलिच की एुस्तक 'डिस्कूलिंग सोसाइटी', पीटर बकमैन की पुस्तक' 'एजुकेशन विदाउट वाल्स' तथा पॉल फ्रेयरे की पुस्तक 'एजुकेशन फॉर लिबरेशन'। कई एत्र-पत्रिकाओं ने भी इस बारे में महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित किये हैं। इस कारण हमारे लिए किसी देश-विशेष के लिए शिक्षा के भावी स्वरूप के बारे में कहना संभव नहीं है।

इस अध्याय में मात्र उन प्रमुख बिन्दुओं का उल्लेख कर सकते हैं, जिनका ज्ञान किसी भी देश की भावी शिक्षा के स्वरूप को समझने व बनाने में अनिवार्यत: उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

• भविष्य की शिक्षा भविष्य के बारे में चेतनाशील (Future-conscious) होनी चाहिये।

• भविष्य की शिक्षा के दो उद्देश्य होने चाहिए, जिन पर टॉफलर ने बहुत बल दिया है–

• वह एक व्यक्ति के भविष्य के कल्पनाचित्र को विस्तृत, समृद्ध व परिष्कृत करने में समर्थ होनी चाहिए।

• वह भविष्य के जटिल, सुव्यवस्थित तथा सही चित्र प्रस्तुत करने में ही समर्थ न हो, अपितु वह सीखने वालों की इस मामले में सहायता करें, जिससे वे वास्तविक जीवन की कठिनाइयों, अवसरों व खतरों के साथ जूझ सकें। वह प्रत्येक व्यक्ति को इस प्रकार शिक्षित करे, जिससे भावी परिवर्तन का पूर्वानुमान लगाकर व्यक्ति अपने-आपको उसे अनुकूल बना सके।

• विद्यार्थियों में 'भविष्य केन्द्रित भूमिका प्रतिरूप' (Future Focussed Role Image) विकसित करना है। समाजशास्त्री मॉरिस रोजनवर्ग का मत है कि एक व्यक्ति के साथ भविष्य के व्यवसाय की तस्वीर से उसके वर्तमान दृष्टिकोणों, मूल्यों और व्यवहार पर प्रभाव पड़ सकता है। विद्यार्थियों को भावी जीवन की भूमिका (Role) की कल्पना

करने समझने तथा उसके अनुसार व्यवहार करने का अवसर व प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए।

• भविष्य को भली-भाँति समझने के लिए यह आवश्यक है कि भविष्य के विकल्पित स्वरूप (Alternative Images of Future) की कल्पना की जाए। अगले 20 से 50 वर्षों में किस-किस प्रकार के व्यवसाय होंगे, किस प्रकार के परिवार व मानव-सम्बनध होंगे, किस प्रकार की तकनीकी होगी, किस प्रकार की संगठनात्मक संरचनाएँ होंगी आदि। भविष्य की शिक्षा की सार्थकता इस बात में है कि वह सीखने वालों को इस योग्य बनाये कि वे भविष्य के प्रकल्पित स्वरूपों को निर्मित कर सकें।

• भविष्य की शिक्षा को व्यक्तियों में भविष्य की अनजान अथवा प्रत्याशित परिस्थितियों के साथ बिना झटका अनुभव किए सामञ्जस्य स्थापित करने की क्षमता (Cope-ability) तथा गत्यात्मक व्यक्तित्व (Mobile or Dynamic personality) विकसित करने में समर्थ होना चाहिये। इसके अतिरिक्त इस प्रकार की शिक्षा को मानव संचार (Human Communication) तथा सामाजिक एकीकरण (Social Imtegration) कुशलताएँ विकसित करने योग्य होनी चाहिए। इनमें प्रमुख कुशलताएँ हैं—तथ्य सामग्री को एकत्र करने, विश्लेषित करने, तथा बुद्धिग्राह्य बनाने की कुशलता सीखने की कुशलता तथा आवश्यक तथ्यों के भूलने व पुनः सीखने की कुशलता (Skills to Learn, Unlearn and Relearn)।

• टाफलर का मत है कि भविष्य की शिक्षा को निःसंदेह 'भविष्यता' (Futureness) को विकसित करना चाहिए, इसके दो प्रमुख पहलू होंगे—(1) कितना अधिक? (How Much?) और (2) कितनी दूर तक? (How far?)

• भविष्य की शिक्षा को दीर्घगामी (Long Term Goals) तथा उसको प्राप्त करने के प्रजातन्त्रीय तरीकों (Democratic Ways) पर बल देना चाहिए।

• यूनेस्को की बहुचर्चित रिपोर्ट 'लर्निंग टू बी' का सारांश यह है कि भविष्य की शिक्षा के चार प्रमुख उद्देश्य होंगे—

• एक अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय का निर्माण करना;

• प्रजातन्त्र में विश्वास उत्पन्न करना;

• मानव का सम्पूर्ण विकास करना; तथा

• जीवन-पर्यन्त शिक्षा प्रदान करना।

• उक्त प्रतिवेदन के अनुसार भविष्य की शिक्षा की कई महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ व माँगें होंगी यथा—

• विषय-वस्तु व्यक्ति-विशेष हेतु (Individualized) होगी।

• चयन (Selection) के स्थान पर मार्गदर्शन (Guidance) पर बल दिया जायेगा। शिक्षण व्यक्तिगत (Personalized) होगा।

• शाला-प्रशासन विकेन्द्रित होगा।

• शाला में प्रजातन्त्रीय व्यवस्था बनाई जाए, विशेष सुविधाएँ, पक्षपात, विशेषाधिकार समाप्त किये जाएँ व समता स्थापित की जाये।

• प्रत्येक सीखने वाले को स्वयं ही अपनी शिक्षा का उत्तरदायित्व संभालना होगा। एक 'सीखने वाले समाज' (Learning Society) अथवा सीखने वाला वातावरण (Leaning Environment) बनाया जाये। शिक्षा की औपचारिक व्यवस्थाओं के स्थान पर पूर्णतया खुली या गतिशील व्यवस्थाएँ होनी चाहिए ताकि कोई भी सीखने वाली अपनी इच्छा क्षमता या गति के अनुसार अपने जीवन के लिए उपयोगी ज्ञान किसी भी स्रोत से प्राप्त कर सके। पाठशाला शिक्षण सामग्री केन्द्र (Learning Resources Centre) के रूप में हो, शिक्षक आवश्यकता पड़ने पर सहायता व मार्गदर्शन करें तथा समाज के विविध औपचारिक व अनौपचारिक साधन शिक्षा-प्राप्ति में सहायक हों। आयु-सीमा, विषयों, पाठ्यक्रम-स्तरों, परीक्षाओं के कृत्रिम अवरोधक समाप्त कर दिये जाएँ तथा पुन: शिक्षा (Recurrent Education) के विचार को क्रियात्मक स्वरूप प्रदान किये जायें।

• पूर्व प्राथमिक शिक्षा तथा प्रौढ़ शिक्षा पर विशेष रूप से अधिक बल दिया जाये।

• शिक्षा की आधुनिक तकनीकी (Modern Technology of Education) का शिक्षा प्रदान करने में अधिकाधिक प्रयोग किया जाये।

• सीखने वाले को सीखने के कर्म में अभिप्रेरित (Motivate) किया जाये।

• शिक्षा में आवश्यक सुधार, परिवर्तन व आधुनिकीकरण किया जाये ताकि शिक्षा राष्ट्र-विशेष की दार्शनिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक माँगों को पूरा करने में समर्थ सिद्ध हो सके।

• अन्तर्विषयों, शिक्षण व शोधकार्य पर बल दिया जाये।

भविष्य की शिक्षा, इवान इलिच, एवरेट रेमर तथा फ्रेयर पाओलो के विचारों के अनुसार गतिशील, सामाजिक, असमानताओं और अन्यायों से मुक्ति दिलवाने वाली तथा अपरम्परागत होनी चाहिए। उसे राष्ट्र-विशेष की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक विकास की अवस्थाओं व आवश्यकताओं के अनुसार सशक्त व समर्थ होना चाहिए। ऐसा तभी सम्भव है जबकि शिक्षाशास्त्री सामाजिक व राजनैतिक नेता, अधिकारी तथा शिक्षक सभी समाज व शिक्षा के भविष्य के बारे में खुले दिमाग से सृजनात्मक चिंतन करें व व्यावहारिक कार्य करें।

भारत में भविष्य की शिक्षा (Education for Future in India)

भारत में भविष्यशास्त्र तथा भावी शिक्षा के स्वरूप के विषय में आजकल बहुत कुछ सुनने में आ रहा है। मद्रास विश्वविद्यालय के उपकुलपति डॉ. आदिशेषैया, डॉ. सेठ व अन्य कुछ विद्वानों, जैसे-जे.सी. कपूर आदि ने इस संबंध में कुछ लेख लिखे हैं। शिक्षाशास्त्री भी टॉयफर, रेमर, इलिच, पाओलो तथा यूनेस्को की कृतियों से प्रभावित हो रहे हैं।

किस प्रकार शिक्षा को भविष्य की माँगों के अनुसार उपयोगी बनाया जाये। यह स्पष्टतया समझा जाना चाहिए कि भारत को विदेशों

की नकल मात्र न तो करनी चाहिए और न ही यह पूर्णतया संभव ही है। भारतीय संस्कृति, सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक परिस्थितियों तथा संविधान के नव-परिवर्तनों के अनुसार ही शिक्षा का भावी स्वरूप होना चाहिए।

हमारे इस प्रकार के प्रयासों में धनाभाव, शिक्षकों व प्रशासकों की बेरुखी तथा अंधानुकरण की प्रवृत्ति बाधक सिद्ध हो सकती है। हमारी जड़वत् बनी हुई विद्यालय-व्यवस्था व हमारे शिक्षकों की लापरवाही, सामाजिक असंवेदनशीलता, परिवर्तन से भय खाने की प्रवृत्ति तथा आधुनिक नियमों, तकनीकों, विधियों तथा विचारों को ग्रहण करने में हिचकिचाहट भी बाधक सिद्ध होगी। इसलिए हमें बहुत जागरूक रहना होगा और बदलते समय के साथ अपने को भी बदलना होगा तभी हम भविष्य के लिए अपने को तैयार कर सकेंगे।

संदर्भ ग्रंथ-सूची

1. ब्रुबेकर, जॉन एस. (1969) मार्डन फिलासॉफीज ऑफ एजुकेशन, नई दिल्ली : टाटा मैकग्राहिल पब्लिशिंग कम्पनी (फोर्थ एडीशन)।
2. बटलर, जे. डोनाल्ड (1968) फोर फिलासॉफीज एण्ड देअर प्रैक्टिस इन एजुकेशन एण्ड रिलिजन, न्यूयॉर्क : हार्पर एण्ड रो, 1968।
3. चतुर्वेदी सीताराम, (1970) शिक्षा दर्शन, लखनऊ, हिंदी समिति सूचना विभाग।
4. डीवी., जॉन (1961) डेमोक्रेसी एण्ड एजुकेशन, न्यूयार्क मैकमिलन।
5. कबीर, हूमायूँ (1962) इन्डियन फिलासॉफी ऑफ एजुकेशन मुम्बई, एशिया पब्लिशिंग हाउस।
6. ओड, एल.के. (1983) शिक्षा की दार्शनिक पृष्ठ-भूमि, जयपुर, राजस्थान, द हिंदी ग्रंथ अकादमी।
7. प्रेमनाथ, 1969 शिक्षा के सिद्धांत, इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन।
8. ओकोनर, डी.जे. 1987 इन्ट्रोडक्शन टू फिलासॉफीज ऑफ एजुकेशन, लंदन रूटलैज एण्ड कीगनपॉल।
9. रास, जे.एस., (1988) ग्राउंड वर्क ऑफ एजुकेशन थिओरी, लंदन, जार्ज हार्पर एण्ड रूटलैज एण्ड कीगनपॉल।
10. रस्क, आर.आर. (1972) शिक्षा के दार्शनिक आधार, जयपुर, हिंदी ग्रंथ अकादमी।
11. सैयदेन, के.जी. (1966) द ह्यूमैनिस्ट ट्रेडीशन इन इंडियन एजुकेशन थॉट,

मुम्बई, एशिया पब्लिशिंग हाऊस।

12. शर्मा, डी.एस., (1961) द उपनिषद्, एन एन्थोलाजी, मुम्बई, भारतीय विद्या भवन।
13. स्मिथ, फिलिप, जी. (1965) फिलासॉफी ऑफ एजुकेशन, न्यूयार्क, हार्पर एण्ड रो।
14. वर्मा, एम., (1969) द फिलासॉफी ऑफ इंडियन एजुकेशन, मेरठ, मीनाक्षी प्रकाशन।
15. कुन्डू, सी.एल., (1991) नॉन फॉरमल एजुकेशन, नई दिल्ली, स्टरलिंग, पब्लिकेशन।
16. सिंह, आर.पी. एण्ड शुक्ला, (1986) एन. नान नॉन फॉरमल एजुकेशन, नई दिल्ली, एन.सी.ई.आर.टी.।
17. पुरकेल, वी.आर. (1987) न्यू एजुकेशन इन इंडिया, अम्बाला, एसोसियेट्स पब्लिकेशन।
18. सरकार, भारत, (1966) रिपोर्ट ऑफ द इंडियन एजुकेशन कमीशन नई दिल्ली।
19. प्रोसीडिंग ऑफ द एक्सपर्ट ग्रुप कमेटी आन पॉपुलेशन, रिसोर्सज, इन्वायरमेंट एण्ड डेबलमेंट, जेनेवा 25-29 अप्रैल, 1983।
20. वैजेय, जे., (1990) द इकनामिक्स ऑफ एजुकेशन, एशिया पब्लिशिंग हाऊस, मुम्बई।
21. कुर्ले, एडम, एजुकेशन स्टेट जी फॉर डेवलपिंग सोसाइटिज, टाविस्टोक पब्लिकेशन।
22. अरोड़ा, जे.एन., (1992) आधुनिक भारतीय शिक्षा और उसकी समस्याएँ लुधियाना, प्रकाश ब्रदर्स।
23. पाठक, पी.डी., (1990) भारतीय शिक्षा और उसकी समस्याएँ, आगरा, विनोद पुस्तक मंदिर।
24. भटनागर, सुरेश (1991) आधुनिक भारतीय शिक्षा और उसकी समस्याएँ, मेरठ, लायल बुक डिपो।
25. यादव, एच.एस. तथा अन्य (1995) आधुनिक भारतीया शिक्षा प्रणाली की संरचना एवं उसकी समस्याएँ, लुधियाना, टण्डन प्रकाशन।
26. सफाया, रघुनाथ (1986) भारतीय शिक्षा की वर्तमान समस्याएँ, दिल्ली, धनपत राय एण्ड संस।
27. मेहता, टी.एस. तथा अन्य (1988) रीडिंग्स इन पॉपुलेशन एजुकेशन, नई दिल्ली, एन.सी.ई.आर.टी.।
28. राव, डी. गोपाल (1997) पॉपुलेशन एजुकेशन गाइड टु करीकुलम एण्ड टीचर एजुकेशन, नई दिल्ली, स्टरलिंग पब्लिशर्स, (1997)।
29. लाल, रमन बिहारी (1989) शिक्षा सिद्धांत, मेरठ, आर.लाल बुक डिपो।

30. माथुर, एस.एस. (1987) शिक्षा सिद्धांत।
31. जीत, भाई योगेन्द्र (1990) शिक्षा सिद्धांत की रूपरेखा, आगरा, विनोद पुस्तक मंदिर।
32. मशरूवाला (1991) शिक्षा का विकास।
33. मशरूवाला (1991) शिक्षा का विवेक।
34. तनेजा वी.आर. (1989) एजुकेशन थॉट एण्ड प्रेक्टिस।
35. भारत सरकार, प्रतिवेदन, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, नई दिल्ली, (1986)
36. आलपोर्ट, जी.डब्ल्यू, वरनन, पी.ई. एण्ड लिंडजे जी मिफलिन (1960), ए स्टडी ऑफ वैल्यूज वोस्टन, ह्यूटन।
37. करेइकल, जे.आर. (1977), हाउ टू टीच वैल्यूज एन एनालिटीकल एप्रोच, नई दिल्ली, प्रेंटिस हाल, एंग्लेवुड।
38. गाजडा, जी.एम. एट आल (1977), ह्यूमन रिलेशंस डेवलपमेंट, एक मैनउल फॉर एजूकेटर्स, बोस्टन, आलईन एण्ड बैकन इनक।
39. मानव संसाधन विकास मंत्रालय, राष्ट्रीय शिक्षा नीति, एम.एच.आर.डी., नई दिल्ली, भारत सरकार, (1986)
40. मुजिव, एम (1986) एजुकेशन एंड ट्रेडिशनल वैल्यूज, मेरठ, मीनाक्षी प्रकाशन।
41. पॉल फ्रेरे (1921) पेडॉगॉजी आफ द ऑप्रेस्ड', लन्दन: शीड एंड वार्ड (1921)
42. क्लेग तथा बारबारा मेग्सन (1973) 'चिल्ड्रन अंडर डिस्ट्रेस' मिडिल सेक्स, पेंगुइन बुक्स।
43. खांडेकर मन्दाकिनी (1976) द डिसएडवांटेज्ड प्रि-स्कालर्स एन ग्रेटर बाम्बे, मुम्बई सोमाया पब्लिकेशंस प्रा. लि., 1976
44. रूहेला, सत्यपाल (1972) भारतीय शिक्षा का समाज शास्त्र, जयपुर, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, (1972)
45. फौरे एडगर एट आल (1973) 'लर्निंग टु वी' द वल्ड ऑफ एजुकेशन टुडे एण्ड टुमारो, पेरिस यूनिस्को, नई दिल्ली स्टरलिंग पब्लिशर्स।
46. इलिच, इवांन (1971) 'डि स्कूली सोसाइटी' नारमोड्सवर्थ पेंगुइन बुक।
47. टाफलर आलविन (1974) लर्निंग फॉर टुमारो' द रोल ऑफ फ्यूचर इन एजुकेशन न्यूयॉर्क, विन्टेज बुक, रैन्डम हाउस।
48. वेपा, रामकर ए थिंक टैंक फॉर द 'फ्यूचर' संडे वर्ल्ड हिंदुस्तान टाइम्स, मार्च 12, (1972)।
49. पॉल फ्रेरे (1925) एजुकेशन फॉर लिबराइजेशन। लन्दन शीड एण्ड वार्ड
50. पाठक आर.पी. एवं भारद्वाज अमिता पाण्डेय (2011) उदयीमान भारतीय समाज में शिक्षा नई दिल्ली, कनिष्क प्रकाशन।